



महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'

समर शेष है...

सम्पादक
प्रांजल धर
कुमार अनुपम

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

संपादक
प्रांजल धर
कुमार अनुपम



20 वर्षों से कविता, कला एवं संस्कृति के प्रति समर्पित

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'

समर शेष है...

(समालोचना और संस्मरण)

संपादक

प्रांजल धर

कुमार अनुपम

आवरण

महेश्वर

सहयोग राशि : चार सौ रुपये मात्र



20 वर्षों से चहलिय, कला एवं संस्कृति के प्रति समर्पित

© राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

प्रकाशक

नीरज कुमार

अध्यक्ष, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

एम-3, प्रथम तल, मुखर्जी टॉवर, डॉ. मुखर्जी नगर

दिल्ली - 110009

दूरभाष : 011-47027661, 65029239

ईमेल : dinkarsmriti@yahoo.co.in

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर-मण्डल का

मेरा शिखण्ड अरुणाभ किरीट अनल का।

हो उठा दीप्त धरती का कोना कोना

जिसको मैंने छू दिया हुआ वह सोना।

मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा

जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

संपादकीय

दिनकर की लेखनी गहन भावनाओं की प्रवहमान धारा है। उसमें अगर उल्लास मौजूद है, तो यथार्थबोध की पीड़ा भी है। अगर हर्ष का प्रकाश है, तो विषाद का धुँधलका भी है। दृढ़-निश्चय का स्वच्छ आकाश है, तो द्वंद्व का कुहासा भी। गर्जन है, तो वेदना की लकीरें भी। व्यवस्था के प्रति क्षोभ है, तो एक बेहतर विश्व की आशा भी। सौभाग्य की मंजूषा है; तो अपनों के कष्टों का दुर्भाग्य भी, मसीबतों का अम्बार भी, क्षुब्धता का पारावार भी और मौन का हाहाकार भी। शायद इसीलिए बहुरंगी विचारों के धनी दिनकर के बगीचे में सभी रंगों के फूल खिलते हैं। उनके व्यक्तित्व का व्यापक धरातल और मस्तिष्क की उर्वर खाद ही वह आधार है, जहाँ से ये फूल खुशबू और रंगत बटोरकर दुनिया को खूबसूरत बनाते हैं, उसमें ताजगी भरते हैं।

यह दिनकर हैं जिन्हें हालात ने वेदनाओं से नहलाया है, आँसुओं से धोया है और काँटों से पिरोया है: 'जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ; किसी का हाथ, खोया प्यार हूँ मैं।' दिनकर की रचनाओं में संवेदनाओं के दर्शन बड़ी आसानी से किए जा सकते हैं- 'प्रणभंग' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक। उनमें वेदना की अनुभूति कर पाने की सामर्थ्य है। शायद इसीलिए उनका हृदय व्योम-सा है क्योंकि वे जानते हैं :

हृदय छोटा हो,

तो शोक वहाँ नहीं समाएगा।

और दर्द दस्तक दिए बिना लौट जाएगा।

हृदय की यह विशालता उन्हें राष्ट्रकवि ही नहीं; महान गद्यकार, चिंतक, संस्कृति-विद्वान और सबसे बढ़कर एक उम्दा इंसान बनाती है। ऐसा इंसान जिसे आम जन-जीवन की चिंता है; देश, समाज, संस्कृति और विश्व की चिंता है। युद्ध जैसी वैश्विक समस्या को लेकर लिखी गई उनकी कृति 'कुरुक्षेत्र' क्या यह साबित नहीं करती कि युद्ध में चाहे जो पक्ष जीते, हार तो मानवता को ही झेलनी पड़ती है? मानवता की रक्षा के लिए लेखनी उठाना क्या एक महान रचनात्मक कर्म नहीं? मानवता को हार से बचाने के लिए जब दिनकर अतीत की खिड़कियाँ खोलकर बाहर झाँकते हैं और परदों

की धूल झाड़ते हैं तो यह क्या! वहाँ भी वही बेबसी! विनाश! चीत्कार! धधकता अंबर! दूर तक चीखता सन्नाटा : 'वह कौन रोता है वहाँ- इतिहास के अध्याय पर!'

राष्ट्रीय भावना का उद्घोष करने वाले दिनकर चिरयुवा हैं, उनके काव्य में अपार ऊर्जा और प्रेरणा के ओजस्वी स्वर हैं। वे लिखते हैं कि व्यास ने भीष्म का जो चरित्र अंकित किया है, वह अत्यंत उच्चकोटि का है। आश्चर्य है कि उतना बड़ा मनुष्य दुर्योधन के अत्याचारों को चुपचाप सहता रहा। महाभारत में भीष्म के मुख से कहलाया गया है कि वे चुप्पी इसलिए साधे हुए थे कि उन्होंने दुर्योधन का नमक खाया था। दिनकर मानते हैं कि वास्तविक कारण यह था कि वे वृद्ध हो गए थे और कोई भी क्रांतिकारी निर्णय वृद्ध मनुष्य नहीं ले सकता। इन बातों से युवावस्था में, ऊर्जा में और कर्मठता में दिनकर की गहरी आस्था प्रकट होती है। उद्यमिता में अटूट विश्वास प्रकट होता है: 'प्रकृति नहीं डरकर झुकती है, कभी भाग्य के बल से; सदा हारती वह मनुष्य के उद्यम से, श्रमबल से।'

दृष्टि सभी में होती है, अंतर्दृष्टि विरलों में। सवाल है कि बाह्य जगत को देखने वाली आँखें क्या कभी मन के दरवाजे पर दस्तक दे पाती हैं? भीतर के आलोक और अंधकार को महसूस कर पाती हैं? 'उर्वशी' दिनकर की काव्य-प्रतिभा की ऐसी ही फल-सिद्धि है जो उनके मन में पहले से ही 'कहीं पड़ी हुई' थी। 'उर्वशी' वास्तव में ऐन्द्रिकता के सहारे अतीन्द्रिय जगत के संस्पर्श का सफल प्रयास है; काम, अध्यात्म और प्रेम का साहित्यिक चित्रांकन है। मानव-मन की सहज भावनाओं को समेटने वाली उर्वशी को छोड़ना जितना सरल है, छोड़ना उतना ही कठिन। अपनी इस प्रकृति में राग के अतुल्य उद्गाता दिनकर ने एक सहज मानवीय कथ्य को सरल किंतु सशक्त शिल्प में ऐसा आकार दिया है कि हृदय के तार झंकृत हुए बिना रह ही नहीं सकते :

और वक्ष के कुसुम-कुंज, सुरभित विश्राम-भवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।

प्रेम क्या है? क्या कोई शर्त, कोई आकांक्षा, कोई संतुष्टि, कोई तर्क, कोई भावना, किसी इच्छा की पूर्ति, कोई कामना या फिर वासना? प्रेम के आयामों का क्षितिज कितना विस्तार ग्रहण कर सकता है? क्या पुरुरवा का भौतिक प्रेम उसे आध्यात्मिक जगत् में नहीं पहुँचाता? उसमें काम का कौन-सा रूप विद्यमान था जिसने उसे ईश्वर की ओर उन्मुख किया? काम, जिसका अर्थ आज के भूमंडलीकृत विश्व में 'सेक्स' तक ही सिमटकर रह गया है, की प्रेम में क्या भूमिका है? क्या 'सेक्स' जैसा शब्द काम के उचित महत्व को समग्रता में रूपायित कर पाता है? और फिर काम, प्रेम के मार्ग में साधक है या बाधक? या इन दोनों से परे, पलायनवाद का आराधक? 'उर्वशी' में ऐसे कितने ही सवाल हैं जो अनुत्तरित मौन के दायरे में भयंकर तूफान खड़ा करते हैं। दिनकर लिखते हैं कि 'उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरुरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।

8

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

पुरुरवा द्वंद्व में है, क्योंकि द्वंद्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी। नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती, और जब वे मिल जाते हैं, तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

कवि और कविता का अपने समय के सभी सरोकारों से गहरा रिश्ता होता है। कवि की दृष्टि बहुत सूक्ष्म होती है। दिनकर के शब्दों में कवि सामाजिक जीव होता है। इसीलिए समर्थ रचनाकार सृजन की प्रक्रिया के दौरान काल के विशाल खण्डों में व्याप्त सार्थक चरित्रों को उठाता है। ऐसा करते हुए वह संकुचित दुनिया और सीमित बुद्धि जैसे अनेक कारकों के खिलाफ विद्रोह का झण्डा बुलंद करता है जो कला की दुनिया को परंपराओं और रूढ़ियों में कैद किए रखना चाहते हैं। 'रश्मि' कर्ण के चरित्र के उद्धार के लिए दिनकर द्वारा किया गया एक ऐसा ही महान प्रयास है, जहाँ सामाजिक विसंगतियाँ भलीभाँति रेखांकित कर ली गई हैं। दानवीर कर्ण का चरित्र निखरकर हमारे सामने पूरे औदात्य के साथ आता है : 'मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब इसे तोल सकता है धन?' दिनकर की ऐसी अनेक कविताएँ हैं जो काव्य की सोददेश्यता की अनुपम व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं, कला के मानवीय प्रयोजन को रेखांकित करती हैं और साहित्य की सार्थकता को सिद्ध करती हैं।

किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व की व्यंजना उसकी कृतियों से होती है। दिनकर की, गद्य और पद्य मिलाकर, कुल तकरीबन साठ कृतियाँ हैं। इसके अलावा 'दिनकर की डायरी' भी दिनकर को समझने में काफी मदद करती है। उनकी डायरी इन्द्रधनुषी भावजगत के विविध आयामों से हमारा साक्षात्कार कराती है। पत्रों और डायरियों में दिनकर ने लिखा है कि 'जो पद हमें नहीं मिला है, अपने को उसके योग्य सिद्ध करना आसान है; किंतु जिस पद पर हम हैं, उसकी योग्यता सिद्ध करना बड़ा कठिन काम है। ...छलपूर्ण प्रशंसा से उपयोगी आलोचना श्रेष्ठ है, मगर कम ही लेखक उसे पसन्द करते हैं। ...महापुरुषों की कीर्ति उन साधनों से नापी जानी चाहिए, जिनका प्रयोग कीर्ति पाने के लिए किया गया हो। ...जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, आदमी के ज्ञान के साथ उसकी मूर्खता में भी वृद्धि होती है। ...विरह छोटे प्रेम को संकीर्ण और बड़े प्रेम को विस्तृत बनाता है। तूफान दीये को बुझा देता है किंतु होली की आग को खूब भड़काता है।' दिनकर की लेखनी में ऐसी अनेक बातें हैं, जो साहित्यकारों समेत सभी के लिए उपयोगी और प्रासंगिक हैं। आगे भी रहेंगी।

'जनतंत्र का जन्म' में 'सिंहासन खाली करो, कि जनता आती है...' लिखकर कवि ने यही साबित किया है कि राजनीति और प्रशासन को जनता के हित के लिए काम करना चाहिए क्योंकि जनता, सचमुच ही बड़ी वेदना सहती है। फावड़े और हल को

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

9

राजदंड बनाने का दिनकर का स्वप्न क्या हमें एक शांतिपूर्ण समाज-रचना की ओर अग्रसर नहीं करता! सिमरिया में जन्मे दिनकर को खेतों-खलिहानों और मजदूरों-किसानों से बहुत प्रेम रहा है। जिस तरह सामरसेट माम को भारत में और कुछ चाहे दिखा हो या न दिखा हो, यहाँ के किसान उन्हें जरूर दिखे थे; उसी तरह दिनकर की दृष्टि भी कोमल संवेदनाओं से युक्त है। शायद इसीलिए पक्षियों और बादलों को भगवान के डाकिये मानने वाले दिनकर ने वैभव की दीवानी दिल्ली को कृषक-मेध की रानी कहा है।

दिनकर के पास सुस्पष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का एक मजबूत हथौड़ा है, जिससे वे अतीत की चट्टान तोड़कर वर्तमान की वेगवान धारा निकालते हैं। समकालीन समस्याओं के निदान और मानवता के संकटों को सुलझाने के लिए उन्होंने कई बार इतिहास का सहारा लिया है। लेकिन उनका उद्देश्य क्या इतिहास को दुहराना भर ही था? नहीं। उन्होंने अनेक स्थलों पर लिखा भी है कि उनके लक्ष्य उच्चतर रहे हैं। आखिर वर्तमान की उत्पत्ति अतीत के गर्भ से ही होती है! अतीत के दुर्भेद्य किले की ऊँची-ऊँची चारदीवारी लाँचकर ही समकालीनता की एक विधायक समझ बनायी जा सकती है। कच्ची पगडंडियों और पथरीली राहों पर चलने वाले साहसी पथिकों की यात्राएँ दुर्गम, बीहड़ और पीड़ादायी तो होती हैं, लेकिन बिना प्रसव-पीड़ा के कोई जन्म भी तो नहीं होता! 'उर्वशी' के लिए दिनकर ने यह पीड़ा लगातार आठ वर्षों तक झेली थी।

क्या कोई रचनाकार न्याय और अन्याय, सृजन और विनाश या स्वार्थ और परमार्थ जैसी विरोधी स्थितियों के बीच उदासीन बना रह सकता है? तटस्थ बना रह सकता है? तटस्थ रहने में सुरक्षा तो मिल सकती है; दायित्व-निर्वहन का तोष नहीं मिल सकता, समरभूमि में शहीद होने का आनंद नहीं मिल सकता। दिनकर ने तटस्थता को कोई मूल्य नहीं माना है। वे तटस्थता के बहेलिये हैं। उन्होंने लिखा है :

*समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।*

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास ने इस पुस्तक के संपादन का दायित्व हमें सौंपा, जिसे निभाने की हमने भरसक कोशिश की है। फिर भी हम मानते हैं कि गलतियाँ रह गई होंगी क्योंकि संपादक की शक्तियाँ बहुत कम, सीमाएँ बहुत ज्यादा होती हैं।

दो दशक पूर्व राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का विधिवत् गठन किया गया था। अपने गठन से लेकर आज तक न्यास दिनकर के सपनों को साकार कर सबल, आत्मनिर्भर और समृद्ध भारत के निर्माण में अपना योगदान दे रहा है। यह देश की एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु राष्ट्र की मुख्यधारा से कदम से कदम मिलाकर अपनी दुर्गम यात्रा सफलतापूर्वक तय कर रहा है। इस चुनौतीपूर्ण यात्रा में न्यास को समस्त देशवासियों और समाज के हर तबके का भरपूर सहयोग मिला

है और हम आशा करते हैं कि यह मूल्यवान सहयोग आगे भी इसी प्रकार मिलता रहेगा।

न्यास देश में पुस्तक संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए कटिबद्ध है और इसी सिलसिले में वह गया पुस्तक मेले का आयोजन कर रहा है। न्यास देश के विभिन्न कोनों में अनेक राष्ट्रीय महोत्सवों का भव्य आयोजन सफलतापूर्वक संपन्न करा चुका है। विशेष बात यह है कि इन महोत्सवों के नाम पुस्तकों के शीर्षकों पर आधारित रहे हैं ताकि देश में पढ़ने के प्रति गहन परिचय और प्रेम जागृत हो तथा पाठकों को नित नवीन संस्कार ग्रहण करने के सुअवसर मिलें। गीतांजलि महोत्सव, रवीन्द्र सद्भावना महोत्सव और रवीन्द्र सांस्कृतिक महोत्सव न्यास द्वारा आयोजित ऐसे राष्ट्रीय महोत्सवों के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इन महोत्सवों में देश-दुनिया के अनेक प्रख्यात साहित्यकारों, संगीतकारों, लेखकों, कवियों, रंगकर्मियों और शब्दप्रेमियों ने सक्रियता से भागीदारी की है। न्यास विश्वकवि टैगोर के दर्शन को भी प्रचारित-प्रसारित करने में संलग्न है।

वास्तव में इस पुस्तक का प्रकाशन न्यास के इन्हीं साहित्यिक-सांस्कृतिक अभियानों की शृंखला की एक कड़ी है, ऐसे अभियानों की, जो आगे भी और मजबूती से जारी रहेंगे।

इस पुस्तक के संपादन में जिन मित्रों ने सहयोग किया है, हम उन सबके आभारी हैं। खासतौर से आशुतोष शुक्ल, अमिय बिन्दु गुप्ता और राहुल धर द्विवेदी के प्रति हम अपना विशेष आभार प्रकट करते हैं।

प्रांजल धर
कुमार अनुपम

19 फरवरी, 2012

अनुक्रम

संपादकीय		7
उल्लसित सहज मुख दिनकर	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	17
ज्योतिर्धर कवि मैं		
ज्वलित सौरमण्डल का : दिनकर	विजयेन्द्र स्नातक	21
समय के सहगामी दिनकर	कुमार विमल	25
दिनकर : व्यापक सामाजिक चेतना के कवि	मैनेजर पाण्डेय	27
विभा-पुत्र दिनकर	जगदीश त्रिगुणायत	40
वो कवि यही थे	विजय बहादुर सिंह	52
दिनकर का संस्कृति-विमर्श	परमानंद श्रीवास्तव	56
दिनकर-काव्य का		
एक अलक्षित स्वर : व्यंग्य	नन्दकिशोर नवल	68
दिनकर : बहुआयामी कवि	प्रभाकर श्रोत्रिय	74
सृजनकर्म में औपनिवेशिक		
दासता से मुक्ति की ध्वनि	कृष्णदत्त पालीवाल	83
नये भारत की वाणी :		
रामधारी सिंह 'दिनकर'	लीलाधर जगूड़ी	104
धर्म और विज्ञान के समन्वयक चिंतक-कवि	अवधेश प्रधान	109
दिनकर के पूर्ववर्ती काव्य (1929-1947) में		
राष्ट्रीयता की अनुगूँज	सत्यकाम	116
संस्कृति के		
साहित्य-केन्द्रित अध्ययन की सीमाएँ	ए० अरविदाक्षन	132
भूमंडलीकरण का युग, दिनकर और		
राष्ट्रीय चेतना	हेमन्त जोशी	136
कविता का सामाजिक संदर्भ		
और राजनीतिक पक्षधरता का सवाल	देवेन्द्र चौबे	139

तटस्थता के बहेलिये : दिनकर	उमराव सिंह चौधरी	146	कर्ण-चरित उद्धार : रश्मिथी	धनंजय कुमार	308
उर्वशी : सवालों का संकट	प्रमीला के.पी.	155	दिनकर का काव्येतर साहित्य	पुष्पारानी गर्ग	313
जागरण गान है मेरा!	दीपक प्रकाश त्यागी	167	एक युगान्तकारी रचना : कुरुक्षेत्र	विद्या रानी	320
वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल	आशुतोष शुक्ल	181	लोकतंत्र के लोककवि दिनकर	राजेन्द्र वर्मा	324
मैं दिनकर को हजारीबाग से जानता हूँ	मन्मथनाथ गुप्त	189	आत्माभिव्यक्ति की आकुलता	परमानंद राय	330
कहाँ फँसे हम सब...	बनारसीदास चतुर्वेदी	193	सरल व बोधगम्य अभिव्यक्ति का मार्ग	सुशील कुमार	337
समर के बीच कहाँ विश्राम	रामवृक्ष बेनीपुरी	198	शांति व मानवता के पुजारी दिनकर	पी. के. चतुर्वेदी	344
पुराने और नए के सेतु सदृश	अज्ञेय	204	दिनकर की काव्य-चेतना	राहुल	348
अस्तंगत का उदय	भवानीप्रसाद मिश्र	205	दलित और दिनकर	डी. आर. ब्रह्मचारी	356
जिंदगी की किताब खाली			'संस्कृति के चार अध्याय' में कविता के स्वर पंकज सुबीर		364
की खाली रह जाती है	प्रभाकर माचवे	209	तो आप ही क्यों नहीं लिख देते हो	सुधा	372
चार ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलते			जन-सामान्य के हृदय की धड़कन	जिनारानी दत्ता भुयॉ	374
तो उनका उचित सम्मान होता	हरिवंश राय बच्चन	212	उर्वशी : अतीन्द्रिय जगत का संस्पर्श	मुदुल जोशी	379
ऊर्मिकाव्यात्मकता	उमाशंकर जोशी	214	रति उर्वशी की, राग पुरुरवा का	रामशंकर त्रिपाठी	388
दिनकर : अंत मता सो गता	सेठ गोविन्ददास	216	राष्ट्रीय, दलित एवं ग्रामीण चेतना के		
एक अगर लाइट हो			अनूठे कवि	जयपाल सिंह	398
तो तीन पेट्रोमेक्स ही सही	जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी	219	रश्मिथी : एक पुनर्पाठ	शिरीष कुमार मौर्य	405
मेरे गुरु	बच्चू प्रसाद सिंह	225	भारतीय संस्कृति-सरिता का प्रवाह	अमिय बिन्दु गुप्ता	412
हिन्दी के प्रबल समर्थक दिनकर	अशोकजी	232	संघर्ष के कवि दिनकर	रेखा श्रीवास्तव	421
दिनकर ने लाल स्याही वाले पेन			आत्मीय दिनकर	अरविन्द कुमार सिंह	423
से निशान लगाए थे	पद्मा सचदेव	239	दिनकर	छोटे नारायण शर्मा	428
दिनकर की प्रासंगिकता	शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी	243	हमारे दिनकर चाचा	महेन्द्र कुमार बेनीपुरी	431
हिन्दी का क्रान्तिदर्शी कवि	सुरेन्द्र दुबे	247			
'शुद्ध कविता की खोज' और दिनकर	सत्यपाल शर्मा	252			
रचना-आलोचना के प्रश्न और दिनकर	अनिल राय	262			
मत झुको अनय पर	चन्द्रेश्वर	282			
कुरुक्षेत्र का युद्ध-दर्शन	प्रमोद कुमार सिंह	286			
दिनकर के काव्य में					
व्यवस्था विरोधी स्वर	पूनम सिंह	293			
दहकते अंगारों का कोमल स्वप्न :					
दिनकर की कविता	रतन कुमार पाण्डेय	301			

उल्लसित सहज मुख दिनकर

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

दिनकर जी अब नहीं रहे। विश्वास करने को जी नहीं चाहता, पर यही सत्य है। वे सही अर्थों में दिनकर थे- तेजःपुंज! लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। तब से उनकी मैत्री पाने का सौभाग्य रहा है। यह मैत्री निरन्तर प्रगाढ़ होती गई। उनके समान तेजस्वी क्वचित् कदाचित् ही धरती पर आते हैं। वे जितने उच्च कोटि के कवि थे उतने ही बड़े विचारक और वाग्मी भी। गद्य और पद्य दोनों के वे सव्यसाची थे। भगवान् ने उन्हें जैसी वाणी की सम्पत्ति दी थी वैसा ही चारुदर्शन भव्य रूप दिया था। वह ओजस्वी वाणी और भव्य रूप, इस नश्वर जगत् से हमेशा के लिए चला गया।

इतना सहज प्रेममय उनका हृदय था कि कभी-कभी उनकी सरलता पर आश्चर्य होता था पर अन्याय देखकर वे दीपशिखा के समान जल उठते थे। हिन्दी के विरुद्ध षडयन्त्रों से वे सचमुच जल उठते थे। मुझे याद है कि एक बार भाषा आयोग में एक श्रद्धेय विद्वान् की अनुचित बातों का विरोध करने के लिए कितने प्रदीप्त हो उठे थे। विरोध मैंने भी किया था पर दिनकर तो एकदम अग्निशिखा हो उठे थे। लेकिन उसके पहले भी और बाद में भी वे श्रद्धेय को श्रद्धा देने में रंचमात्र नहीं झिझके थे। सच तो यह है कि उन्हें बाद में अपनी कही बातों के लिए पश्चाताप भी हुआ था। उनका हृदय 'मृदु प्रकृत्या चलसारमेव च' का प्रत्यक्ष रूप था। कभी आवेग में आकर वे कड़ा बोल जाते थे तो बाद में दुखी भी होते थे। एक प्रसंग में वे बाद में इतने खिन्न हुए कि अपनी डायरी में लिखा था -

'हे नेदिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे दविष्ठ, तुमको प्रणाम है, हे क्षोदिष्ठ तुमको प्रणाम है। हे महिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे वर्षिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे

जोविष्ट, तुमको प्रणाम है। कल सुबह जो दुर्वचन मुख से निकला, उसका परिताप आज सारा दिन जलाता रहा। मरने के करीब आ गया हूँ किन्तु वाणी का संयम अब भी अधूरा है। क्यों ऐसी बात बोलना, जिसके लिए अपने आपको इतना अधिक दण्ड देना पड़े?’

दिनकर ब्रिटिश शासनकाल में सरकारी नौकर थे। परन्तु नौकरी उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति में कभी बाधक नहीं बनीं। वे उस समय भी अन्याय के विरुद्ध बोलने की शक्ति रखते थे और बाद में स्वाधीनता के समय भी सरकारी नौकरी करते समय हमेशा उन बातों का डटकर विरोध करते थे जिन्हें अनुचित समझते थे। उनकी एक धारणा बन गई थी कि ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ लिखकर वे सरकार के कोपभाजन बने थे। इस धारणा के बारे में मैं कुछ कह नहीं सकता परन्तु मैंने स्वयं देखा है कि एक शक्तिशाली की हिंदी-विरोधी नीति का कड़ा विरोध उन्होंने किया था जिसकी शिकायत पंडित जी तक पहुँचाई गई थी। हिन्दी के प्रश्न पर वे सदा दृढ़ रहे पर उनके तर्क सदा कटुता से दूर और यथार्थवादी होते थे। वे अहिंदी भाषी जनता में भी बहुत लोकप्रिय थे क्योंकि उनका हिंदी प्रेम दूसरों की अपनी मातृभाषा के प्रति श्रद्धा और प्रेम का विरोधी नहीं था, बल्कि प्रेरक था।

यहाँ हिंदी के बारे में जो कहा गया, उससे यही नहीं समझना चाहिए कि वे केवल हिन्दी के प्रति किए गए अन्यायों के विरोध में ही अपनी शक्ति लगा देते थे। उनका विरोध उन सब नीतियों से था जो उन्हें अनुचित लगती थीं। कभी-कभी मुझे उनकी मान्यताओं का विरोध करने का अवसर भी मिला था- व्यक्तिगत रूप से। परन्तु मैंने सदा पाया कि उनका मत तर्कपूर्ण सुचिन्तित होता था। उनके मत से सहमत न होने वाला भी उनके विचारों की सच्चाई से प्रभावित होता था।

अवस्था में वे मुझसे थोड़े ही छोटे थे, पर आदर सदा बड़े भाई का देते थे। उनका हृदय बहुत शिष्ट और उदार था। कर्तव्यवश कड़ी बात कह जाते थे पर सदा कटुता धो देने को तत्पर रहते थे। भाषा आयोग में एक-बार मुझे लगा कि वे सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं। यद्यपि मुझे वे सम्मान देते थे और हमारे सम्बन्ध इतने मीठे थे कि किसी बात पर उन्हें कुछ कह सकने की मुझे पूरी स्वतंत्रता थी। पर मेरे मन में उनके प्रति बहुत सम्मान का भाव था इसलिए कुछ कहने के पूर्व में कई प्रकार से बात को हल्की बना देने की तैयारी कर लेता

था। इंगित अवश्य समझ लेते हैं, ऐसा मेरा विश्वास था। उस दिन शाम को मैं उनसे कहना चाहता था कि वे कुछ अनुचित कह गए हैं। कैसे कहूँ यही सोच रहा था। वे जब मिले तो बहुत प्रसन्न थे। मुझसे आते ही पूछा क्या सोच रहे हैं। मैंने कहा - ‘हिसाब लगा रहा हूँ।’ प्रसन्न भाव से उन्होंने पूछा, ‘काहे का हिसाब?’ मैंने कहा कि ‘भतृहरि जी ने कहा कि जब आदमी विवेक से भ्रष्ट हो जाता है तो उसका शतमुख विनिपात होता है। मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि मेरा अड़तीस मुख विनिपात हो चुका है, आपका कितना- मुख हुआ है? मेरा अनुमान है कि अभी एकमुख ही हुआ है। या शायद उतना भी न हुआ हो।’ दिनकर जी ठठाकर हँसे। बोले, ‘दूसरी ही बात ठीक है। मेरे हिस्से विधिता ने विवेक दिया ही नहीं। इसलिए हिसाब लगाने की जरूरत ही नहीं। हो तब न भ्रष्ट होने का प्रश्न उठेगा।’ मगर वे इशारा समझ गए। उनका चेहरा वैसा ही सहज-प्रसन्न बना रहा। उन्होंने सहज भाव से स्वीकार किया कि उनसे सचमुच गलती हो गई थी। हाय, वह उल्लसित सहज मुख अब देखने को नहीं मिलेगा।

उन्होंने हिन्दी साहित्य को दो दर्जन से अधिक अमूल्य ग्रंथ दिए हैं। ‘उर्वशी’, मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है। स्वयं दिनकर जी ने कहीं कहा है कि उन्हें ऐसा लगता है कि काव्य पहले से लिखा पड़ा था, उन्हें मिल गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं कवि इसे दैवीय प्रेरणा का ग्रंथ मानता है। दिनकर जी का तत्व-चिन्तन इस काव्य में सशक्त भाषा में सहज प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने कहा है - “काम के प्रति संतों की दृष्टि निषेध आत्मक रही है। शारीरिक कृत्य का तो निषेध है ही, सन्त मानस चित्रों का भी निषेध सिखाते हैं। इससे शरीर और मन की एकता का भंजन होता है। वास्तव में शरीर का ही एक अंश है। ... ईश्वर और प्रकृति, इन दोनों के बीच प्रतियोगिता नहीं है कि मनुष्य एक को ग्रहण करे और दूसरे को त्याग दे।... शरीर का काम, संयत काम, सामाजिक मर्यादा को मानकर एक घाट पर वहने वाला काम पाप नहीं है। पाप वह तब हो जाता है, जब काम मन को अपने वश में कर लेता है और मन शरीर को हाँकने लगता है, जबर्दस्ती हाँकने लगता है। तन का काम अमृत है, लेकिन मन का काम गरल है।

“आनन्दातिरेक प्रकृति का धर्म होना चाहिए। जब यह आनन्द जीवन के अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलता, तब मनुष्य बलपूर्वक, इच्छापूर्वक उसकी खोज काम

में करने लगता है। यही पाप है।...उर्वशी में जितना कहा गया है, उससे शायद कुछ अधिक कहा जाना चाहिए था। लेकिन उस अकथ्य की भाषा उर्वशी के पास नहीं है, क्योंकि वह मेरे पास नहीं है। मैं सिर्फ यह इंगित करना चाहता था कि प्रकृत जीवन बिताकर भी आदमी सन्त हो सकता है। अगर आपको मुझ पर विश्वास नहीं हो, तो कनफ्यूसियस का विश्वास कीजिए। वे भी मानते थे कि जो और कुछ न करके प्रकृत जीवन बिताता है, वह भी सन्त है।”

मस्ती दिनकर जी का स्वभाव भी थी, जिन्दगी भी। आनन्दोल्लास से वे सदा प्रफुल्ल दिखाई देते थे। बीमारी के कारण अन्तिम वयस में उनका देवोपम शरीर क्षीण होने लगा था। तिस पर वाम विधाता ने उनके ऊपर पुत्रशोक का दारुण आघात दिया। पारिवारिक चिन्ताओं से वे परेशान लगने लगे थे। कभी-कभी वे निराश स्वर में बोलने लगते थे। इधर जब-जब उनसे मिलने का अवसर मिला वे चिन्तित ही दिखे। भीतर से टूटने लगे थे, पर आनन्द का उत्स कभी भी नहीं सूखा। दिनकर जी के समान वाग्मी भी कम ही होते हैं। साधारण तथ्यों से भी वे बड़ा संदेश प्रेषण कर देते थे। उनकी तेजस्विता सदा विद्यमान रहती थी।

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौरमण्डल का : दिनकर विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी प्रदेशों में कविता के माध्यम से जन जागरण और क्रान्ति उत्पन्न करने वाले कवियों में दिनकर का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के समय जो कवि अपनी ओजस्वी वाणी को राष्ट्रीय उत्थान के लिए प्रयुक्त कर रहे थे दिनकर उनमें अग्रणी थे। जब कभी हिन्दी की राष्ट्रीय कविता का इतिहास लिखा जाएगा दिनकर की कविताओं से उसका कलेवर निर्मित होगा। दिनकर शुद्ध अहिंसावादी सत्याग्रही व्यक्ति नहीं थे। अपनी मान्यताओं के अनुकूल उन्होंने परतंत्रता के पाश छिन्न-भिन्न करने के लिए अतीत गौरव गान के साथ वीर रस की शौर्यपूर्ण रचनाओं का मार्ग अपनाया था।

कविवर दिनकर ने लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी साहित्य के भंडार को विविध विधाओं द्वारा भरने का प्रयत्न किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इतिहास, संस्कृति, कविता और दर्शन उनके प्रिय विषय थे। इसके अतिरिक्त भाषण कला में भी वे दक्ष थे। अपने ओजस्वी भाषणों से उन्होंने जन-जागरण का सराहनीय कार्य किया था। लेखनी और वाणी पर उनका समान अधिकार था। जिस किसी सभा-समारोह में दिनकर बोलते तो ऐसा लगता कि शार्दूल दहाड़ रहा है। उत्साह और जोश से भरी हुई उनकी वर्चस्वी वाणी आज भी प्रतिध्वनित होती हुई प्रतीत हो रही है।

दिनकर ने हिन्दी काव्य क्षेत्र में जब पदार्पण किया उस समय दो प्रकार की विचारधारा कविता में प्रवाहित थी। छायावादी रोमानी कविता के पैर जमे हुए थे। उस समय के प्राणवान कवि छायावादी शैली में प्रेम, शृंगार, प्रकृति, नारी तथा रहस्योन्मुखी रचनाओं से हिन्दी काव्य को समृद्ध बना रहे थे। दूसरी

धारा के कवि वे थे जिनके भीतर राष्ट्रीयता की भावना हिलोर मार रही थी और जो देश प्रेम की मस्ती में राष्ट्रीय कविताएँ लिख रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सनेही आदि कवियों ने जन-जागरण तथा विदेशी शासन के विरोध में काव्य सृजन कर युगानुकूल धारा बहाई थी। दिनकर इसी धारा के कवि थे किन्तु उनकी कविता में एक ऐसी इन्द्रधनुषी छवि थी कि इन कवियों के साथ उन्हें एक पंक्ति में नहीं बिठाया जा सकता। यदि क्रान्ति को आधार माना जाय तो दिनकर ने राष्ट्रीय काव्यधारा को नई गति, नई चेतना, नया प्रवाह, नया ओज, नई क्षमता और नया रूप प्रदान किया था। इसीलिए दिनकर अनुकरण करने वाले कवि न होकर अपना नया स्वतंत्र मार्ग बनाने वाले कवि थे। वे स्वयं अनुरण्य हो गये थे।

दिनकर को अपने जीवन में लगभग सोलह वर्ष सरकारी नौकरी करनी पड़ी। इन सोलह वर्षों को वे अपने जीवन की कठिन-कसौटी कहते थे। दो वर्ष के लगभग हिन्दी-प्रोफेसर भी रहे किन्तु उसे उन्होंने सरकारी नौकरी होने पर भी नौकरी नहीं माना। वे कहते थे कि मुझे कविता लिखने का मौका मिला ही नहीं। दिनभर सरकारी फाइलें पीटने के बाद भी क्या कविता के लिए कोई जीवनी शक्ति शेष रह सकती है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'जब अफसर लॉन में टेनिस का आनन्द लेते थे मैं बन्द कमरे में कविता की पंक्तियाँ जोड़ता था।' सचमुच यह देश का बड़ा दुर्भाग्य ही है कि इतने महान कलाकार को जीविका के लिए वह करना पड़ा जिसे वह स्वप्न में भी नहीं करना चाहता था। अंग्रेज अफसर तो सदैव रुष्ट ही रहे। चार साल में चौबीस बार इनका ट्रांसफर किया - परेशान किया कि कविता लिखने का धंधा छोड़कर सरकारी नौकरी में कादारी का सबूत दें। लेकिन दिनकर ने आत्मा की आवाज ही सुनी - अफसरों की आवाज को एक कान से सुनकर दूसरे कान निकाल दिया। रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, बापू, रसवन्ती जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ सरकारी नौकरी के समय ही लिखी गईं। कौन कह सकता है कि जिन परिस्थितियों में कवि ने इनकी रचना की होगी वे स्थितियाँ विषमता और प्रतिकूलता की चरम सीमा न रही होंगी। विस्मय तब और अधिक होता है कि दिनकर को परिवार-पोषण के लिए जीविका की सख्त जरूरत थी और नौकरी से निकाले जाने का पूरा भय था फिर भी वे अपने को अनल किर्रीट धारण करने वाला आलोक-धन्वा कवि कहने का साहस रखते थे -

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौरमंडल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किर्रीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे
किरणों में उज्ज्वल गीत गुँथे हैं मेरे।

हिन्दी कविता को नया मोड़ देने के लिए एक सरकारी नौकर जो प्रेरणादायक प्रयत्न कर रहा था उसका मूल्यांकन आज हम तटस्थ भाव से कर सकते हैं। न तो आज विदेशी शासन है और न विदेशी शासन को ललकारने और झकझोरने वाला शार्दूल कवि ही जीवित है। 'हिमालय' कविता में दिनकर ने नवयुवकों के आक्रोश को वाणी दी थी- ऐसी वाणी जो हिमालय की गगन स्पर्शी चोटियों से लेकर समुद्र की अतल गहराईयों तक गूँज उठी थी। उस तेजोदीप्त वाणी के स्वर में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन का अजेय पराक्रम हुंकार उठा था। 'दिल्ली' शीर्षक कविता में तत्कालीन दिल्ली का जो रूप कवि ने अंकित किया वह इतना सटीक था कि दिल्ली का अतीत और वर्तमान अपनी सम्पूर्ण विषमता में साकार हो उठा था।

दिल्ली आह। कलंक देश का,
दिल्ली आह। ग्लानि की भाषा,
दिल्ली आह मरण पौरुष का
दिल्ली छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

दिनकर ने भाषा के माध्यम से शाप और शर का प्रयोग किया था ऐसा प्रखर प्रयोग संभवतः उस समय माखनलाल चतुर्वेदी के सिवा और कोई कवि नहीं कर सका था। 'कोकिल और कैदी' शीर्षक कविता में चतुर्वेदी ने जिस स्वर का संधान किया था वही स्वर दिनकर का प्रिय स्वर था। उसी स्वर को पंचम तक पहुँचाने का श्रेय दिनकर को है।

दिनकर केवल कवि ही नहीं उच्चकोटि के मनीषी विचारक भी थे। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध दर्शन को उन्होंने विचार के स्तर पर प्रस्तुत कर अपने वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर कवि दिनकर के आभ्यन्तर संवाद के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं और उनके विचार-विमर्श को ही काव्य भाषा में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की उन समस्याओं पर गहरे उतरकर दिनकर ने कुरुक्षेत्र में विचार किया था जो उस युग में अहिंसा, शान्ति, विश्व प्रेम और मैत्री की पुकारों के बीच भी हिंसा, युद्ध और शत्रुता को बढ़ावा दे रही

थीं। दिनकर ने एक प्रश्न उठाया था - ऐसा प्रश्न जो आज भी उठाया जाना चाहिए। अर्थात् रण को कौन बुलाता है और जो बुलाता है उसके लिए विश्व के न्यायालय में दंड की क्या व्यवस्था है। दिनकर ने ललकार कर कहा था-

चुराता न्याय जो
रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वत्व की
अन्वेषणा पातक नहीं है।

दिनकर ने युद्ध और शान्ति की समस्या ही नहीं- और भी ऐसी अनेक समस्याएँ उठाई थीं जो मानव जाति के सामने प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ी रहती हैं। दिनकर मानवधर्मी कवि थे। मानव-समाज के कल्याण की प्रत्येक प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखना उनका स्वभाव बन गया था। आस्था और विश्वास खोकर किसी अंधी गली में भटकने के लिए उन्होंने मानव को प्रेरित नहीं किया था। अवचेतन और अचेतन की गहन गुफा में टोह लगाना उनके स्वभाव में नहीं था। 'कुरुक्षेत्र' में शंकाओं का अम्बार लगा देने के बाद भी उन्होंने आस्था विश्वास का सम्बल हाथ से नहीं जाने दिया था-

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीत से,
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपने गहन चिन्तन-मनन पूर्ण ग्रंथ में उन्होंने भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन यात्रा का शोधपरक दृष्टि से संधान किया है। एक कवि के द्वारा यह अनुसंधान इतना विस्मयकारी लगता है कि संस्कृति के साथ-साथ भारतीय समाज के निर्माण, पुनर्निर्माण, जागरण, पुनर्जागरण का पूरा लेखा-जोखा इसमें समाया हुआ है।

समय के सहगामी दिनकर

कुमार विमल

दिनकर जी बल, विक्रम और ओज के कवि थे। उनका विग्रह ही पौरुष का मूर्तिमान रूप था। उनकी कविताओं में अक्सर एक धमाके का गर्जमान स्वर रहता था। और वे अपने भाषण में समुद्र की तरह दहाड़ते थे। सचमुच वे अदिति-पुत्र थे।

समय की धड़कन के साथ चलना उन्हें बहुत प्रिय था। इसलिए वे समय और समाज तथा धरती और जनता से जुड़े रहना चाहते थे। यही कारण था कि उन्हें इस विचारधारा के समानधर्मा कवि सहज रूप में आकृष्ट कर लेते थे। पाब्लो नेरुदा और एब्लुशोंको जैसे कवि इसके उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि दिनकरजी चिन्तन से अधिक आवेश के और समाधान से अधिक समस्याओं के उपन्यासक कवि थे। 'कुरुक्षेत्र' हो या 'उर्वशी' -सब में वे द्वन्द्व और द्वाभा की ही कविता लिखते रहे।

दिनकरजी के प्रभावस्रोत भी अनेक और असमान थे। अतः कई विचारकों को उनकी रचनाओं की आशांसा में कठिनाई मालूम पड़ती थी। वे एक ही साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, टीएस इलियट, डीएच लारेंस और श्री अरविन्द से प्रभावित रहे। इतने विभिन्न प्रभावस्रोतों के वैविध्य को समजित करना सचमुच आसान नहीं है। मूलतः इतिहास का छात्र रहने के कारण दिनकरजी के पास एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य था और वे इस गुण के कारण समय के सतत परिवर्तित तेवर को पहचानने में समर्थ थे। इसका दूसरा सुफल यह था कि उन्होंने इस शताब्दी के सभी महान विचारकों को जानने और समझने की चेष्टा की थी। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं है कि नीत्शे की रचनाओं में 'जरथुस' को, इकबाल की कविताओं में 'साही' को और दिनकर की कविताओं में 'गरुड़' को इतना प्रतीक-महत्त्व मिला है। इसके पीछे निश्चय

ही 'अतिमानव' या 'सुपरमैन' की धारणा को लेकर चलने वाली विचारधारा की अन्तरंग पृष्ठभूमि है।

दिनकर इस देश के उन दो महान कवियों में हैं, जो नोबेल पुरस्कार-विजेता हुए बिना भी पूरी दुनिया द्वारा सुने और माने गये। ये दो कवि हैं, इकबाल और दिनकर। अविकसित या अर्द्ध-विकसित अफ्रैशियाई देशों के कुछ ही कवि अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की दृष्टि से इतने सौभाग्यशाली हुए हैं।

दिनकर : व्यापक सामाजिक चेतना के कवि

मैनेजर पाण्डेय

दुनिया के दूसरे देशों में जन्म शताब्दी वर्ष का गंभीर उपयोग होता है। हम लोग अंग्रेजी के माध्यम से यूरोप के बारे में जानते हैं। अभी कुछ दिन पहले स्पेन के महान उपन्यासकार सर्वेंटिज की 400वीं जयंती मनाई गई। आप कल्पना नहीं कर सकते कि उन पर कम से कम पचास किताबें छपी हैं और तीन साल के भीतर पच्चीस पत्रिकाओं के विशेषांक निकले हैं। दुनिया के देशों में शताब्दी वर्षों का जैसा भी गम्भीर उपयोग होता हो, हिन्दी में तो प्रायः शताब्दी वर्ष खाओ-पीओ वर्ष रूप में मनाया जाता है। जन्मशती वर्ष में दिनकर का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए।

दिनकर के बारे में अच्छा-बुरा, कहा-लिखा बहुत गया है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने एक लेख लिखा था कि हिन्दी में किसी भी जीवित कवि के बारे में इतना नहीं लिखा गया, जितना रामधारी सिंह दिनकर के बारे में। हाँ, बहुत अच्छा नहीं लिखा गया है। इसमें दिनकर जी का तो कोई दोष है नहीं। लिखने वालों की अपनी बुद्धि जहाँ तक जाएगी, वहीं तक वे लिख सकते हैं।

प्रत्येक बड़े कवि की कविता बहुत दूर तक उसके व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तित्व में बहुत सारी चीजें शामिल होती हैं। कवि का परिवेश, उसकी मनोभूमि, उसका स्वभाव, उसके भाव, उसके विचार, उसकी संवेदनशीलता और उसकी समाज में कर्मशीलता—ये सब व्यक्तित्व के बनने-बनाने के हिस्से हैं। हरेक कवि की रचना में व्यक्तित्व के हिस्से होते हैं। मैं दिनकर के व्यक्तित्व की बुनियादी विशेषता की खोज करते हुए उन्हीं की एक पंक्ति से मदद लेते हुए कहना चाहूँगा कि दिनकर जो 'पौरुष के पूंजीभूत ज्वाल' थे। यह 'हिमालय' नाम की उनकी कविता की एक पंक्ति है। इसमें दो बातें

महत्वपूर्ण हैं—एक तो 'पौरुष' और दूसरी 'ज्वाला'। उनके काव्य और व्यक्तित्व को मिलाकर देखिए तो वे शक्ति और ऊर्जा के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं और साथ ही उनकी कविता में यहाँ से वहाँ तक आग दिखाई देती है।

दिनकर जब हिन्दी कविता में आए, तो उस समय क्या वातावरण था हिन्दी कविता का? वह समय कविता में छायावाद का था। छायावाद की कविता की पहली विशेषता यह थी कि वह अपनी ही जनता से दूर की कविता थी। दूसरी यह कि उसकी भाषा जीवन-व्यवहार से अलग, एक काव्य-भाषा थी। तीसरी बात यह कि जनता से अलग-थलग होते ही उसका उर्दू से पूरी तरह अलगाव हो गया था। छायावाद ने हिन्दी-उर्दू के अलगाव को हमेशा के लिए स्थायी बना दिया। चौथी बात यह कि वह स्वाधीनता आन्दोलन का दौर था, जनता लड़ रही थी, मर रही थी और अपने समय की कविता में अपनी जिन्दगी की वास्तविकताओं, आकांक्षाओं और संघर्षों की आवाज़ सुनना चाह रही थी जो छायावाद की कविता में सुनाई नहीं पड़ रही थी। वह ऐसी भाषा में सुनना चाहती थी जो उसके दिलो-दिमाग को छुए। ऐसे समय में दिनकर जी हिन्दी कविता में आए।

दिनकर ने बहुत बड़ा काम किया कि, एक साथ हिन्दी कविता का रूप, उसकी अंतर्वस्तु और जनता से उसके सम्बन्ध को बदल डाला। यह काम अकेले दिनकर ने नहीं किया। हरिवंश राय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि उसी पीढ़ी के अनेक कवियों ने किया। हिन्दी कविता या आलोचना में जिसे छायावादोत्तर पीढ़ी कहा जाता है, उसने चार काम एक साथ किए। एक तो काव्य-भाषा को बोलचाल की भाषा के करीब ले आई। दूसरा काम यह किया की जीवन के सच्ची अनुभूतियों की—केवल काल्पनिक अनुभूतियों की नहीं—अभिव्यक्ति कविता में शुरू की, जिनका समाज और राष्ट्र के साथ गहरा रिश्ता था। तीसरा काम किया, जो काव्य-शास्त्र से जुड़ा हुआ है कि उससे कविता में बोधगम्यता आई। कविता आसानी से समझ में आ सके, ऐसी भाषा और शैली में लिखना शुरू किया। चौथा काम यह कि स्वच्छ अभिव्यक्ति; ऐसी अभिव्यक्ति जो कहीं भी दुराव-छिपाव को महत्त्व नहीं देती है। इन चार कामों का एक परिणाम हुआ कि कविता जनता से जुड़ी, जनता ने कविता का स्वागत करना शुरू किया।

दिनकर, बच्चन जैसे कवियों को उस जमाने में कवि-सम्मेलनों में सुनने के

लिए भीड़ हुआ करती थी। एक तरीका वह भी था। दूसरा तरीका यह था कि पाठकों के रूप में जनता कविता से जुड़ती थी। बहुत सारे कवि केवल पाठ्य-पुस्तकों के कवि होते हैं। आज भी हिन्दी में ऐसे अनेक महाकवि हैं जिनको पाठ्यक्रम से निकाल दिया जाए तो चार-पांच पाठक भी नहीं मिलेंगे। कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको मजबूरी में लोग पाठ्यक्रम में शामिल करते हैं। दिनकर भी उन्हीं कवियों में से एक थे जो बाहर लोकप्रिय होने के बाद पाठ्यक्रम में आए। यह जो कविता का रूप बदला, इसका एक और दूसरा बड़ा महत्त्व है, जिस ओर हिन्दी में ध्यान नहीं दिया। छायावाद के बाद प्रगतिशील आंदोलन की काव्य-भाषा के लिए रास्ता बनाने का काम दिनकर और उनकी पीढ़ी ने किया अन्यथा प्रगतिशील कविता के लिए भाषा निर्मित करना एक नए सिरे का काम होता। यह संभव नहीं कि प्रगतिवादी कवि छायावादी काव्य-भाषा में प्रगतिशील कविता लिखकर प्रगतिशील बने रहते। इसलिए कविता की भाषा को मोड़ने और जनता से जोड़ने का जो काम दिनकर और उनकी पीढ़ी ने किया वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

दिनकर के काव्य पर यदि आप ध्यान दें तो उनका शुरू का काव्य, खासतौर से 1930 से 1947 तक का काव्य स्वाधीनता आन्दोलन का काव्य है। स्वाधीनता आन्दोलन के उतार-चढ़ाव, द्वंद्वों-दुविधाओं, जय-पराजय का इतिहास यदि किसी एक कवि की कविता में खोजना हो तो यह इतिहास केवल दिनकर की कविता में मिलेगा। दिनकर स्वाधीनता आन्दोलन के कवि हैं। दिनकर कानाफूसी की भाषा में क्रांति करना नहीं चाहते थे। बहुत सारे कवि ऐसे हैं जो ऐसी भाषा और ऐसे अंदाज में क्रांति की कविता लिखते हैं कि जैसे दूसरे के कान में धीरे-धीरे बतिया रहे हों। इसके ठीक विपरीत उनकी स्वाधीनता से जुड़ी कविताओं में शक्ति है, आग भी है।

भारतीय कविता में तीन-चार कवि ऐसे हैं जिनसे दिनकर की कविता की समानता देखी जा सकती है। बांग्ला के काजी नज़रुल इस्लाम, उर्दू के इकबाल एवं दूसरे जोश। इन कवियों की कविता में जो शक्ति और आग है, वही शक्ति और आग दिनकर की कविता में दिखाई देती है। जोश से तो उनका व्यक्तित्वगत सम्बन्ध बहुत अच्छा था। जोश से एक बार दिनकर जी की भेंट हुई। जोश थे वैसे जोशीले आदमी—सहज प्रतिक्रिया करने वाले। जोश ने बाद में एक खत में लिखा—

हिंद में लाजवाब हैं दोनों
 शायर-ए-इंकलाब हैं दोनों
 देखने में अगरचे जर् हैं
 वाकई आफताब हैं दोनों।

जोश ने अपने बारे में और दिनकर के बारे में यह बात कही है। उनकी कविता की भी लगभग बहुत सारी वही विशेषताएँ हैं, जो दिनकर की हैं। उनकी इस विशेषता को ठीक से देखना चाहें तो 'आग की भीख' नाम की कविता देखिए। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान जैसी प्रेरणात्मक कविता की जरूरत थी, वैसी कविताएँ रेणुका, हुंकार और सामधेनी में दिखाई देती हैं। दिनकर केवल स्वाधीनता आंदोलन के कवि या राजनीतिक कवि नहीं हैं। संवेदना और विषयवस्तु की जैसी व्यापकता और विविधता उनमें दिखाई देती है वैसी निराला को छोड़कर बाद के कवियों में कम मिलती है। एक ओर रेणुका, हुंकार और सामधेनी में राजनीतिक चेतना है तो दूसरी ओर रसवंती और उर्वशी में उद्दाम प्रेम भी है। इसीलिए दिनकर केवल राजनीतिक कवि नहीं हैं।

इस बात पर गंभीरता से विचार करने और जांच-परख करने की जरूरत है कि भारतीय कविता की दो परम्पराएँ हैं। एक रामायण से जुड़ी हुई कविता की परम्परा जो बाल्मीकि रामायण से शुरू होकर बहुत बाद तक चली आती है। दूसरी महाभारत से जुड़ी हुई भारतीय कविता की परम्परा। कविता की इन दोनों परम्पराओं में बुनियादी फर्क है। विद्रोह, नैतिक द्वंद्व, बौद्धिक जटिलता आदि की कविताएँ खोजनी हों तो वे महाभारत में मिलती हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि राम या रामायण की जो काव्य-परम्परा है वह आज दक्षिण-पंथियों की काव्य-परम्परा बन गई है। अपवाद उसमें भी है। असल में उसमें पूजा-पाठ की गुंजाइश ज्यादा है। वह गुंजाइश महाभारत में दिखाई नहीं देती। कर्ण या द्रौपदी, यहां तक कि भीष्म पितामह के चरित्र में जो नैतिक द्वंद्व है, वैसा नैतिक द्वंद्व भारतीय साहित्य में कहीं दिखाई नहीं देता। दिनकर महाभारत से जुड़ी काव्य-परम्परा के कवि हैं। उन्होंने अनेक रचनाएँ महाभारत से जुड़ी हुई काव्य-परम्परा की लिखीं। उन्होंने कुरुक्षेत्र लिखा है, रश्मि रथी लिखा है। हाल के वर्षों में हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं के साहित्य में दो चरित्रों पर सबसे ज्यादा उपन्यास और कविताएँ लिखी गई हैं—एक, द्रौपदी और दूसरे, कर्ण। भारतीय भाषाओं के साहित्य में बहुत लोगों से पहले दिनकर ने रश्मि रथी लिखा

था। महाभारत से सिद्ध होता है कि कर्ण वर्ण-व्यवस्था का साक्षात् खंडन था। उसने भरी सभा में, द्रौपदी के स्वयंवर में यह खंडन किया था। मैं जो कुछ भी हूँ बाहुबल से, जिसको जीतना हो जीते, जो हारे सो हारे। इसका क्या मतलब कि एक आदमी ब्राह्मण है, एक क्षत्रिय है, तीसरा शूद्र है। महाभारत में वर्ण-व्यवस्था का खंडन दिखाई देता है। जिन लोगों की वर्ण-व्यवस्था के खंडन में दिलचस्पी रही है वे हर हाल में महाभारत की परम्परा से अपने को जोड़ते हैं।

दिनकर की काव्य चेतना बहुत व्यापक थी। वह एक ओर महाभारत से तो जुड़ती ही थी, दूसरी ओर आधुनिक काल के जिन कवियों से जुड़ती थी उसके लिए मैं दूसरा उदाहरण देना चाहूँगा। रामधारी सिंह 'दिनकर' की उर्वशी पर हिन्दी में खूब बहस हुई है। उसके पक्ष में जितना लिखा गया है उससे अधिक विपक्ष में लिखा गया है। रामविलास शर्मा को छोड़कर हिन्दी के अधिकांश मार्क्सवादियों ने दिनकर की उर्वशी की कठोर आलोचना की है। दिनकर की उर्वशी को आप देखिए, वह आसमान से उतरी हुई कविता नहीं है। उर्वशी को ठीक से पढ़िए तो उसमें चार-पांच परम्पराएँ एक साथ दिखाई देंगी। इसकी जांच-परख की जरूरत है। उसको पढ़िए तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उर्वशी की याद आएगी, अरविन्द की उर्वशी की याद आएगी, विक्रमोर्वशीयम् याद आएगा। उनकी संरचना देखिए तो विक्रमोर्वशीयम् में संयोग का उद्दाम वर्णन नहीं है। दिनकर ने असल में कथा ली है विक्रमोर्वशीयम् से और उद्दाम गार का चित्रण लिया है कुमारसम्भव से। इसलिए वे सीधे कालिदास से जुड़ते हैं। इतनी व्यापक चेतना का कवि निराला को छोड़कर दूसरा कोई नहीं है। उर्वशी के संदर्भ में इसकी जांच-परख करने की जरूरत है।

हमारे यहाँ कछुआ धर्म बहुत है। हम जो करते हैं, वह कहते नहीं और जो कहते हैं वह करते नहीं। मैं ऐसे बहुत-से महापुरुषों को जानता हूँ जो रामधारी सिंह 'दिनकर' के उद्दाम संयोग वर्णन की निन्दा करते हुए उर्वशी की आलोचना करते हैं लेकिन जीवन में इससे परहेज नहीं है। दिनकर केवल समकालीन संवेदना या स्वाधीनता आंदोलन के कवि नहीं हैं। उनकी संपूर्ण कविता की दुनिया में गहरा और सघन-परम्परा-बोध है, जो संस्कृत, बांग्ला और उर्दू से एक साथ जुड़ता है। भारतीय कविता की परम्परा और रामधारी सिंह 'दिनकर' के सम्बन्धों पर विचार होना चाहिए।

‘दिनकर’ आजादी के बाद भी राजनीतिक कविताएं लिखते हैं। ‘दिनकर’ अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने हिन्दी में गौरव की राजनीति की कविता भी लिखी है और पतन की राजनीति की भी। गौरव की राजनीति की कविता देखनी हो तो गांधी पर लिखी कविता देखिए। पतन की राजनीति की कविता के कुछ उदाहरण दूंगा। दिनकर के जमाने का राजनीतिक पतन नाली की तरह था जो आज वह हमारे चारों ओर समुद्र की तरह बह रहा है। दिनकर सत्ता से मजबूरी में जुड़े हुए थे। व्यक्ति के रूप में सत्ता से जुड़ाव के बावजूद कवि के रूप में सत्ता के कटुतम आलोचक थे। यह उन्होंने ब्रिटिश राज में भी किया और यही उन्होंने कांग्रेसी राज में भी किया। ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। आज साहित्यकारों से लेकर सारे बुद्धिजीवियों का हाल यह है कि गंगा गए तो गंगादास, जमुना गए तो जमुनादास। कांग्रेसी सत्ता कायम हुई। उस पूत के पांव पालने में ही दिखाई पड़ने लगे। नागार्जुन ने उपन्यासों में इसकी चर्चा की है। देश में जगह-जगह, प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें थीं और लूट तथा झूठ का राज शुरू हुआ। उसको लेकर दिनकर ने साल भर बाद ही 1948 में एक कविता लिखी। यह कविता है—‘वर्षगांठ’। इसकी कुछ पंक्तियों के जरिए पतन की राजनीति का प्रमाण दे रहा हूँ— ‘टोपी कहती है/मैं थैली वन सकती हूँ/कुर्ता कहता है/मुझे बोरिया ही कर लो/ईमान बचाकर कहती हैं आंखें सबकी/बिकने को हूँ तैयार/खुशी से जो दे दो।

कुछ आत्ममुग्ध आलोचक, कलावादी भी और गैर-कलावादी भी यह कहते हैं कि कविता को ज्यादा समकालीनता से नहीं जोड़ना चाहिए, नहीं तो जल्दी ही मर जाती है। समाज मरे तो मरे, पर कविता को जीने की चिंता होनी चाहिए। मैं कहता हूँ दूसरी बात। यह कविता 1948 की है। आज क्या स्थिति है? यह कविता झूठी हो गई है या ज्यादा सच्ची हो गई है? इस तरह से देखें तो रामधारी सिंह ‘दिनकर’ भविष्यवक्ता कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। पचासों अंशों के उदाहरण ‘दिनकर’ से दिए जा सकते हैं कि उन्होंने कविता को इस तरह से साधा कि कविता समकालीन होते हुए सार्वकालिक हो सके। यही बड़े कलाकार की क्षमता होती है। दिनकर की कविता पढ़ते हुए नागार्जुन की याद आए तो मानना चाहिए कि दोनों में अनेक समानताएँ हैं।

दिनकर मार्क्सवादी नहीं थे लेकिन उनकी कविता में पराधीनता, विषमता, शोषण और सामाजिक अन्याय के प्रति जैसा गहरा आक्रोश है वैसा बहुत कम

प्रगतिशील कवियों के यहां दिखाई देता है। असल में भावना को संयमित करके कला में ढालने की कोशिश करने में बहुत सारे प्रगतिशील कवि मारे गए। अकारण नहीं है कि खुलकर कविता लिखने के कारण हिन्दी आलोचना ने तीस साल तक नागार्जुन को कवि नहीं माना। नागार्जुन को मजबूरी में अपने पैसे से पुस्तकें छपवानी पड़ती थीं। ‘तालाब की मछलियाँ’ वर्षों बाद नागार्जुन को स्वयं छपवानी पड़ी। यह हिन्दी आलोचना की दुर्गति का सबूत है। यदि यह कवि के मन में पराधीनता, शोषण, उत्पीड़न, सामाजिक अन्याय के प्रति गहरा आक्रोश है, जिसे वह कविता में व्यक्त कर रहा है तो प्रगतिशीलों द्वारा उसका स्वागत किया जाना चाहिए था। यह नहीं हुआ।

दिनकर ने उस जमाने की राजनीति की चर्चा करते हुए जो कविताएं लिखी हैं, उसमें से दो कविताएं सामने रखूंगा। उनकी एक कविता है—‘समर शेष है’। 1954 की यह कविता अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कविता है। दिल्ली में बहुत कवि रहते हैं, लेकिन दिल्ली क्या है, इस पर ध्यान देने वाले कवि बहुत कम हैं। हिन्दी में अकेले दिनकर ने दिल्ली पर तीन-चार कविताएं लिखी हैं। उन कविताओं को अलग-अलग पढ़िए तो उनमें दिनकर की चेतना की चार अवस्थाएं दिखाई देंगी—अंग्रेजी सत्ता की केन्द्र दिल्ली, स्वाधीनता आन्दोलन के दौर की दिल्ली, आजादी के बाद की दिल्ली और बाद में और भी पतनशील दिल्ली—उन्होंने दिल्ली के विभिन्न रूपों पर कविताएं लिखी हैं। ‘समर शेष है’ बहुत प्रसिद्ध कविता है। यह भी दिल्ली पर है। दिनकर ने दिल्ली की सत्ता की जैसी व्यापक आलोचना की है, वैसी हिन्दी की बहुत कम कविता में है—

फूलों की रंगीन लहर पर ओ उतराने वाले
ओ रेशमी नगर के वासी! ओ छवि के मतवाले!
सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में अधियाला है।
अटका कहां स्वराज? बोल दिल्ली, तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई, वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग दबा रखे हैं, किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बंदिनी बता किस धर में?

यहाँ पतन की राजनीति की अभिव्यक्ति दिनकर ने की है। आगे फिर भविष्यवाणी उन्होंने की है—

समर शेष है, अहंकार इनका हरना बाकी है
 वृक को दंतहीन, अहि को निर्विष करना बाकी है।
 एक बहुत ही मार्मिक पंक्ति लिखी है दिनकर ने इस कविता के अंत में—
 समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध
 जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराधा।

ऐसी दृष्टि वाले कवि को ही प्रतिभाशाली कवि कहते हैं। इसे दिनकर ने 1954 में लिखा था। 1968 में फ्रांस के छात्रों की हड़ताल हुई। बहुत विशाल, बल्कि लगभग क्रांति की तरह। अनेक नारे थे। उनमें एक नारा था कि जो तटस्थ रहेंगे वे ही मारे जाएंगे। यह उनकी अमर पंक्तियों से है। यह तब भी सच थी और आज भी। न्याय और अन्याय तथा सच और झूठ के बीच में तटस्थता का जो नाटक करते हैं उनके बारे में यह पंक्ति लिखी गई है। आजादी के बाद जो देश का हाल है और जो तरह-तरह के संघर्ष चल रहे हैं, वर्षों पहले उनकी ओर दिनकर ने संकेत किया था।

हिन्दी कविता में रामायण, महाभारत की परम्परा की तरह एक और परम्परा है। जो भी विवेकशील कवि रहे हैं, वे बौद्ध-दर्शन को बहुत महत्त्व देते हैं। उसमें विवेकवाद तो है ही, वर्ण-व्यवस्था का खंडन भी है। दिनकर ने बहुत पहले एक कविता लिखी थी—‘बुद्धदेव’। इस कविता को पढ़कर लगेगा कि दिनकर गहरे स्तर पर प्रयोगवादी तो थे ही, वर्ण-व्यवस्था के शोषण-दमन और अन्याय के कितने विरोधी थे। उसका केवल एक अंश देखिए—

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं
 देव, बना था क्या दुखियों के लिए निरु संसार नहीं
 धन पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई
 दौड़ो बोधिसत्व, भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

गौतम बुद्ध और बौद्ध दर्शन से जो लगाव है, वह एक विवेकवादी परम्परा है। इससे जुड़ते हैं दिनकर।

दिनकर का काव्य हमारे सामने कुछ सवाल रखता है। एक सवाल तो यही है कि हमें कैसी कविता चाहिए। ऐसी जो सोए हुए को जगा दे या ऐसी जो जगे हुए को सुला दे। दूसरा सवाल यह है कि कविता व्यापक जनसमाज के लिए है या मुट्ठी-भर विशिष्ट जनों के लिए। कवि और आलोचक एक-दूसरे की कविताएं पढ़ते रहेंगे या कविता व्यापक जनसमुदाय में भी जाएगी।

महान कवि वे होते हैं जो कुछ नया रचने की प्रेरणा देते हैं। नया समाज रचने और नया साहित्य रचने की प्रेरणा। दिनकर की दो पंक्तियों ने समाज रचने की भी प्रेरणा दी है और साहित्य रचने की भी—

सेनानी करो प्रयाण अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है
 ये नखत अमा के बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है।

इसने सम्पूर्ण क्रांति को प्रेरित किया और इसी की आखिरी पंक्ति ने राजेन्द्र यादव को सारा आकाश उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी।

मार्क्सवाद से दिनकर का सम्बन्ध कैसा था? मार्क्सवाद से दिनकर का सम्बन्ध राग का भी था और बिराग का भी। मार्क्सवाद के जो उद्देश्य हैं उन उद्देश्यों से उनका सम्बन्ध राग का था, जो उनकी कविता से सिद्ध होता है। लेकिन हिन्दी के मार्क्सवादियों के व्यवहार से उनका सम्बन्ध विराग का था। दूसरी बात यह है कि हिन्दी के प्रगतिशील कवियों से उनका सम्बन्ध राग का था, लेकिन हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों से उनका सम्बन्ध विराग का था। अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों ने दिनकर की आलोचना की। इसका कारण यह है कि हिन्दी के अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों ने सिद्धान्त के आधार पर नहीं, सुविधा के आधार पर आलोचना लिखी। रामविलास शर्मा ने सिद्धान्त के आधार पर आलोचना लिखी। इसीलिए अकेले उन्होंने दिनकर के उर्वशी विवाद में भाग लेते हुए दिनकर के पक्ष में लिखा।

मार्क्सवाद से दिनकर का सम्बन्ध संक्षेप में रखता हूँ। 1944 में बिहार प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन हुआ। उसमें दिनकर स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने जो भाषण दिया वह छपा भी। साम्राज्यवाद की जैसी आलोचना दिनकर ने की, वैसी बहुत कम कवियों ने की है। आखिर क्या कारण है कि मार्क्सवादियों को दिनकर की साम्राज्यवाद विरोधी कविताएं भी पसंद नहीं आती। उन कविताओं की चर्चा कीजिए, उनकी कमजोरी की चर्चा कीजिए, कौन रोक रहा है? लेकिन चर्चा ही नहीं करेंगे।

दिनकर ने 1969 में एक काम किया। भारत-सोवियत मैत्री संघ की ओर से लेनिन की जन्मशती पर एक किताब छपी—लेनिन और साहित्य। उसमें हिन्दी के तीन साहित्यकारों के लेख हैं। पहला लेख दिनकर का ही है, दूसरा लेख विष्णु प्रभाकर का है और तीसरा लेख भीष्म साहनी का है। उस लेख में दिनकर ने लेनिन के प्रति गहरे आदर और लगाव का केवल उल्लेख ही नहीं किया है

बल्कि अपनी कविताओं से लगभग पन्द्रह जगहों का जिक्र किया जहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लेनिन आते थे। दिनकर ने एक लम्बी और बहुत ही ओजस्वी कविता लिखी थी—‘दिल्ली और मास्को’। उस कविता में भी मास्को और उसकी समाजवादी नीतियां, व्यवहार और लेनिन—सबकी बहुत तारीफ की है। तब उनको लगता था कि हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक या तो उनकी कविता पढ़ते नहीं या पढ़ते हैं तो उस पर बात क्यों नहीं करते? उस लेख में दिनकर ने तीन-चार कविताओं की ओर ध्यान दिलाया है। उनकी एक बहुत प्रसिद्ध कविता है—‘कस्मै देवाय’ दूसरी कविता है—‘विपथगा’, तीसरी कविता है—‘बापू’ और चौथी कविता है—‘मास्को और दिल्ली’। इन सारी कविताओं में कहीं न कहीं या तो लेनिन आते हैं या समाजवादी चेतना आती है। इन सबको ध्यान में रखते हुए मैं कहता हूँ कि दिनकर का मार्क्सवाद से राग का सम्बन्ध था।

दिनकर के और दो पक्षों के बारे में संक्षिप्त चर्चा होनी चाहिए। दिनकर ने काफी आलोचनाएं लिखीं। उनकी आलोचना की किताबें हैं। दिनकर की आलोचना-दृष्टि पर बात करने की जरूरत है। हिन्दी के एक से एक बड़े आलोचकों ने छायावाद पर लिखा है पर छायावाद का जो मूल्यांकन दिनकर ने किया है वह पहले का है। तब न नामवर सिंह की ‘छायावाद’ मौजूद थी और न रामविलास जी की ‘निराला की साहित्य-साधना’ आई थी। दिनकर के इस कथन पर ध्यान दीजिए—“छायावाद हिन्दी में उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था। केवल साहित्य की शैली ही नहीं, समग्र जीवन की परम्पराओं, रूढ़ियों, शास्त्र निर्धारित मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिंता को सीमित करने वाली परिपाटियों के विरुद्ध जन्मे हुए एक व्यापक विद्रोह का परिणाम था तथा मनुष्य की दबी हुई स्वतंत्रता की भावना को प्रत्येक दिशा में उभारने वाला था छायावाद।”

ध्यान दीजिए, नामवर जी ने वर्षों बाद यह बात अपनी किताब में घुमा-फिराकर कही है कि व्यक्तिवाद और उसका सार्थक रूप है वह। यह दिनकर मिट्टी की ओर में लिख रहे थे। दिनकर छायावाद को समग्र विद्रोह मानते हैं। दिनकर की आलोचना को गंभीरता से जांचने-परखने की जरूरत है। यह जो छायावाद का मूल्यांकन है, न तो नंददुलारे बाजपेयी के यहां है और न ही शांतिप्रिय द्विवेदी के यहां, न नामवर सिंह के यहां है और न रामविलास शर्मा के यहां। उन्होंने छायावाद की केवल इस बात के लिए आलोचना जरूर की

है कि उसमें जीवन की समस्याओं का सीधा साक्षात्कार नहीं है। यह तो रामचन्द्र शुक्ल भी कहते हैं। हमारे रामविलास जी यह मानने को तैयार ही नहीं है कि संसार में जो कुछ अच्छा है। वह छायावाद में नहीं है। संसार का सब अच्छा छायावाद में ही है और यदि छायावाद में नहीं होगा तो निराला में होगा।

दूसरी बात दिनकर ने कही है कि छायावाद को जो रहस्यवाद सिद्ध करने की कोशिश हुई वह भी छायावाद के साथ ज्यादाती है। रहस्यवाद अपने क्लासिकल रूप में छायावाद में नहीं है। उन्होंने यह कहा कि छायावाद में इस समाज की समस्याओं से किनारे जाने की जो थोड़ी चेतना है, चिंता है, उसको भारतीय कविता की परम्परा में देखना चाहिए। दो कविताओं को एक साथ देखिए। प्रायः पलायनवाद के उदाहरण के रूप में प्रसाद जी का उल्लेख किया जाता है—‘ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे’। दिनकर ने उद्धृत किया है ग़ालिब को—रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहां कोई न हो। ग़ालिब के यहां जो है वह प्रसाद जी से अलग नहीं है। पहले हैं ग़ालिब, प्रसाद बहुत बाद के हैं। दिनकर का कहना यह है कि इस कवि की मनोदशा को समझने की जरूरत है। दिनकर की एक अलग किताब ही है—प्रसाद, पंत, मैथिलीशरण गुप्त। उसमें उन्होंने इन सम्बन्धों की खोज की है।

दिनकर ने अपने ज़माने की कुछ सैद्धान्तिक बहसों में भी हिस्सा लिया था; जैसे—कला की सोद्देश्यता का सवाल। दिनकर कलावादियों के साथ एकदम नहीं थे। दिनकर ने बार-बार जोर देकर कहा कि कला निरुद्देश्य हो ही नहीं सकती। उन्होंने यह जरूर कहा कि कला के उद्देश्य और राजनीति के उद्देश्य को एकमएक करना ठीक नहीं है। निरुद्देश्य कला का कोई मतलब नहीं है। विशेष रूप से ‘साहित्य और राजनीति’ नाम का उनका एक निबन्ध बहुत ध्यान देने लायक है। इस निबन्ध में दिनकर ने लिखा है कि क्रांति जनसमूह को जगाकर उसे नई सांस, नई संस्कृति और तरंगित होने वाले जीवन की ओर प्रेरित करती है। जीवन का उद्देश्य है कि साहित्य नए इतिहास के निर्माण में योग दे। यह काम केवल कला को पूजने वाले साहित्य से नहीं हो सकता। इसलिए दिनकर अपनी सारी आलोचना में बार-बार कलावाद के विरुद्ध खड़े दिखाई देते हैं। हिन्दी के मार्क्सवादी भी अब साहित्यवादी ही हैं। उस साहित्यवाद का खंडन दिनकर पहले कर चुके हैं।

दिनकर के मूल्यांकन में जो तेजस्विता है उसका एक प्रमाण रीतिकाल के

मूल्यांकन में दिखाई देता है रीतिकाल पर उनके दो लेख हैं। उन्होंने लिखा है कि घनानन्द अनेक अर्थों में रीतिकाल के नहीं, प्रत्युत छायावाद के कवि हैं। यह कहने की हिम्मत उस जमाने में किसी की नहीं थी और आज भी यह स्वीकार करने की तत्परता किसी की नहीं है। अगर आप रामचन्द्र शुक्ल के विचारों से मिलाकर देखिए तो शुक्ल जी ने छायावाद की कविता से घनानन्द की कविता की समानता की चर्चा अनेक स्तरों पर की है। दिनकर की आलोचना में बहुत सारी ऐसी महत्वपूर्ण स्थापनाएं हैं, जिन पर नए ढंग से सोचने और विचार करने की जरूरत है।

दिनकर ने संस्कृति पर गंभीर चिंतन किया है। आजकल जो सबसे अधिक संस्कृति का नाम लेते हैं, वे ही इस देश में सबसे अधिक असांस्कृतिक कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। अब तो ऐसा लगता है कि संस्कृति और गुंडई लगभग पर्याय हो गई हैं। इस देश में संस्कृति के नाम पर कलम नहीं, डंडे चलने लगे हैं। इसीलिए संस्कृति पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। दिनकर के सांस्कृतिक चिंतन पर भी।

दिनकर संस्कृति के बारे में बहुत पहले से चिंतित रहे हैं। उनकी दो किताबें संस्कृति के चार अध्याय से पहले आ चुकी थीं जिनका सम्बन्ध संस्कृति-चिंतन से ही है। एक तो राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता और दूसरी किताब है—हमारी सांस्कृतिक एकता। आप उस गंभीर किताब पर विचार कीजिए। गंभीर विचार की एक किताब संस्कृति के चार अध्याय अब तक 15 बार छप चुकी है। गुलशन नंदा आदि के उपन्यासों को छोड़कर हिन्दी के लेखकों को यह सौभाग्य नहीं मिलता कि उनकी किताबें 15 बार छपें। इस पुस्तक की लोकप्रियता हमें आकर्षित करती है। एक तरह से यह भारतीय संस्कृति का विश्वकोष है। संस्कृति के बनने, बदलने, बिगड़ने और फिर बनने की जटिल समग्र और द्विधात्मक प्रक्रिया की पहचान है 'संस्कृति के चार अध्याय' में।

जब यह किताब छपी थी तो क्या प्रतिक्रिया हुई, उसके बारे में तीसरे संस्करण की भूमिका में दिनकर ने लिखा है—'मेरी स्थापनाओं से सनातनी दुखी हैं और आर्यसमाजी तथा ब्रह्मसमाजी भी। उग्र हिन्दुत्व के समर्थक तो इस ग्रन्थ से काफी नाराज़ हैं। नाराज़गी का एक पत्र एक मुस्लिम विद्वान ने भी लिखा है। यह नाराज़गी क्यों है?' दिनकर मानते हैं कि भारतीय संस्कृति सामासिक संस्कृति है। सामासिक संस्कृति माने क्या? समास व्याकरण का एक शब्द है।

दो शब्दों के मेल से यह तीसरा शब्द बनता है और उसका नया अर्थ हो जाता है। यही सामासिकता है कि दो चीजों के मिलने से एक तीसरी वस्तु बने और उसका नया अर्थ हो।

हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय संस्कृति के बारे में एक उदाहरण दिया करते थे। वे कहा करते थे कि भारतीय संस्कृति एक हुक्के की तरह है। हुक्के की विशेषता यह है कि हुक्का 10-20 वर्ष पुराना हो गया, उसका नरचा खराब हो गया तो नरचा बदल दिया जाएगा और हुक्का वही रहेगा। 20-30 वर्षों बाद चिलम खराब हो गई तो चिलम बदल दी जाएगी। फिर भी हुक्का वही रहेगा। 50-60 वर्ष बाद उसके नीचे का हिस्सा बदल दिया जाएगा और फिर भी हुक्का वही रहेगा। जैसे हुक्का होता है कि चीजें बदलती रहती हैं, फिर भी हुक्का वही रहता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति में बहुत सारी चीजें जुड़ती हैं, आगे बढ़ती हैं; फिर भी भारतीय संस्कृति है। 'भारतीय संस्कृति लगभग गंगा की तरह है। गंगा जहाँ से निकलती है उसको आप ध्यान में रखिए। समुद्र तक जाते-जाते उसमें पच्चीसों नदियां मिलती हैं। जब कोई नदी मिल जाती है तो मिलने के बाद वह स्वयं गंगा का हिस्सा हो जाती है और वह नदी गंगा ही कहलाती है। इसलिए मैं तो कई बार भारतीय संस्कृति को संगम संस्कृति कहा करता हूँ। संगम संस्कृति है भारतीय संस्कृति।' संगम संस्कृति का भी अर्थ वही है जो दिनकर सामासिक संस्कृति में कहना चाहते हैं। जो लोग संस्कृति की शुद्धता की बात करते हैं, जो संस्कृति को धर्म का पर्याय समझते हैं, वे दिनकर से नाराज होते हैं।

विभा-पुत्र दिनकर जगदीश त्रिगुणायत

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर-मण्डल का
मेरा शिखण्ड अरुणाभ किरिटी अनल का।
हो उठा दीप्त धरती का कोना कोना
जिसको मैंने छू दिया हुआ वह सोना।
मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

स्वतंत्रता संग्राम के चुनौती भरे दिनों में, हिन्दी मंच के उस नवागत कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के, अपने दिनकर उपनाम के सहारे एक नये निराले अन्दाज में दिये गये आत्म-परिचय के इन गर्वीले छन्दों ने एक नयी पहचान के साथ, प्रतिस्थापित करते हुये सर्वदा के लिए अमर बना दिया है। ये छन्द उनकी विख्यात रचना आलोक धन्वा के छन्द हैं, जिनकी उन दिनों हिन्दी जगत में धूम मची हुई थी।

दिनकर एक ज्वलन्त दीप-शिखा थे—पौरुष और ओज की प्रतिमूर्ति किन्तु ऊपर से वज्र जैसे दिखाई देकर भी भीतर से कुसुम जैसे कोमल। चट्टानों के भीतर कलकल छलछल करती निर्मल धारा के समान शीतल।

दिनकर जी का जन्म बिहार के तत्कालीन मुंगेर जनपद के सिमरिया गाँव के एक सामान्य कृषक परिवार में हुआ था। मेरे लिए यह सौभाग्य की बात थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रथम वर्ष में ही उनके प्रति न केवल मेरे मन में गहरी श्रद्धा उत्पन्न हो गई, वरन् वे भी मुझे अपने असंख्य कृपापात्रों में से एक जैसी आत्मीयता प्रदान करने लगे।

दिनकर जी बिहार सरकार के सूचना निदेशक बनकर, उसकी ग्रीष्मकालीन

राजधानी रांची में रहने लगे थे। उस समय मैं राष्ट्रपिता के रचनात्मक कार्यों के एक स्वयंसेवक के रूप में, वहाँ से चालीस किलोमीटर दूर खूटी में आदिवासी छात्रों के एक आश्रम का संचालन कर रहा था। कभी-कभी कविताएँ लिखने में भी मेरी रुचि थी—इसलिए उनके दर्शनार्थ एक सन्ध्या उनके आवास पर जा पहुँचा। वे रांची निवासी अपने एक पुराने मित्र श्री सत्यनारायण शर्मा के साथ बैठे हुये अपनी निर्माणाधीन रचना रश्मि रथी की चर्चा में लीन थे। मेरा परिचय पाकर उन्होंने अत्यन्त सहज भाव से मुझे भी अपनी उस छोटी सी गोष्ठी में सम्मिलित कर लिया और रश्मि रथी के एक सर्ग-कुन्ती कर्ण संवाद की नाटकीय पंक्तियों का पाठ करने लगे। उनका विह्वल बनाता हुआ पाठ जब कर्ण की उस उक्ति पर पहुँचा कि—

है, अभी उदय का लग्न दृश्य सुन्दर है,
सब ओर पाण्डु-पुत्रों की कीर्ति प्रखर है
अनुकूल ज्योति की घड़ी न मेरी होगी,
मैं आऊँगा जब राम अन्धेरी होगी।

मेरे कंठ से से अनायास फूट पड़ा, “मैं आऊँगा जब रात अन्धेरी होगी”—‘सुन्दर अति सुन्दर’। उन्होंने ईषत मुस्कान के साथ मेरी ओर देखकर कहा—यह पंक्ति मुझे भी बहुत पसन्द है।

उसके बाद तो वे रांची की गोष्ठियों में जहाँ-जहाँ निर्मात्रित किए जाते, सत्यनारायण शर्मा जी के माध्यम से प्रायः मुझे भी बुलवा लेते। मैं भी तुलसी जयन्ती पर उन्हें खूटी ले गया और भोजनार्थ अपने आदिवासी आश्रम में भी। एक छोटी सी गोष्ठी में मैंने उनके आदेश पर एक कविता सुनाई “नयी दुनिया”। आदिवासी जीवन के अदृश्य पिछड़ेपन की छिपायी हुई काली चादर के सन्दर्भ में—दिनकर जी पूरी एकाग्रता से उसे सुन लेने के बाद प्रसन्न भाव से बोल उठे—“इट इज ए पोयम!” बाद में जब वे पटना चले गये और अपने शिखरारोहण के क्रम में नित्य नवीन सोपानों पर कदम बढ़ाते गये तब भी उनके साथ पत्राचार का क्रम कभी नहीं रुका। उन्होंने सामान्य पत्रों के भी उत्तर तो दिये ही, आदिवासी संस्कृति संबंधी मेरी रचनाओं पर अपनी मूल्यवान् सम्मतियाँ भी दी।

अन्त में, 1971 के भारत-पाक युद्ध में अपनी ऐतिहासिक विजय के उपलक्ष्य में एच०ई०सी० रांची में, उसके प्रबन्धन की ओर से, उसके सांस्कृतिक अधिकारी के रूप में मैंने जिस विराट कवि सम्मलेन का आयोजन किया,

उसकी अध्यक्षता के लिए दिनकर जी को ही बुलाने में भी मुझे सफलता मिली थी। किन्तु तब वे हृदयाघात के रोगी बन चुके थे। उन्होंने अपने सम्बोधन में कहा भी—पहले मैं गाता था, फिर गरजता था, किन्तु अब न गा सकता हूँ न गरज सकता हूँ, अब बीमार रहता हूँ, तथापि त्रिगुणायत मुझे ले आया। फिर भी उन्होंने अपने गौरव के अनुरूप सम्बोधन तो किया ही, नील कुसुम का एक मोहक गीत भी सुनाया। फिर जमे हुए सम्मेलन के बीच में रुकवाकर और खड़े होकर कुछ विलम्ब से पहुँचे श्री केदार पाण्डेय, मुख्यमंत्री बिहार का, जो समारोह के मुख्य अतिथि थे, स्वागत किया और उनसे आशीर्वाद के भी कुछ शब्द कहवाये।

दिनकर जी की रचनाएँ मात्रा में प्रचुर, विषय वस्तु में विविधतापूर्ण और स्तरीयता में बेजोड़ हैं। उनके द्वारा विरचित कुल 60 पुस्तकों में 33 काव्य पुस्तकें और 27 गद्य ग्रन्थ हैं। कविताओं में रेणुका, हुंकार, कुरुक्षेत्र, रश्मि रथी सामधेनी, बापू, नील कुसुम और परशुराम की प्रतीक्षा से लेकर वह उर्वशी भी है जिस पर उन्हें भारत का नोबेल पुरस्कार कहा जाने वाला ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था। गद्य रचनाओं में 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी अपने ढंग की अनोखी और कालजयी रचना भी सम्मिलित है।

दिनकर जी अपने संयुक्त परिवार के भरण पोषण के सारे दायित्व के निर्वाह हेतु, आजादी के पहले तक, एक ओर, ब्रिटिश सरकार की नौकरी करने के लिए बाध्य बने रहे और दूसरी ओर उसी शासन के विरुद्ध अपनी ओजस्वी रचनाएँ लिखते और सुनाते रहे। फलस्वरूप चार वर्षों की नौकरी में ही 20 बार ट्रांसफर और ऊपर से नौकरशाही द्वारा अपमानित होते रहने की मजबूरी भी। उसी मजबूरी में, एक ओर, 'कहूँ क्या कौन हूँ, क्या आग मेरी, बन्धी है लेखनी लाचार हूँ मैं' की घुटन, दूसरी ओर, मानों उस घुटन का स्वयं ही गला घोटकर अपनी क्रान्तिकारी कवितायें सिर्फ लिखते ही नहीं, अपने ओजस्वी स्वर में देश भर में सुनाते फिरने का भी अविराम अभियान। हुंकार में संग्रहीत आलोकधन्वा, विपथगा, शिजिनी, व्याल विजय आदि धूम मचाने वाली सभी कविताएँ उसी घुटनकाल की रचनाएँ हैं और उन सबके शीश पर अपना वरद हाथ धरे 'हिमालय' तो है ही।

हिमालय से ही राष्ट्रकवि के रूप में दिनकर जी की पहली पहचान ही नहीं बनी, उनको व्यापक लोकप्रियता भी प्राप्त हुई थी। उनकी ओज भरी

वाणी में गूँजती हुई हिमालय की पंक्तियों ने स्वतंत्रता संग्राम के दिनों के अपने वरिष्ठ राष्ट्रीय कवियों के मनके में सुमेर बनाकर उन्हें सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि का आस्पद प्रदान कर दिया था—हिमालय की कुछ पंक्तियाँ—

मेरे नगपति मेरे विशाल

साकार दिव्य गौरव विराट, पौरुष के पूँजी भूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम-किरीट, मेरे भारत के दिव्य भाल।

.....

कैसी अखण्ड यह चिर समाधि? यतिवर कैसा यह अमिट ध्यान
तू महाशून्य में खोज रहा? किस जटिल समस्या का निदान।
ओ मौन तपस्या लीन यती, पल भर तो कर यह दुगुन्मेष
रे ज्वालाओं में दग्ध विकल है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

.....

तू मौन त्याग कर सिंह नाद, रे तपी आज तपी! का न काल
नव-युग शंखध्वनि जगा रही, तू जाग, जाग मेरे विशाल।

राष्ट्रकवि दिनकर ने हिमालय के साथ ही अपनी अन्य क्रान्तिधर्मी कविताएँ भी उन्हीं के अनुरूप अपनी ओजस्वी वाणी में देश भर में सुना सुनाकर उचित ही युगधर्म का पालन किया और ब्रिटिश शासन के अमानुषिक अत्याचार के विरुद्ध देश के पौरुष को जगा जगा कर उस पौरुष के चारण और बैताली बन गये थे।

हुंकार दिनकर जी की गर्जनशील और क्रान्तिकारी कविताओं का प्रतिनिधि संग्रह है। जिसके द्वारा वे माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' और सुभद्रा कुमारी चौहान आदि के साथ राष्ट्रीय कवियों की अगली कतार में खड़े दिखाई देने लगे। वे हिन्दी मंच पर छायावादी युग की कुहेलिका को फाड़कर उदित हुए थे और जैसा कि स्वयं ही कहा था, मैंने मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी की शैली अपनायी थी। किन्तु छायावाद ने हिन्दी को अपनी कोमलकान्त पदावली द्वारा सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति की जो क्षमता प्रदान की थी, उसे भी मुक्तकंठ से स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा था—'छायावाद ने अपनी मुट्ठी में लेकर गुलाल जिधर को फेंका, उधर का ही क्षितिज लाल हो गया।'

उनकी प्रसिद्ध रचना विपथगा—यानी राह-कुराह कहीं भी चल पड़ने वाली

क्रान्ति, एक उद्दाम वेग वाली नर्तकी के रूप में अपना परिचय दे रही है—

अँगड़ाई में भूचाल सांस में लंका के उन्वास पवन
मेरे मस्तक के आत-पत्र खर काल सर्पिणी के शतफन
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर चन्दन
आंजा करती हूँ चिता धूम का दृग में अन्ध तिमिर अंजन
संहार लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन
पायल की पहल धमक विश्व में कोलाहल छा जाता है।

उठते जिस ओर चरण मेरे भूगोल उधर दब जाता है।

स्वतंत्रता संग्राम की चुनौतियों का आवेश उतर जाने के कुछ अन्तराल के बाद, चोर दरवाजे से आ घुसी हुई एक नयी चुनौती मिल जाने पर परशुराम की प्रतीक्षा में भी उनकी वही ललकार उभरी है।

किन्तु दिनकर की भाव सम्पदा का फलक और भी विशद और विशाल है, जिसने उनकी विशिष्ट प्रतिभा और सूक्ष्मदर्शी दृष्टि का सहारा पाकर राष्ट्रीय संस्कृति और उसके ऊँचे आदर्शों और मूल्यों से और भी ऊँची समृद्धि प्राप्त की है। 'रश्मिर्थी', 'कुरुक्षेत्र' और 'बापू' उस नयी धारा की अद्वितीय और विशिष्ट रचनाएँ हैं, जो पुराने कथानकों का पुनर्वाचन न होकर नये अर्थों के नये अनुसंधान का शंखनाद बन गयी हैं।

'रश्मिर्थी' में दिनकर ने कर्ण की महाभारतीय कथानक से ऊपर उठाकर उसे नैतिकता और वफादारी की नयी भूमि पर खड़ा करके जिस गौरव से विभूषित कर दिया उसका एक नमूना—

एक ओर दुर्योधन की राज्यसभा से विफल मनोरथ लौटते हुये कृष्ण द्वारा सामने आ गये कर्ण को दिये गये अपने कुल में लौट आने के प्रस्ताव पर, वह दुर्योधन के साथ अपनी सच्ची मैत्री और अपने ऊपर उसके अनन्त उपकारों का हवाला देकर जिस कृष्ण को निरुत्तर कर देता है, उसी लीला बिहारी को, किरणों के रथ पर आरूढ़ होकर गगन की ओर प्रस्थान करने के उपरान्त धरती पर शोक विह्वल छोड़ जाता है।

कर्ण के निधन के बाद विजयी पाण्डव सेना जब शिविर में लौटती है तब युधिष्ठिर राहत की सांस लेते हुए कहते हैं—केशव, यह हमारी बहुत बड़ी विजय है, मुझे तो विश्वास ही नहीं था कि अर्जुन इस प्रबल शत्रु से भी हमें निस्तार दिला देगा। उत्तर में कृष्ण की विह्वल वाणी फट पड़ती है।

उदासी में भरे भगवान बोले, न भूलें आप केवल जीत को लें।

+ + +

बचन का निष्कपट, पावन क्रिया का, दलित तारक समुद्धारक त्रियाका
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था, युधिष्ठिर, कर्ण का अद्भुत हृदय था
समझ कर द्रोण मन में भक्ति भरिए, पितामह की तरह सम्मान करिए
जगत से ज्योति का जेता उठा है, मनुजता का नया नेता उठा है।

दिनकर ने बापू की नोआखाली की ऐतिहासिक यात्रा पर बापू के ही शीर्षक से जिस खण्ड काव्य की रचना की वह उनकी काव्य यात्रा में उनके द्वारा एक नयी अलंघ्य ऊँचाई की ओर कदम बढ़ाने का प्रमाण है। देश के बँटवारे के समय अचानक उभर आये साम्प्रदायिक उन्माद के विरुद्ध, जब लम्बे स्वतंत्रता संग्राम के समय की देश के पुरुषार्थ की ऊपर उठी हुई मशाल बुझ-सी गई और उस उन्माद से मोर्चा लेने में दो ही शक्तियाँ प्रयत्नशील दिखाई देती रहीं—पश्चिम में ब्रिटिश शासक लार्ड माउण्टबेटेन द्वारा भेजी गई पचास हजार सैनिकों की, सैन्य साज-औ-सामान से लदी फंदी विशाल सेना और पूरब में अकेले ओर निहत्थे महात्मा जी का आत्मबल, उस अवसर पर बापू ने सर्वाधिक आक्रान्त बंगाल के नोआखाली में जाकर सिर्फ अपने आत्मबल के ही सहारे पूर्ण शान्ति के स्थापना कर दी, जिसे देखकर स्वयं ब्रिटिश गवर्नर जनरल माउण्टबेटेन को कहना पड़ा—पंजाब में भेजी गई हमारी विशाल सेना की अपेक्षा बंगाल में मिस्टर गाँधी की एक व्यक्ति की टुकड़ी (वन मैन बटालियन) अधिक कारगर सिद्ध हुई। बापू की वही नैतिक शक्ति थी, जिसने इस बार इस नयी रचना में कविवर दिनकर को अपना बैताली बना दिया। उस एक व्यक्ति की टुकड़ी के हरबा हथियार क्या थे—

सारे सम्बल के तीन खण्ड, दो बसन एक सूखी लकड़ी,

सारी सेनाओं की प्रतीक पीछे चलने वाली बकरी।

नोआखाली में उस नरसंहार, लूटपाट और अग्निदाह के ताण्डव के बीच का सर्वाधिक घृणित परिदृश्य है नारियों पर अकथनीय ढंग का अनाचार। कवि के शब्द हैं—

लपटों से लज्जा ढँको कहाँ हो धधको धधको घोर अनल

कब तक ढँक पायेंगे उसको रमणी के दो छोटे करतल?

और बापू हैं, जो उसी भयानक मोर्चे पर अकेले ही आगे बढ़ते जा रहे हैं—

बापू आगे जा रहे तिमिर की बाढ़ निघटती जाती है
सहमी सहमी सी अनी तिमिर की पीछे हटती जाती है
सत्य अहिंसा और नैतिक शक्ति का, अदम्य संकल्प शक्ति का, यह
अनदेखा दृश्य विश्व पहली बार देख रहा है—

दुनिया ने चाहा प्रश्न करे, क्या कहिये इस दीवाने को
दो बूंद सुधा लेकर निकला है जग की प्यास बुझाने को
पर तू न रुका सीधे अपने निर्दिष्ट पंथ पर जा निकला
पद चिन्हों को देखते हुये पीछे पीछे इतिहास चला।

बापू लिख लेने के बाद, बापू उस परम संवेदनशील कवि के अन्तस्तल में
इस प्रकार उतर आये थे कि उनकी जघन्य हत्या के उपरान्त पूरे राष्ट्र की समवेत
पीड़ा, उन दिनों जितनी ध्वनित दिनकर जी के लिखे शोकगीत में हुई थी, उतनी
किसी अन्य शोकगीत में नहीं। कुछ पंक्तियाँ—

लौटो लौटो निर्धन के धन, लौटो लौटो निर्बल के बल,
लौटो वसुधा के अमृत कोश, लौटो भारत के गंगाजल।
किस्मत का पट है तार तार, हा! इसे कौन सी पायेगा?

बापू लौटो, यह देश तुम्हारे बिना नहीं जी पायेगा।

अन्ततः, दिनकर जी अपनी बुलन्द आवाज को भी गाँधी की महीन आवाज
के समक्ष समर्पित कर देने की धन्यता प्राप्त कर लेते हैं। वे 'हारे को हरिनाम'
की 'गाँधी' कविता में कहते हैं—

जड़ता को तोड़ने के लिए कोई भूकम्प लाओ
कोई तूफान उठाओ कवि
गरजो गरजो गरजो
सोचता हूँ कब गरजा था
जिसे लोग मेरा गर्जन समझते हैं,
वह असल में गाँधी का था
उस आदमी का, जिसने हमें जन्म दिया था
तब भी हमने गाँधी के तूफान को ही देखा, गाँधी को नहीं
वे तूफान और गर्जन के पीछे चलते थे
तूफान मोटी नहीं महीन आवाज से बनता है
गाँधी तूफानों के भी पिता और बाजों के भी बाज थे

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

क्योंकि वे नीरवता की आवाज थे।

'कुरुक्षेत्र' उनकी श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। उसे नये युग की गीता कहा
गया है। कुरुवंश के सर्वनाशकारी युद्ध के प्रारम्भ में ही जिस प्रकार मोहग्रस्त
अर्जुन को उसके कर्तव्य का बोध कराने के लिए, सारथी कृष्ण ने गीता द्वारा
कर्मयोग का उपदेश दिया था, उसी तरह उस विनाशकारी युद्ध की समाप्ति पर
शोक और क्षोभ में डूबे हुए युधिष्ठिर को, शर-शैल्या पर लेटे हुए भीष्म ने युद्ध
और शान्ति, हिंसा और अहिंसा का स्वरूप तथा अन्याय के प्रतिकार का
तर्कसंगत उपाय बताकर उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं
उस विनाशकारी युद्ध के कारणों की पड़ताल के क्रम में पितामह ने स्वयं को
भी नहीं बख्शा—

धर्मराज, अपने कोमल भावों की कर अवहेलना
लगता है, मैंने भी जग को रण की ओर ढकेला।

दिनकर जी ने रीतिकालीन कवित्त छन्द में नयी जान फूंककर उसके द्वारा
कुरुक्षेत्र को और भी जीवन्त बना दिया—शोकाकुल युधिष्ठिर के उद्गार हैं—

सुलभ हुआ है जो किरिटी कुरुवंशियों का

उसमें प्रचण्ड कोई दाहक अनल है

अभिषेक से क्या पाप मन का धुलेगा कभी

पापियों के हित तीर्थ वारि हलाहल है

विजय कराल नागिनी सी डंसती है हमें

इससे न जूझने का मेरे पास बल है।

ग्रहण करूँ मैं कैसे बार बार सोचता हूँ

राजसुख लोहू भरी कीच का कमल है।

और उर्वशी तो, निर्विवाद रूप से उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। एक
समीक्षक के शब्द हैं—पुरस्कार, पदक, पद्मभूषण और ऊँचे पद तो बहुतों को
मिलते हैं, किन्तु कौन लिख सकता था उर्वशी, प्रेम के अगोचर छोरों को छुवे
बिना।

मैं तुम्हारे वाण का बीधा हुआ खग, बक्ष पर धर शील मरना चाहता हूँ
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूँ, प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ
दिनकर जी सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि थे। उन्होंने पोलैण्ड, चीन, सोवियत
और इंग्लैण्ड आदि देशों में भी राष्ट्र का प्रतिनिधित्व किया था। उसी वर्ष जब

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

भारत में गणतंत्र की स्थापना हुई थी, पोलैण्ड ने अपने राष्ट्रकवि की पुण्य तिथि की शताब्दी के अवसर पर विश्व के सभी प्रमुख देशों से अपना एक प्रतिनिधि कवि भेजने का निवेदन किया था। भारत सरकार ने अपने प्रतिनिधि कवि के रूप में दिनकर जी को चुना। उन्होंने उपराष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन से आग्रह करके प्रसिद्ध शायर खुमार बाराबंकी को भी अपने साथ ले लिया। वारसा में अतिथि कवियों के काव्यपाठों और पोलिश विदुशियों द्वारा उनके भाषान्तरों के सप्ताह भर के रंगारंग समारोहों के अतिरिक्त, कवि समूहों की निजी बैठकें भी आयोजित हुआ करती।

एक शाम ब्रिटिश प्रतिनिधि ने अपने दूतावास में अपनी पसन्द के कई कवियों को निमंत्रित किया और सबसे पहले भारतीय प्रतिनिधि को ही लक्ष्य करके विरचित अपनी नई कविता—जब अंगरेजों ने इण्डिया गेट में प्रवेश किया—सुनाई। निहितार्थ था—तभी से भूत-प्रेतों के उपासक और संपेयों के खेल के युग में रह रहे उस देश में सभ्यता की किरणें फूटें। भारत के तिलमिला उठे राष्ट्रकवि ने अन्य कवियों के काव्य पाठ के दौर में ही, जैसे को तैसा के अन्दाज में, उन्हीं की भाषा में एक तीखी कविता लिख ली और अपनी बारी आने पर पढ़ कर सुना दी—जब अंगरेजों ने इण्डिया गेट छोड़ा। निहितार्थ था, तभी से ब्रिटिश साम्राज्य का कभी नहीं डूबने वाला सूरज तो डूब गया ही, उसे हमेशा के लिए कभी भी अपनी ही अधीनता की एक नई शक्ति का असहाय पिछलग्गू बनकर रह जाना पड़ा। वह छोटी सी गोष्ठी जिन जोरदार तालियों की जोरदार आवाज से गूँज उठी थी उसमें ब्रिटिश कवि की भले ही शरमायी और मरी हुई ताली भी शामिल होगी ही।

दिनकर का ओजस्वी कवित्व तो अपनी जगह, वे जहाँ भी जाते उनका साकार दिव्य गौरव विराट का प्रतिरूप व्यक्तित्व भी कम प्रभाव नहीं छोड़ता। जब वे एक सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडल के नेता के रूप में मास्को में थे, तब रामचरित मानस के यशस्वी रूपान्तरकार मिखाइल वारान्निक्वोव उनसे मिलने आये और अपने घर पर भोजन के लिए निमंत्रित कर गये। उस महान भारत प्रेमी की बैठक की दीवारें भारत के कतिपय जिन महान साहित्यकारों के आदमकद चित्रों से सजी थीं, उनमें से एक दिनकर का भी था। वारान्निक्वोव की श्रीमती जी ने चुटकी ली—दिनकर जी, जो भी महिला हमारे घर आती है, पूछे बिना नहीं रहती कि यह व्यक्ति कौन है? उधर वह महान रामायणी भी अपनी श्रीमती के समर्थन

में मुस्कराये बिना नहीं रह सका।

दिनकर जी ने राष्ट्रपिता के अवसान के बाद, उनके प्रति अपने मार्मिक शोकोद्गार की तरह ही अब जनता, की आशाओं के एकमात्र केन्द्र के रूप में अभिषिक्त पण्डित नेहरू के प्रति भी 'जनता और जवाहर' नामक अपनी मार्मिक कविता में पूरे राष्ट्र की भावनाओं को वाणी दी थी—

इस घटाटोप अधियाले में आशा के दीपक एक शेष
जनता के ज्योतिर्नयन तुम्हें ही देख देख जी रहा देश।
झूलता तुम्हारी आँखों में जो स्वप्न हमारी आशा है।
कहते हो जो कुछ वही आज भारत भर की अभिलाषा है।
है खड़ा तुम्हारा देश, जहाँ भी चाहो, वहीं इशारों पर
जनता के ज्योतिर्नयन बढ़ाओ कदम चाँद पर तारों पर।

नेहरू के प्रति उनकी प्रसिद्ध रचना 'लोकदेव नेहरू' तो एक जीवन्त रचना है ही और उन्होंने भारत में गणतंत्र की स्थापना के अवसर पर 'जनतंत्र का जन्म' नामक जो मार्मिक कविता लिखी थी वह तो राजनीतिक उखाड़-पछाड़ की उमस में एक प्राणवायु के झंकारों की तरह न केवल आज भी सहृदयजनों को सिहरा जाता है वरन आगामी युगों के लिए भी एक आशामय और प्रेरणाप्रद मुहावरा बनकर जीवित रहेगा। चन्द्र पंक्तियाँ—

सदियों की ठंडी बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है,
दो राह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

एक बार श्रीमती महादेवी वर्मा के नेतृत्व में हिन्दी के आठ बड़े साहित्यकारों का एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधिमण्डल दक्षिण भारत की यात्रा पर गया था। उनके लौटने के चन्द्र दिनों बाद मुझे संयोगवश प्रयाग जाने का अवसर मिला। महादेवी जी के दर्शनार्थ उनके आवास पर जाकर जब मैंने उस अभियान के बारे में पूछा तो वे गद्गद भाव से बोल उठीं—सब जगह हमें बड़ा सम्मान मिला। दिनकर जी की जो सर्वत्र जयजयकार होती रही।

और अन्त में सिर्फ दो मित्रों—श्री गंगाशरण सिंह और इण्डियन एक्सप्रेस के संचालक श्री रामनाथ गोयनका की तीर्थयात्री टोली के साथ दिनकर जी तिरूपति गये। वहाँ बालाजी मन्दिर में काव्यप्रेमियों के आग्रह पर उन्होंने जो

कविता सुनाई वह थी रश्मि रथी की, दुर्योधन की सभा में उसके द्वारा उन्हें बांध लेने की धमकी के उत्तर में कृष्ण द्वारा दिखाये गये अपने विराट रूप की झांकी। तिरूपति के मन्दिर में काव्य पाठ के बाद वे साथियों के साथ मद्रास आये। वहाँ सीने में दर्द होने पर आधी रात में श्री गोयनका स्वयं गाड़ी चलाकर उन्हें अस्पताल ले गये। वहीं हृदयगति रुक जाने से वह विभा पुत्र, स्वयं ही 24 अप्रैल 1974 को विभा लोक को प्रस्थान कर गया। दोनों सहयात्री सिर्फ उनका पार्थिव शरीर लेकर दिल्ली के रास्ते पटना लौटे। गंगाशरण सिंह द्वारा उस अन्तिम काव्य पाठ के बारे में कहे गये शब्द थे—‘कितनी बुलन्द आवाज थी उस दिन उनकी। कैसा तेजोमय रूप था। उतना अपूर्व तेज मैंने पिछले चालीस वर्षों में कभी भी उनके चेहरे पर नहीं देखा था।

भूलोक अतल पाताल देख, गत और अनागत काल देख

वह देख जगत का आदि सृजन, वह देख महाभारत का रण।

मृतकों से पटी हुई भू है, पहचान कहाँ उसमें तू है।

दिनकर जी ने अपने असामयिक प्रयाण द्वारा अपनी वफादारियों की जो कीमत चुकाई थी, उसके उल्लेख के बिना यह दास्तान अधूरी रह जायेगी। वे वफादारियाँ थीं, एक ओर किसी भी यशस्वी साहित्यकार के लिए स्पृहणीय उसकी प्रचुर और उच्चस्तरीय साहित्यसेवा और दूसरी ओर अपने संयुक्त परिवार के योग क्षेम के लिए अपने दायित्व निर्वाह की अचूक तत्परता और उस तत्परता का भी सर्वाधिक अतुलनीय और अभिनन्दनीय पक्ष—पूरे कुनबे की बारह कन्याओं—छः भतीजियों, दो पुत्रियों और चार पौत्रियों का विवाह सम्पन्न कराने के व्रत का पालन।

उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही विरचित कविता—‘कालिका से बधू’, मानो उनके अन्तस्तल में निरन्तर प्रतिध्वनित होकर उनका ऐसा व्रत बन गई थीं, कि उन्होंने उन सभी कन्याओं का विवाह विधिवत सम्पन्न करा देने के प्रयत्नों में तनिक भी त्रुटि नहीं आने दी। कविता के कुछ पद द्रष्टव्य हैं—

माँ की ढींठ दुलार पिता की ओ लजवन्ती भोली

ले जायेगी हिया के मनिको अभी पिया की डोली

मंगलमय हो सदा सुहागिनि यह मेरा वरदान

हरसिंगार की टहनी से फूलें तेरे अरमान।

पल पल मंगल लगन जिन्दगी के दिन दिन त्योहार

उर का प्रेम फूटकर हो आंचल में उजली धारा।

उस अद्वितीय व्रत का पालन भी तब, जब जवान बेटे की आकस्मिक मृत्यु, लगातार के गृह कलह और निरन्तर तनावों के कारण—“साकार दिव्य गौरव विराट, पौरुष का पूँजीभूत ज्वाल का प्रतिरूप शरीर एक व्याधि मन्दिर बनकर रह गया था मधुमेह, रक्तचाप, एक हलका पक्षाघात भी, सो गनीमत थी कि छूकर ही चला गया था और सबसे बढ़कर हृदयाघात कप पहला झटका। सबके बावजूद लगातार यात्रायें। ये सारी परेशानियों वफादारियों की कीमतें ही तो थीं और वफादारी की वह अन्तिम कीमत, उस महान कवि कर्मयोगी की शहादत नहीं थी तो और क्या थी? अन्त में उन्हीं की एक सूक्ति द्वारा, जिसने अपने संदर्भ के साथ ही, सम्पूर्ण भारतीय काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में उनके उद्भव को भी एक युगान्तकारी घटना की सार्थकता प्रदान कर दी है।

—इस महावृक्ष पर एक पत्र सदियों के बाद निकलता है।

वो कवि यही थे विजय बहादुर सिंह

कवि दिनकर की कविता ने मुझे नए सिरे से गरीबी का बोध कराया और याद दिलाया कि गरीबी एक हद तक उसी अमीरी के चलते है जो अनियंत्रित और अबाध भोग-विलास में इन्द्र की तरह विश्वास करती है। अमीर लोग अगर अपनी अमीरी और शानो-शौकत के ताम-झाम कम कर लें तो जीवन के संसाधनों पर उनका बोझ थोड़ा कम हो जाएगा और वितरण समानता की ओर बढ़ने लगेगा। गांधी जी ने इस संदर्भ में ट्रस्टीशिप की बात सोची होगी कि भारत के धन-कुबेर अपनी अकूत संपदा का एक लोक न्यास (पब्लिक ट्रस्ट) बनाएँ जिसका उपयोग व्यापक जन-बिरादरी के पक्ष में किया जा सके। कवि दिनकर की कविता मुझे यह संदेश दे रही थी कि असमानता घटने की बजाय निरंतर बढ़ रही है, इस तरह आर्थिक दुराचार और अत्याचार बढ़ रहा है और इस अहम मुद्दे पर सोचा जाना बेहद जरूरी है।

कविता या साहित्य को लेकर मेरी अपनी कोई खास समझ नहीं बनी थी, इतना जरूर था कि कविता मन की सबसे पवित्र और खूबसूरत आवाज है जो छंदोबद्ध होकर प्रकट हुआ करती थी। यह तो बचपन से ही सुनता आ रहा था कि कवि की आँख वहाँ तक देख लेती है, जहाँ तक सूरज की किरणों की आँखें भी पहुँच नहीं पातीं। कवि ने इस कविता में आजादी के बाद बढ़ती हुई विषमता के इस ग्राफ को देख लिया था। निश्चय ही इस विषमता का एक कारण वह साम्राज्यवादी, उपनिवेशवाद भी था जिसने हमारे सोचने-समझने ही नहीं, जीवन जीने के बुनियादी तौर-तरीकों को बदल दिया था। हमारी सोच पर एक परदेशी विचार-प्रवाह हावी हो चुका था। खासतौर से उच्च, अतिउच्च और मध्यम वर्ग के धनपतियों, बुद्धिजीवियों, राजनेताओं, पत्रकारों, वकीलों, डॉक्टरों

की एक नई जमात बन चुकी थी, गांधी के बावजूद।

दिनकर जी तब राज्यसभा में आ चुके थे जब मैं साठ-इकसठ में बी०ए० का छात्र था और कलकत्ता के विद्यासागर कॉलेज में पढ़ता था। मेरे हिन्दी अध्यापक, जिनकी अध्यापन कला के प्रति आकृष्ट होकर मैंने हिन्दी अध्यापक होने का अपना सपना पाला था, पं० रघुनंदन मिश्र ने एक दिन यह सुझाव हम छात्रों के सामने रखा कि क्यों न तुलसी जयन्ती पर दिनकर जी को बुलाया जाय। चूँकि वे राज्यसभा में हैं, अतः उनके आने-जाने का कोई खास खर्च उठाना नहीं पड़ेगा और थोड़ी-सी दक्षिणा में आयोजन का रंग चोखा हो उठेगा। हुआ भी यही। वे आए और आयोजन अविस्मरणीय रहा। पर जो बात मुझे अब तक याद है वह यही कि ट्रेन के एसी कोच से उतर टैक्सी में बैठते ही उन्होंने न जाने क्यों गांधी के प्रति अपना क्षोभ इन शब्दों में प्रकट करना शुरू किया (संभवतः नेहरू की अपनी मैत्री और निकटता के चलते) 'गांधी! गांधी कहते हैं कि शादी तो करो पर बच्चे मत पैदा करो। बच्चे नहीं पैदा करना है तो शादी ही क्यों करो।' कवि का यह क्षोभ जितना गांधी को लेकर था उसकी जद में नेहरू के बाद के सबसे लोकमान्य नेता जयप्रकाश के उस जीवन को लेकर भी जिन्होंने विवाह तो किया पर बच्चे पैदा नहीं किए। दिनकर जी के बयान का अर्थ अब समझ में आता है कि गांधी कुछ अव्यावहारिक थे और कुछ आदर्शवादी भी। नेहरू व्यावहारिक थे और जमीन पर थे। नेहरूमय दिनकर को सुनते हुए मैं चकित था। तब तक मुझ में इतनी समझ नहीं आई थी और न हिम्मत, कि मैं उनसे कुछ पूछ पाता; फिर वे हमारे मेहमान भी थे। हम पं० रघुनंदन मिश्र, मधुसूदन सिन्हा, जमुना पाण्डेय के साथ साहू शांति प्रसाद जैन के निवास की ओर उन्हें लेकर जा रहे थे, जहाँ उन्हें ठहरना था। यह वही दिनकर थे जिन्होंने 'कस्मैदेवाय' कविता लिखी थी। मेरे मन में एक तूफान सा मचा हुआ था। फिर भी मेरे होंठ बन्द थे।

दिनकर जी को पढ़ने का एक और मौका मुझे तब मिला जब मैं सन् '61 में बी० ए० कर चुकने के बाद हिन्दी से ऑनर्स करने में प्रवृत्त हुआ। याद है मुझे तब पं० श्रीकान्त उपाध्याय प्रोफेसर थे। मैं उनके पास यथा सुविधा जाया करता और वे मुझे साहित्य को समझने के कुछ गुर बताया करते।

श्रीकान्त जी के साथ अपनी उन बैठकों को कभी भूल नहीं पाता। वे मुझमें जैसे कोई होनहार संभावना देखा करते और इसलिए सचेत भी किया करते।

दिनकर का कुरुक्षेत्र, शेखर: एक जीवनी (अज्ञेय), प्रसाद का चन्द्रगुप्त नाटक मेरे पाठ्यक्रम में थे। कविताएँ तो ढेर सारी थीं। बच्चन की वह कविता 'तीर पर कैसे रुकूँ मैं आज लहरों का निमंत्रण' तो मुझे आज भी आन्दोलित करती है। सबसे अधिक कुरुक्षेत्र का वह छठा सर्ग जिसमें दिनकर भगवान से धर्म और न्याय की याचनाओं का एक पूरा ज्वार-समूह लेकर खड़े हैं: कब जलेगा, कब जलेगा की भाव-मुद्रा में विकल और आतुर होकर दया और धर्म की संस्थापना की माँग करते हुए। उसी कुरुक्षेत्र की, मुझे, पहली बार ये पंक्तियाँ भी डुबो गईं—

धर्मराज! यह भूमि नहीं है, क्रीत किसी को दासी
हैं जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी
पापी कौन मनुज का उससे न्याय चुराने वाला
या कि न्याय माँगते विश्व का शीश उड़ाने वाला
क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो
उसको क्या जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।

यह वह कविता थी जो सीधे-सीधे मेरे मन पर उतरा करती थी। इसके कहने में गहरी अर्थवत्ता और जबर्दस्त सादगी थी। ऐसी अभिव्यक्ति जिसकी ताकत प्रत्यक्षता हो। मुझे याद है उन दिनों मैथिलीशरण गुप्त के बाद दिनकर ही मेरे सबसे प्रिय कवियों में से थे। ये सब अभिधा किन्तु गहरे राष्ट्रीय सन्दर्भों के कवि थे। जमाना करवटें ले रहा था और ये सब चाह रहे थे कि पुराने हिन्दुस्तान की कोख से एक ताजा, खूबसूरत और न्यायसम्मत बलशाली भारत निकलकर साकर हो ले। उनमें लोक को जगाने की अद्भुत ताकत थी और उसे उसकी ताकत की याद दिलाने की भी। यह तब और भी प्रमाणित हुआ जब 1974-75 में संपूर्ण क्रान्ति वाले जन आन्दोलन में उनकी पंक्ति 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' एक प्रमुख नारा बनी।

मेरे किशोर काल और जवानी की शुरूआती सीढ़ियों पर जिस एक कवि ने भारी पकड़ बना रखी थी— वो कवि यही थे। बाद में तो 'परशुराम की प्रतीक्षा' भी आई। फिर 'उर्वशी' भी। 'रश्मिस्थी' तो उन्हीं दिनों पढ़ चुका था। जोश और जवानी का यह तेवर मधुशाला के कवि बच्चन से अलग किस्म का था। यों मधुशाला भी मुझे कम प्रिय नहीं थी। पर उन दिनों अगर किसी एक ही कविता पुस्तक को चुनना पड़ता तो निश्चय ही वह कुरुक्षेत्र होती।

'कस्मैदेवाय' में दिनकर वैदिक चेतना वाली भाषा से अपना शीर्षक लेकर आए थे। 'कुरुक्षेत्र' तो गीता (महाभारत) से आया हुआ सर्वविदित शब्द है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत मैथिलीशरण गुप्त की चेतना में भी थे, दिनकर की भी। पर दिनकर के पास जो ताजा यथार्थ-अनुभव और राजनीति-बोध था वह गुप्त जी के यहाँ कहाँ? दिनकर की ये फौरी संवेदनाएँ मुझे आकृष्ट किया करतीं। मुझे आज भी लगता है कि कविता का एक काम उस वातावरण को पैदा करना भी है जिससे एक युगान्तरकारी आन्दोलन अपनी भाव-ऊर्जा ग्रहण कर सके। दिनकर की कविताओं ने यह ऐतिहासिक योगदान नहीं दिया, इसे कौन कहने की हिमाकत करेगा? वे उस समय के बेहद साफ-सुथरे, दो-टूक अंदाज वाले निर्भ्रान्त कवि हैं जिनमें जबर्दस्त जन-पक्षधरता, सामाजिक न्याय की माँग और आदर्श लोकतंत्र की आकांक्षा है। ये बातें आज भी अप्रासंगिक नहीं हुई हैं। आज भी इन पर विचार करने की जरूरत तो है ही।

दिनकर का संस्कृति-विमर्श

परमानंद श्रीवास्तव

भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत का आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। -जवाहर लाल नेहरू

दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' के तीसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है-'साहित्य की ताजगी और वेधकता जितनी शौकिया लेखक में होती है उतनी पेशेवर में नहीं होती। कृति में प्राण उड़लने का दृष्टांत बराबर शौकिया लेखक ही देते हैं। थरथराहट, पुलक और प्रकम्प, ये गुण शौकिया की रचना में होते हैं।...संस्कृति का इतिहास शौकिया शैली में ही लिखा जा सकता है।' दिनकर ने प्रभावशाली ढंग से दिखाया है कि भारतीय संस्कृति सामाजिक-सामासिक संस्कृति है। आर्यों से पूर्व द्रविड़ सभ्यता भी भारतीय संस्कृति का स्पेस बनाती है। उदार-अनुदार-सहिष्णु-असहिष्णु को एक साथ इस संस्कृति-विमर्श में देखा जा सकता है। औद्योगिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को समावेशी बनाती है। भारतीय चिन्तन पद्धति में जो फाँक है, वह भी भारतीय अस्मिता का हिस्सा है।

'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर बुद्ध से पहले के हिन्दुत्व, बौद्ध धर्म के उदय, वैदिक-बौद्ध संस्कृति के विवाद, बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव, बौद्ध आंदोलन की सामाजिकता, हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई सम्बंध, भक्ति आंदोलन और इस्लाम, सिक्ख धर्म, कला-शिल्प पर इस्लाम के प्रभाव, उर्दू के जन्म, यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव, ब्रह्म समाज और नवजागरण, ब्रह्म विद्या समाज,

तिलक-अरविंद-गाँधी के अवदान, इकबाल, भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान जैसे विषयों पर विचार करते हैं। दिनकर सेकुलर मानसिकता के चलते उग्र हिन्दुत्व, इस्लामी कट्टरपन की तीखी आलोचना करते हैं। दिनकर की दृष्टि में मुसलमान आठवीं सदी में आये। जरथुस्त्र के नये धर्म विमर्श से एक नयी संस्कृति संभव हुई। पौराणिक हिन्दू धर्म निगम-आगम के द्वैत पर आधारित था।

शुद्ध आर्य या शुद्ध भारतीय संस्कृति जैसी अवधारणा का खंडन करते हुए दिनकर हजारी प्रसाद द्विवेदी से सहमत जान पड़ते हैं कि आर्य-अनार्य, शक, यवन, हूण, आभीर, मंगोल, मुस्लिम मिलकर भारतीय संस्कृति को रूप देते हैं। जनविज्ञान सभी जातियों का आईना है। हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, असमी, गुरखाती, कश्मीरी-सभी आर्य भाषाएँ हैं जो संस्कृत परम्परा से जुड़ी हैं। आर्य भाषाओं का सम्बंध हिन्द-जर्मन भाषा समूह से है। प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी आदि भाषाओं का संस्कृत से बहुत पुराना सम्बंध है। भारत की जनता अकारण ही बहुभाषी नहीं है। सबसे पहले भारत में नीग्रो आये। आर्यों की शाखाएँ यूरोप-ईरान की ओर चलीं।

ऋग्वेद के उषासूक्त से जो भक्ति की झलक मिलती है वह महान आंदोलन का हिस्सा बन गयी। देवासुर संग्राम इसी लोक में घटित हुआ। लिपियाँ भी सांस्कृतिक घालमेल से बनीं। उत्तर दक्षिण की एकता आज की नहीं है। भारत में संस्कृत का उच्चारण तमिल और संस्कृत के बीच के सम्बंध की देन है। बहुपत्नी प्रथा बहुत पुरानी है। शूद्र भी उत्तम गुणों के कारण ब्राह्मण के समकक्ष है। आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं के मेल से हिन्दू संस्कृति का उदय हुआ। मुनि पत्नियों में से कई शूद्र कुल से उत्पन्न थीं। राधा भक्ति के साथ शृंगार लीलाएँ जुड़ी हैं। सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वैदिक युग में ही पूज्य मानी जा चुकी थीं। आर्य आर्येतर जातियों से शैव धर्म अस्तित्व में आया। हिन्दू पुराणों में कथा-उपकथाओं का भण्डार है। सिन्दूर अनार्यों से प्रसाधन का अंग बना। अब वह हिन्दू घरों में सौभाग्य का प्रतीक है। केश सज्जा के नये से नये रूप द्रविड़ों से आये।

दिनकर मानते हैं कि हिन्दुत्व में जितना ही बदलाव आता है वह मूल के निकट चला जाता है। बहुदेववाद वेदों से आया। अहिंसा जैन धर्म से आयी। उसी अहिंसा से अनेकान्तवाद आया। बुद्ध ने वैदिक धर्म से जन्मान्तरवाद, कर्मफलवाद ले लिया। बौद्ध मत के निर्वाण की व्याख्या हिन्दू धर्म में मिल

जाएगी। बौद्ध धर्म के अंत के बाद देश में मठ, विहार, भिक्षुणियाँ होने लगीं, जिससे एक तरह की अराजकता पैदा हुई। बुद्ध ने माना कि गार्हस्थ्य धर्म का त्याग करके ही भिक्षु होना संभव है। बुद्ध के कारण करुणा मैत्री का महत्व बना। बुद्धत्व शंकर मत के निकट है। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध ही कहा गया। भारतीय संस्कृति ने जातिवाद को कभी मान्यता न दी। बौद्ध धर्म में जातिवाद को ध्वस्त कर दिया गया। पुरोहितों ने वर्णाश्रम व्यवस्था का अपने पक्ष में गलत इस्तेमाल किया। निर्गुण पंथ में शूद्र ही संत बने। यह एक नई क्रांति थी। भक्ति आंदोलन में सभी धर्ममत अभिन्न हो उठे। यों ही नहीं, कि बालीद्वीप में भारतीयता बराबर सक्रिय रही। रामायण महाभारत वहाँ कालजयी कृति के रूप में मान्य हुए। कृष्ण का रसिक रूप बाद में आया। वामाचार साथ ना के कारण शाक्त मत बदनाम हुआ पर मूलतः वह अद्वैत दर्शन ही था। तांत्रिकों वज्रयानियों की साधना बाद में विकृत हुई।

अमीर खुसरो ने हिन्दी उर्दू का भेद मिटा दिया। दिनकर ने उनकी भारत-भक्ति को महत्व दिया है। सूफियों ने इस्लाम मत को उदार बना दिया। दिनकर ने अमीर खुसरो को हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी कहा है। कबीर का कथन इसका साक्ष्य है :

*सुर, नर, मुनि औ औलिया, ये सब बेलें तीर,
अलह-राम की गति नहीं, तहँ घर किया कबीर।*

*हिन्दू ध्यावे देहरा मुसलमान मसीज
जोगी ध्यावे परम पद, जहँ देहरा न मसीज।*

तसव्वुफ का भारतीयकरण इसी भारतीय सामंजस्य के चलते हुआ। जायसी का 'पद्मावत' इसका प्रमाण है। सूफी काव्य फारसी लिपि में मिलते हैं पर ये कहानियाँ हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कहानियाँ हैं।

हिन्दी के मुसलमान कवियों पर दिनकर ने अलग से लिखा है। खुसरो, कबीर, जायसी, कुतुबन, मंज़न, उसमान, रहीम, रसखान, नजीर अकबराबादी-यह लम्बी परम्परा है। ताज मुसलमान थीं पर कह सकती थीं-

*नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पे
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं*

दिनकर मानते हैं कि अकबर का मन पूरी तरह सूफियाना था। वह हिन्दुत्व-इस्लाम को एक करने में सफल हुआ। दिनकर मानते हैं - भारतीय

वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ के मेल से कबीर की तरह नानक का विकास हुआ। सिक्ख मत, हिन्दुत्व, इस्लाम एक ही हैं। नानक पंथ की उदारता, सहिष्णुता इसी सांस्कृतिक समन्वय की देन है। सिक्ख मत, हिन्दू मत एक है। कला शिल्प पर मुसलमानों का प्रभाव सर्वविदित है। ईरान के प्रभाव से इस्लाम उदार हो सका। मुगल शैली भारतीय शैली ही है। स्थापत्य में भी यही उदारता है। ईरान की स्त्रैण कला भारतीय कला में घुलमिल गयी है। हिन्दू वास्तु में पौरुष का तेज है। प्रेमतत्व मीरा में भी कबीर की तरह तसव्वुफ से आया।

खुसरो खड़ी बोली हिन्दी और खड़ी बोली उर्दू दोनों के जनक हैं। 'खुसरो रैन सुहाग की, जागी पिय के संग / तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एकरंग'। दक्खिनी हिन्दी में हिन्दू-मुस्लिम या हिन्दी-उर्दू का भेद मिट गया है। वली की भाषा को हिन्दी कहें या उर्दू - फर्क नहीं पड़ता। अली आदिलशाह के शब्द हैं-

*पिउ मूरत देखो सीने में, जब जागो तब रहूँ सपने में,
ला दीपक बिरहा, तन जाये झकझक जीने में।*

इसे भाषा के रूप में हिन्दी कहें या उर्दू एक ही बात है। खुसरो की उक्ति है-'शर्मोहया दर हिन्दी लाज/हासिल कहिए बाज खिराज'। या जायसी के शब्द- 'अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि / जेहि महुँ मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि'।

दिनकर ने 1857 तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य की चर्चा की है। गदर के रूप में तभी महाक्रांति संभव हुई। अंग्रेज कहने को व्यापार करने आये थे पर नई शिक्षा के साथ उन्होंने हमें गुलाम बना दिया।

ईसाई मिशनरियों ने भी स्वाधीनता में बाधा दी। राज्य बँटे। भाषाएँ बँटीं। जनता भी बँटी। रजवाड़े-जमींदारियाँ सब गुलामी की रणनीति जैसी थीं। राजा राममोहन राय तक ने कलकत्ते में संस्कृत कॉलेज की स्थापना का तीखा विरोध किया। न भूलें कि अंग्रेजों ने ही शकुन्तला जैसे क्लासिक्स को महत्व दिया। जोन्स ने संस्कृत भाषा को लातीनी जैसा ही महत्व दिया। जर्मनी में भारतीय संस्कृति को विस्तार मिला। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' (1912) में लिखा-

*था शिष्य ईसा हिन्दुओं का यह पता भी है चला,
ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला।*

भारतीय नवोत्थान को दिनकर अतीतजीवी बताते हैं। दयानंद, रामकृष्ण, विवेकानंद, तिलक ने हिन्दुओं के प्रवृत्ति मार्ग को महत्व दिया। तिलक, गोखले ने राष्ट्रीयता को हिन्दू पुनरुत्थान जैसा रंग दिया। आर्य समाज ने वेदों के महत्व की पुनर्व्याख्या की। दिनकर ने दयानंद को एक नये अंधविश्वास के लिए जिम्मेदार ठहराया है। दयानंद के लिए वेद के बाहर कुछ है ही नहीं। यह अंध विश्वास नहीं तो था क्या! एनीबेसेंट अपने को पूर्वजन्म का हिन्दू मानती थीं। उनकी भारतभक्ति अभूतपूर्व थी। दिनकर ने एनीबेसेंट की यह उक्ति उद्धृत की है-‘हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भार-रूपी वृक्ष सूख जायेगा’।

दिनकर ने रामकृष्ण परमहंस को ‘धर्म की साकार प्रतिमा’ बताया है। उन्होंने पंथ से अधिक महत्व अनुभूति को दिया। विवेकानंद शक्ति के उपासक थे। मातृजाति के प्रति उदार। नवता के कायल। इस्लाम के प्रति द्वेषमुक्त। सच्चे अर्थों में विश्वदृष्टि सम्पन्न भारतीय। सांस्कृतिक नवोत्थान के हिमायती। अरविन्द का हिन्दू नवोत्थान संकीर्ण न था, उदार था। दिनकर उन्हें स्वर्ग के भूमीकरण के लिए महत्व देते हैं। संश्लिष्ट योग अरविंद का अभीष्ट था। गाँधी के शब्द थे- ‘मेरा धर्म हिन्दू धर्म नहीं, बल्कि वह जो हिन्दुत्व से आगे जाता है।’

दिनकर ने ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में मुस्लिम नवोत्थान पर विस्तार से लिखा है। वहाबी आंदोलन साम्प्रदायिक न था। वह अमीरों का न होकर जनता का था। सर सैयद ने मुसलमानों को आधुनिक बनाया। उनका इस्लाम प्रकारान्तर से मानवतावाद था। शिब्ली नोमानी, हाली आधुनिकता के पक्षधर थे। वे प्रगतिशील समाज की कल्पना कर रहे थे। इस्लामी नवोत्थान राष्ट्रवाद का कायल है। इकबाल और रवीन्द्रनाथ समान विचारों से प्रेरित होकर आजादी का सपना देख रहे थे। इकबाल दलितों के कवि हुए। वैश्विक राष्ट्रीयता इकबाल का लक्ष्य थी। साम्प्रदायिकता का विस्फोट मुस्लिम लीग की रणनीति के कारण हुआ। अंत में दिनकर ने लिखा है- ‘विज्ञान भी हमारे वश में तभी रहेगा जब हम यह मानकर चलें कि विज्ञान से हमें अपनी वाजिब जरूरतों की पूर्ति में सहायता लेनी है।’

‘संस्कृति के चार अध्याय’ भारतीय संस्कृति की महागाथा है। यह वह ग्रंथ है जिसमें धर्म, संस्कृति, विज्ञान, कला, शिल्प सभी की व्याख्या है। भारतीय

संस्कृति की सामासिकता का भाष्य करने वाला यह एक अभूतपूर्व गौरवग्रंथ है। इसे सिर्फ इतिहास कहना कठिन है। इसमें एक तरह की महाकाव्यात्मकता है। दिनकर ने कवि विचारक के रूप में जो अर्जित किया है वह एक लम्बे वैचारिक संघर्ष की फलश्रुति है।

दिनकर ने ‘रानी केतकी की कहानी’ के लेखक इशा अल्लाह खाँ का मत इस रूप में उद्धृत किया है-‘बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओं ने बोलचाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना, इन सब बातों का सलीका मुसलमानों से सीखा है’ दिनकर इस बात से असहमत हैं। संस्कृतियाँ एक दूसरे में आवाजाही करके ही समृद्ध होती हैं। दिनकर ने जेरूसलम की एक लाइब्रेरी से प्राप्त ताम्रपत्र का हवाला दिया है जिसमें वेदों और आर्य ज्ञान-विज्ञान की सराहना की गयी है। मतिमंद ही मानेंगे कि कोई संस्कृति अलग-थलग रहकर समृद्ध होती है। ‘इस्लाम’ अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है-शांति में प्रवेश। विज्ञान-दृष्टि और हृदय-दृष्टि मिलकर संस्कृति बनाते हैं। वैष्णवता में कई संस्कृतियाँ अपना स्पेस पाती हैं। आलवार संत और सूफी कई बार एक भाषा बोलते हैं। कोई भी उदार धर्म विनोदप्रिय होता है। यह विनोदवृत्ति संस्कृति की जीवनशक्ति होती है। आण्विक युग के दरवाजे पर दिनकर का संस्कृति-विमर्श सार्थक जान पड़ेगा। संस्कृति की ताकत गति में है, गति की तीव्रता में, ठहराव में नहीं। न हिन्दू पुनरुत्थानवाद भारतीय संस्कृति की पहचान में सहायक होगा, न मुस्लिम पुनरुत्थानवाद। दिनकर के इस ग्रंथ को हर दौर में एक नयी रुचि और समझ के साथ पढ़ा जाएगा।

हिन्दी आलोचना और दिनकर का काव्य-विमर्श

दिनकर स्वाधीनता आंदोलन के कवि हैं, पर उनकी कविता बार-बार नये विन्यास रचती है। ‘कुरुक्षेत्र’, ‘उर्वशी’, ‘रश्मिर्थी’, ‘परशुराम की प्रतीक्षा’, ‘आत्मा की आँखें’, ‘कोयला ओर कवित्व’, ‘चक्रवाल’, ‘नीलकुसुम’, ‘सीपी और शंख’, ‘रसवन्ती’ और ‘हुंकार’ एक ही तरह की रचनाएँ नहीं हैं। नयी कविता के दौर में भी दिनकर का संवाद नये कवियों से बना हुआ था। ‘शुद्ध कविता की खोज’ का प्रकाशन 1966 में हुआ। इसके पहले शुद्ध कविता

जैसा विषय कविता से बाहर था। भूमिका में दिनकर के शब्द हैं: 'नयी कविता का आन्दोलन यूरोप में लगभग सौ वर्षों से चल रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि वह अब भी पुराना नहीं पड़ा है। उसके भीतर से बराबर नये आयाम प्रकट होते जा रहे हैं, बराबर नयी चिन्तनारियाँ छिटकती जा रही हैं। रोमांटिक युग तक कविता किसी निश्चित चौखटे में जुड़ी देखी जा सकती थी। किन्तु उसके बाद से वह दिनोंदिन हर प्रकार के चौखटे से घृणा करती आयी है।' यह कथन एक तरह से शुद्ध कविता का प्रतिवाद है। कविता में तोड़फोड़ का समर्थन है। प्रयोगवाद अकविता शुद्ध कविता का प्रतिवाद कहे जा सकते हैं।

दिनकर मानते हैं कि कविता के ढाँचे में विस्फोटक बदलाव बादलेयर, रेम्बू और मलार्मे के साथ संभव हुआ। यह प्रतीकवाद से अतिथार्थवाद तक फैला था। इलियट, एजरा पाउण्ड के साथ नया काव्यशास्त्र संभव था। दूसरे महायुद्ध के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता जैसे आन्दोलन चले। दिनकर ने 'शुद्ध कविता की खोज' में क्रमशः कविता और शुद्ध कविता, शुद्ध कविता के ऐतिहासिक विकासक्रम को, कविता में दुरुहता, शुद्ध काव्य की सीमाओं, साहित्य में आधुनिकबोध और संवेदना के विकास को लक्ष्य किया है। भाववाद की सीमाएँ देर तक बनी रहीं। फिर यथार्थवाद भी उबारू हो चला था। दिनकर अगर 'कुरुक्षेत्र' के बाद 'उर्वशी' लिखते हैं, तो वह एक नया प्रस्थान बनता है। पर 'हारे को हरिनाम' तक कविता थक चुकी है। सामान्यीकरण कविता नहीं है।

'शुद्ध कविता की खोज' के पहले ही अध्याय 'कविता और शुद्ध कविता' में दिनकर एक जरूरी सवाल उठाते हैं। 'जिसे हम शुद्ध कविता कहते हैं, वह साहित्य की कोई सर्वथा नवीन विधा नहीं है। जब से मनुष्य ने काव्यकला का आविष्कार किया, शुद्ध कविता की रचना वह तभी से करता आ रहा है। किन्तु पहले उसे यह पता नहीं था कि जो कुछ वह लिखता है, उसमें दो प्रकार की कविताएं होती हैं। एक वे, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द-दान होता है और दूसरी वे, जिनमें आनन्द के साथ कुछ ज्ञान भी रहता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुछ उपदेश भी रहते हैं अथवा दूर पर कहीं, किसी कर्तव्य की प्रेरणा भी रहती है।' दिनकर मानते हैं कि सारी अच्छी कविता शुद्ध कविता नहीं होती। कविता को रामचन्द्र शुक्ल ने चित्रवृत्ति का

प्रसार कहा है। रागात्मक संवेदना है, तो बौद्धिक संवेदना भी है। कविता आखिर परम्परा का अतिक्रमण करती है। वह वैयक्तिक के साथ निर्वैयक्तिक भी होती है। सरलता कविता का अनिवार्य गुण नहीं है। नयी समीक्षा के दौर में विलियमस्पेंसन ने 'सेवन टाइप्स ऑफ सेमिविटी' जैसा प्रबन्ध लिखा। यहाँ अस्पष्टता दोष नहीं, गुण है।

दिनकर मानते हैं कि अगर पुराने आचार्यों की चलती, तो वे भावदशा और रसदशा से आगे बढ़ते ही नहीं। आनन्द और उपदेश पर बल उनकी सीमा थी। आचार्यों ने रसात्मकता, रमणीयता को ही महत्व दिया। दिनकर को यह बात मर्म की जान पड़ती है कि काव्यात्मकता की केवल एक कसौटी नहीं हो सकती। कविता, स्वांतः सुखाय लिखी जा सकती है, वह अनायास और स्वतः स्फूर्त हो सकती है, पर वह गहरे अर्थ में समय को शब्द भी देना चाहती है। एक ओर बाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास, टाल्स्टाय हैं तो कालिदास, बाणभट्ट, अमरूक, हाल, जयदेव, सूर, विद्यापति और महादेवी भी हैं। गालिब इकबाल को कैसे भाव सीमित कहेंगे। शुद्धतावाद है तो प्रयोगशीलता भी है। सारी रहस्यवादी कविता शुद्ध कविता नहीं है। कबीर ही एक उदाहरण हैं। क्या यह संकेत शुद्ध कविता है— 'हृद में रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साध/हृद बेहद दोनों तजै ताकि मता अगाध'। अगाधता का आकर्षण सौन्दर्यवाद तक सीमित नहीं है।

दिनकर को शमशेर याद आते हैं, अज्ञेय याद आते हैं, धर्मवीर भारती याद आते हैं। 'प्रातः नभः था बहुत नीला शंख जैसे/भोर का नभः/राख से लीपा हुआ चौका/अभी गीला पड़ा है'। (शमशेर) या 'अपने हल्के फुल्के उड़ते स्पर्शों से/मुझको छू जाती है/जार्जेट के पीले पलतों सी/धूप यह नवम्बर की'। यह रीतिवाद की शुद्धता नहीं है। कल्पना के स्थान से अधिक है। यहाँ शुद्धतावाद की एक ही अवधारणा नहीं है। भारती ने ही 'अंधा युग' लिखा। शमशेर ने 'बैल' पर कविता लिखी। विचारधारा शुद्धकविता का अतिक्रमण करती है। विचारधारा की मुखरता काव्यत्व में बाधक हो सकती है। दिनकर मानते हैं कि इधर कविता जल्दी-जल्दी बदलती है, जैसे युग भी जल्दी-जल्दी बदलते हैं। "अब युग तुरंत आरम्भ होते हैं और तुरंत समाप्त हो जाते हैं।" काव्याभिरुचि का बदलाव भी इसी का संकेत है। कभी यूरोपीय आलोचकों ने कहा कि उदात्ता कविता का गुण है। ललित और उदात्त का द्वन्द्व भी कविता को महत्वपूर्ण बनाता है। कल्पना मानवीय श्रेष्ठता में सहायक हो, तभी श्रेयस्कर

है।

बुद्धिवाद की प्रखरता से घबराकर रोमांटिसिज्म (या छायावाद) आया। क्लासिक रोमांटिक में अनिवार्य बैर नहीं है। रोमांसवाद कुछ विषयों को काव्यात्मक, कुछ को अकाव्यात्मक बताता है। यह कोई कसौटी नहीं है। कला की मुक्ति और काव्य की मुक्ति एक ही चीजें हैं। दुःखवाद रोमांसवाद की सीमा नहीं है। नयी कविता मिथकथन पर बल देती है। रोमांसवाद क्रांतिकारी आन्दोलन बना, यह अकारण नहीं है। प्रगतिवाद ने छायावाद को पलायनवादी मान लिया। पर निराला के छायावाद को क्या पलायनवाद कहेंगे। प्रसाद ने 'कामायनी' लिखी, तो दर्शन काव्य अभिन्न हो उठे। केवल अनुभूतिवाद शुद्ध कविता की कसौटी नहीं है। अनुभूति एक देशीय इकहरी नहीं होती। दिनकर की टिप्पणी है: 'शुद्धतावादी आन्दोलन, वैसे तो, रोमांसवाद के बाद और बहुत कुछ उसके विरुद्ध उठा था, लेकिन उसके बीज रोमांटिक कवियों की साधना नहीं, साध्य माना। दिनकर शुद्धतावादी आन्दोलन का आरम्भ एडगर एलेन पो से मानते हैं। उनके समय में वर्ड्सवर्थ हुए, तो बायरन भी हुए। पो ने रोमांटिक कविता में ही शुद्ध कविता की झलक देखी। फ्रेंच कविता में शुद्ध कविता के आन्दोलन को पूर्णता मिली। बादलेयर निराशा और पस्ती में भी बड़ी काव्य संभावना मानते हैं। बादलेयर को बेचैन आत्मा का कवि माना जाता है। प्रकृतवाद भी कविता की शुद्धता को संकीर्ण अवधारणा मानता था। रोमांसवाद की सफलता वास्तविकता से दूरी बनाकर संभव थी। प्रतीकवादियों ने वस्तुवाद से अलग रास्ता चुना। प्रतीकवाद से सघनता सबसे अधिक मलार्मे में है। मलार्मे में दुरुहता अनिवार्य है और वह कविता को नयी अर्थध्वनियों के निकट ले जाता है। रेम्बू में तर्क या पूर्वा पर सम्बन्ध नहीं है। व्यतिक्रम काव्य की विशेषता है। प्रतीकवाद उस भाषा की खोज में था जो इन्द्रियों की भाषा बन जायेगी। शुद्धतावाद ने साहित्य को अन्तर्मुखी बनाया। बादलेयर नवीनता के पक्षधर थे।

रूसी प्रतीकवाद एक अर्थ में सांस्कृतिक आन्दोलन बना। दिनकर यहाँ एकेमिस्ट आन्दोलन की चर्चा करते हैं। भविष्यवाद शुद्ध कविता के विरुद्ध आया। दिनकर ने एक सवाल उठाया है— 'क्या इलियट निर्वैयक्तिकता पर बल दे रहे थे। वे भाववाद के विरुद्ध थे। 'वेस्ट लैण्ड' इसका प्रमाण है।

अतियथार्थवाद (या सुर्रियलिज्म) उपचेतन को महत्व दे रहा था। यहाँ

स्वप्न और जागरण का भेद मिट गया है। उसे लग रहा था कि एक दिन चेतन और अचेतन का भेद मिट जाएगा। दिनकर अभिव्यंजनावाद और चित्रवाद में फिर शुद्ध कविता की संभावना देखते हैं। इलियट और पाउण्ड के चित्रवाद का पक्ष जरूर लिया, पर वे आगे भी गये, जहाँ चित्र विचार हो जाता है। इलियट ने दुरुहता का पक्ष लिया। उन्हें लगा कि 'दुरुहता इसलिए स्वीकार्य हुई कि वह ध्वनि के गांभीर्य से उत्पन्न होती है और ध्वनि काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। दिनकर मानते हैं कि छायावाद की दुरुह लगने वाली कविताएं अब दुरुह नहीं लगती। जैसे— 'राम की शक्ति पूजा'। पर 'दुरुहताएं कायम रहें, तो भी कविता को हानि नहीं पहुँचाती'।

दिनकर नयी हिन्दी कविता में दुरुहता के कई रूप प्रकार देखते हैं। उन्हें लगता है, सुस्पष्टता कविता, विशेषकर नई कविता के भाग्य में नहीं है। शुद्धतावादी महाकाव्य को एक तरह से कविता की सीमा मानते हैं, जबकि हमारे समय में महाकाव्य का पुनर्वास जरूरी माना जा रहा है। दिनकर के शब्द हैं— 'शुद्ध कविता सर्वश्रेष्ठ कविता नहीं है। वह कविता की एक खास विधा है जिसके उदाहरण प्रगीतों में मिलते हैं। पर बड़ी कविता प्रगीत-सीमित नहीं होती। आगे दिनकर कहते हैं— 'वैसे तो कोई भी अच्छी कविता संयोग से ही लिखी जाती है, किन्तु महाकाव्य की रचना सबसे कठिन कार्य है। प्रगीत की समस्या केवल एक क्षणिक अनुभूति के सही चित्रण की समस्या है। किन्तु प्रबन्ध-कवि के सामने समस्याओं का पहाड़ खड़ा होता है और जो कवि इनमें से प्रत्येक समस्या का समाधान पा लेता है, उसी की रचना सुपाठ्य उतरती है।'

वस्तुतः दिनकर इकबाल जैसे कवियों के हवाले से भी शुद्ध काव्य को कमतर मानते हैं। गालिब बिना महाकाव्य लिखे, महाकाव्यात्मक कल्पना के कवि हैं। रवीन्द्रनाथ भी प्रगीत के दायरे में महाकाव्यात्मक कल्पना के कवि हैं। दिनकर मानते हैं कि रहस्यवाद कभी कविता के बाहर की चीज नहीं माना जा सकता। 'शुद्ध कविता की खोज' से पहले मुक्तिबोध अपना सब कुछ लिख चुके थे। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताएँ, 'कामायनी' एक पुनर्विचार। मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ भी उन्हीं की दृष्टि में अधूरी कविताएँ हैं। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' का नया पाठ बनाया और उर्वशी का माध्यात्मक उन्हें विडम्बनापूर्ण लगा। कविता और दर्शन के बीच फाँक।

दिनकर ने महानगरों की सभ्यता को छिछली और हृदयहीन बताया है। मानवीय सम्बन्धों का घनत्व क्षीण हो गया है। ऐसे में शुद्ध कविता की सीमाएं सर्वथा प्रकट हैं। आज के यथार्थ की विडम्बना कविता को अशुद्ध बनाती हैं। अब कविता को खुरदुरी जमीन पर चलना प्रिय है। मुक्तिबोध के यहाँ चक्करदार सीढ़ियाँ हैं। अँधेरी बावड़ी है। ब्रह्म राक्षस है। आज निराला के बाद मुक्तिबोध ही कविता के केन्द्र में हैं। उनके यहाँ काले पहाड़, काली चट्टाने हैं। शुद्ध कविता के लिए अँधेरे समय में कोई जगह नहीं है। कविता को बड़ा स्पेस चाहिए।

कभी भगवतशरण उपाध्याय ने दिनकर की रचना 'उर्वशी' की समस्याग्रस्तता पर लम्बा प्रबंध लिखा था। दार्शनिक ऊहापोह अगर 'उर्वशी' में है तो 'कामायनी' में भी है। भगवतशरण उपाध्याय ने कामायनी के दर्शन की अधिकता से चर्चा को आधार बनाकर 'कामायनी' को काव्य-दृष्टि से घटिया चीज बना दिया। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' में प्रवेश को सिंहद्वार में प्रवेश करने जैसा अनुभव बताया था। मुक्तिबोध के अनुसार 'उर्वशी' ऐतिहासिक काव्य नहीं है, हालाँकि दिनकर 'उर्वशी' के चारों ओर एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोक वलय स्थापित करते हैं। 'उर्वशी' उनके अनुसार वृहद् कल्पना-स्वप्न है, जिसके द्वारा कामात्मक स्पृहाओं का आदर्शिकरण किया गया है। 'उर्वशी' की सीमा यह है कि शुद्ध कविता के दूसरे छोर पर उसे वक्तव्य प्रधान बना दिया गया है। मुक्तिबोध की आपत्ति यह है कि कवि को यह छूट नहीं है कि वह रीति-सुख तक की बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ करे। कविता को अन्ततः संवेदना प्रधान होना चाहिए।

मुक्तिबोध की टिप्पणी है: 'काव्य में किसी भी प्रकार की शास्त्रीयता शास्त्रीय रूप में चल नहीं सकती। किन्तु उस दर्शन के तात्विक निष्कर्ष और मूल स्थापनाएँ काव्य में ग्रहण कर ली जाती हैं। पर 'ऊहापोह तर्क-प्रधान शास्त्रीयता काव्य नहीं बन सकती'। अर्थात् कविता की अपनी शर्तें हैं। वह दार्शनिकता से आक्रान्त न हो, भाव और संवेदना से सम्यक रूप से रची-बसी हो। यथार्थवादी हो, तो अवधारणात्मक न हो। मुक्तिबोध आगे लिखते हैं: 'प्रसाद जी की 'कामायनी' का दोष यह नहीं है कि उसमें दार्शनिकता प्रधान है। दोष यह है कि जीवन-समस्याएँ जिस स्तर और क्षेत्र की हैं, उस स्तर और क्षेत्र का उसका समाधान नहीं है। ... किन्तु यह कहना कि 'कामायनी'

में काव्यात्मकता नहीं है, तत्सम्बन्धी अपने घनघोर अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है। आगे उन्हीं का तर्क है— 'उर्वशी' का दर्शन वस्तुतः कामात्मक संवेदनाओं की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिए उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। प्रकारान्तर से यह सारी बहस हमें इस सवाल के निकट लाती है— शुद्ध कविता क्या है! वह कविता को किस हद तक कालजयी बनाती है। क्या यह संभव नहीं कि शुद्ध कविता क्षणजीवी हो, जबकि अशुद्ध कविता कालजयी हो। 'वाजस्रवा के बहाने' शुद्ध कविता को अतिक्रमित करने वाली कृति है। मुक्तिबोध ने कुँवरनारायण को 'अन्तरात्मा की पीड़ित चेतना का कवि' कहा था। पीड़ित विवेक चेतना।

मुक्तिबोध की कविता अशुद्ध कविता है। बहुत पहले कबीर की कविता अशुद्ध कविता है और आज तक वह सारी दुनिया में सार्थक मानी जा रही है। अनगढ़ पर कालजयी। छः सौ साल बाद कई भाषाओं में अनूदित। आज रघुवीर सहाय, विष्णुखरे जैसे कवि अशुद्ध कविता के महत्वपूर्ण कवि हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' शुद्ध कविता का उदाहरण नहीं है। केदारनाथ सिंह की लम्बी कविता 'बाघ' तर्क-वितर्क-कौतुक से काव्यात्मक जान पड़ती है, पर वह मूलतः अशुद्ध काव्य है। दिनकर का काव्यविमर्श हमारे लिए एक उदाहरण-भर है, पर वह हमारे काव्यबोध में कुछ जोड़ता भी है। हाशिए पर होकर भी वह विचारणीय है। इस अर्थ में वह आलोचना के काम की चीज है।

दिनकर-काव्य का एक अलक्षित स्वर : व्यंग्य

नन्दकिशोर नवल

छठे दशक के अन्तिम वर्षों में दिनकर जी ने एक लेख लिखा था—‘नूतन काव्यशास्त्र’, जिसमें उन्होंने नई कविता की चित्रप्रियता को लक्ष्य कर कहा था कि कोरे चित्र कोरी आतिशबाजी के खेल हैं। इसका उत्तर धर्मवीर भारती ने यह कहकर दिया था कि ‘बड़ा खतरनाक होता है आतिशबाजी का खेल क्योंकि उससे भूसे के राष्ट्रीय गोदाम में आग लग सकती है। भारती का कहना अपने व्यंग्य के कारण सराहनीय है, लेकिन उन्होंने जो कहा है, क्या वह भी सही है? क्या सचमुच दिनकर की कविता मात्र राष्ट्रीयतावादी है और उनकी राष्ट्रीयता नितान्त सारहीन है? दुःख की बात यह है कि प्रायः सम्पूर्ण नई पीढ़ी ने दिनकर-काव्य के प्रति बिना उसे पढ़े-सुने कमोबेश यही धारणा बना रखी है।

दिनकर-काव्य की रसवंती-उर्वशी वाली धारा को देखते हुए दिनकरजी को मात्र राष्ट्रीयतावादी कवि मानना ठीक नहीं लगता। यदि यह ठीक हो भी, तो उनकी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में सही जानकारी आवश्यक है। उनकी राष्ट्रीयता न अंधराष्ट्रीयता थी, न भावावेशमूलक। जिन आलोचकों ने उनमें केवल गर्जन-तर्जन और फेन देखा है, वे उनकी कविता को वस्तुतः ठीक से नहीं जानते। दिनकरजी के पास राष्ट्र और भारतीयता की एक आधुनिक कल्पना थी और उनकी राष्ट्रीयता में पर्याप्त बौद्धिकता के तत्त्व थे। उनके बारे में एक विद्वान का यह कहना सही है कि उनमें ‘विचारों का संगीत’ है। उनके प्रत्येक ‘भावात्मक विस्फोट’ के पीछे एक दृढ़ वैचारिक संरचना है, जो कभी ध्वस्त नहीं होती। वह कविता ‘विपथगा’ हो, या ‘जनतन्त्र का जन्म’। पहली कविता के पीछे सुसंगत रूप से क्रान्ति की अराजकतावादी धारणा मौजूद है

और दूसरी कविता के पीछे संसदीय जनतन्त्र या लोकतन्त्र की।

बौद्धिकता का एक लक्षण व्यंग्य है, जैसे भावुकता का हास्या। यह आकस्मिक नहीं है कि छायावाद में जहाँ ‘बेढब’ और ‘चोंच’ जैसे हास्य-कवि पैदा हुए, वहाँ प्रगतिशील और नई कविता के दौरान नागार्जुन-जैसे व्यंग्य कवि। दिनकरजी में व्यंग्य के तत्त्व शुरू से विद्यमान थे। उदाहरण के लिए 1945 में लिखी गई उनकी एक कविता ‘मैंने कहा, लोग यहाँ तब भी हैं मरते?’ देखी जा सकती है। यह कविता उसी वर्ष पटना के प्रसिद्ध साप्ताहिक ‘योगी’ में बाबा अगिनगिर के नाम से छपी थी। इसका विषय उत्तर बिहार में फैला महामारी का प्रकोप है, जिसके प्रति अंग्रेजी हुकूमत और कांग्रेसी नेता दोनों का विचित्र रुख था। कविता की दो पंक्तियों, जो कवि द्वारा जनता को सम्बोधित है, इस प्रकार हैं: नेता परीशान, परीशान सरकार है।/बोल, मरने का तुझे कौन अधिकार है?’ लेकिन दिनकरजी का व्यंग्य-स्वर तब तक दबा रहा जब तक देश को आजादी नहीं मिल गई। आजादी मिलने के बाद जब उन्होंने देखा कि सत्ता में आकर कांग्रेस उनके सपनों और आदर्शों को मूर्त रूप कहाँ तक देती, उल्टे उन्हें ध्वस्त कर रही है, तो उनका स्वर धीरे-धीरे कड़वा होने लगा और उन्होंने अपने घर के कोने में उपेक्षित पड़ा व्यंग्य का अस्त्र उठा लिया। उनकी ये व्यंग्य-कविताएँ, जो कांग्रेस, नेता, स्वतन्त्र देश के नागरिक आदि सबों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं, उनकी राष्ट्रीयता के एक नए रूप को सामने लाती हैं। ये कविताएँ नई यथार्थवादी कविता के समीप हैं। 1951-52 में दिनकरजी का ‘धूप और धुआँ’ शीर्षक कविता-संग्रह निकला। इसमें पहली बार स्वातन्त्र्योत्तर काल की उनकी व्यंग्यात्मक कविताएँ संकलित हुई थीं। उनमें उनका लहजा बदला हुआ था। संग्रह की भूमिका में इस प्रसंग में वे कहते हैं, “इधर मेरे लिखने की तर्ज कुछ बदली हुई है और यह नई तर्ज मेरी वर्तमान मनोदशा के मुआफिक भी आ रही है। यह प्रयोग है या प्रगति, मैं नहीं बता सकता। निश्चयपूर्वक इतना ही कह सकता हूँ कि आजकल इसी लहजे में बोलने में कुछ संतोष का अनुभव करता हूँ।” प्रयोग और प्रगति वाली बात महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक मुझे याद है, आधुनिकतावादी कवि और आलोचक नलिनजी ने ‘साहित्य’ में ‘धूप और धुआँ’ की समीक्षा की थी और उन्होंने दिनकरजी के बदले हुए लहजे को पसंद किया था।

नई पीढ़ी को दिनकर के सम्बन्ध में काफी गलतफहमियाँ हैं। वह उन्हें 'राष्ट्रीयतावादी' कवि ही नहीं मानती है, उन्हें सत्ता का उपभोग करने वाली कांग्रेस पार्टी से ही अभिन्न नहीं समझती है, उन्हें अवसरवादी भी कहती है। मैथिलीशरण, माखनलाल, 'नवीन'—ये सभी राष्ट्रीयतावादी कवि कांग्रेस के आदर्शों के करीब थे, लेकिन ये सत्ताधारी और भ्रष्ट कांग्रेसी नेताओं से भिन्न थे। दिनकरजी की आजादी के बाद राष्ट्र को विषय बनाकर लिखी गई कविताएँ उनके पीड़ित और विद्रोही रूप को सामने लाती हैं, जो राष्ट्र और जनता का पक्षधर है, कांग्रेस पार्टी और उसके नेताओं का नहीं। उन्होंने 1953 में एक लम्बी कविता लिखी थी, 'रोटी और स्वाधीनता', जिसमें स्वाभाविक रूप से कहा था कि 'आजादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना ही/आजादी है उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी।' नई पीढ़ी दिनकर को वक्तृतावादी कवि भी कहती है। वक्तृता कवि का केवल नकारात्मक गुण नहीं। उसमें जब विचार और आवेश का समावेश हो जाता है, तो इकबाल जैसे महान् कवि सम्भव होते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन से पैदा होने वाली कविता में वक्तृता स्वाभाविक है। दिनकर की कविता में उसी से ओजस्विता और उदात्तता आई है, जिसका प्रभाव आज भी अमोघ है। उनकी उक्त दो पंक्तियों आजादी को जिस रूप में परिभाषित करती हैं, उनके परवर्ती काव्य से परिचित पाठक इस बात को स्वीकार करेंगे कि उसका उपयोग जिस हद तक दिनकर ने किया है, किसी अन्य राष्ट्रीयतावादी कवि ने नहीं।

यहाँ दिनकरजी की दो कविताओं का उल्लेख आवश्यक है—'बलि की खेती' और 'मरघट की धूप'। ये दोनों ही कविताएँ आजादी से उनके मोहभंग की सूचना देती हैं। पहली कविता में उन्होंने कहा है कि स्वतन्त्र भारत में शहीदों के महाप्राण आदर्श ही मिट्टी में नहीं ऊँघ रहे हैं, 'बलिसिक्त भूमि में जिन्हें गिराया था मैंने/जाने, मेरे भी ऊँघ रहे वे कहाँ गाना।' यह 1948 की कविता है। 1951 में बहुत पीड़ा के साथ उन्होंने दूसरी कविता लिखी और उसमें स्वतन्त्र भारत के बारे में कहा: 'बड़ी धूप है इस मरघट में/और कहीं चल भटके राही/हाथ-पाँव रहते भोगें हम/क्यों मुर्दों के बीच तबाही?' इसी मोहभंग और निराशा ने उनके स्वर को वाकई इतना कड़वा बना दिया कि उन्होंने बाद की अपनी एक काव्य-पुस्तिका का नाम ही रखा 'नीम के पत्ते'।

आजादी का एक वर्ष ही बीता था कि दिनकरजी ने एक कविता लिखी—'पहली वर्षगाँठ'। इस कविता में उनका स्वर देखने लायक है—

आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई।
फैशन वालों के लिए नया फैशन निकला,
मोटर में बाँधो तीन रंग वाला चिथड़ा
औ' गिनो कि आँखें पड़ती हैं कितनी हम पर,
हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर।

इसी की परिणति आगे चलकर 'नेता'—जैसी कविता में हुई, जिसमें परवर्ती कवि रघुवीर सहाय— जैसी पीड़ा के साथ जनता को 'मूरख' कहकर सम्बोधित करते हुए वे उसे नेताओं से सावधान रहने के लिए कहते हैं: 'नेता! नेता! नेता!/क्या चाहिए तुझे रे मूरख!/सखा? बन्धु? सहचर? अनुरागी?/या जो तुझको नचा-नचा मारे/वह हृदय-विजेता?' यहाँ 'हृदय-विजेता' शब्द ध्यान देने लायक है, जो अपने भीतर व्यंग्य की अकूत शक्ति समेटे हुए है। दिल्ली को विषम बनाकर दिनकरजी ने प्रत्येक दौर में कविता लिखी है। इस क्रम में उनकी आखिरी कविता 'भारत का यह रेशमी नगर' है, जो 1954 की रचना है। इस कविता में भी उनका लहजा अत्यधिक तीखा है—

चल रहे ग्राम-कुँजों में पछिया के झकोर,
दिल्ली, लेकिन, ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से;
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

कांग्रेसी हुकूमत ने जिस नए समाज का निर्माण किया था, वह अपनी दायित्वहीनता में लाजवाब था। 1962 में दिनकरजी ने 'एनाकी' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी, जिसकी आरम्भिक पंक्तियाँ हैं :

“अरे, अरे, दिन-दहाड़े ही जुल्म ढाता है!
रेलवे का स्लीपर उठाए कहाँ जाता है?”
“बड़ा बेवकूफ है, अजब तेरा हाल है;
तुझे क्या पड़ी है? 'य' तो सरकारी माल है।”

बहुत तकलीफ से उन्होंने आगे यह कहा : 'सुनिए क्रोपाटकिन गोरकी!/भारत में फैली है आजादी बड़े जोर की।/सुनता न कोई फरियाद

है!/देखिए जिसे ही वही जोर से आज़ाद है।' वे चाहते थे कि भारत स्वतन्त्रता का मूल्य समझे और पूरे दायित्व के साथ एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में अपना विकास करे, लेकिन देश में एक ओर भ्रष्टाचार और दायित्वहीनता फैल रही थी और दूसरी ओर आत्ममूढ़ता और रुढ़िवादिता। 'धूप और धुआँ' में संकलित अपनी 'भारत' शीर्षक कविता में दिनकरजी ने अपने प्राणों से बढ़कर प्रिय देश भारत पर बहुत ही कठोर आक्रमण किया और उसे परामर्श दिया कि 'गाँधी को उल्टा घिसो, और जो धूल झरे,/उसके प्रलेप से अपनी कुंठा के मुख पर/ऐसी नक्काशी गढ़ो कि जो देखे, बोले,/आखिर बापू भी और बात क्या कहते थे?' भारत-व्याकुल लोगों को, जो अभी भी भारत की जगद्गुरुता के नशे में खोए हैं, यह कविता अवश्य पढ़नी चाहिए।

दिनकरजी की भाषा में निश्चय ही सरलता है, लेकिन उसमें परवर्ती काल में एक ऐसी कड़वाहट आ गई है जो उसे सपाट होने से बचा लेती है। काफी पीड़ित और अनुभवपक्व आदमी ही जनता को फूल समझकर खेलने वाले नेताओं से यह कह सकता है: 'सावधान, जनभूमि किसी का चारागाह नहीं है/घास यहाँ की पहुँच पेट में काँटा बन जाती है' ये पंक्तियाँ तो आज अत्यधिक प्रासंगिक हैं ही, 'स्वर्ग के दीपक' शीर्षक उनकी कविता की ये पंक्तियाँ भी आज कम प्रासंगिक नहीं—

कहता हूँ, मौसिस फिरा, सितारों! होश करो,
कतराकर टेढ़ी चाल भला अब क्या चलना?
माना, दीपक ही बड़े दिव्य, ऊँचे कुल के,
लेकिन मस्ती में अकड़-अकड़कर क्या जलना?

मैं खासतौर से पाठकों का ध्यान दिनकरजी के बदले हुए लहजे की ओर दिलाना चाहता हूँ, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विषय बदल जाने से भाषा भी बदल जाती है। दिनकरजी की स्वतन्त्रतापूर्व की राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता पश्चात् की राष्ट्रीयता में भारी अन्तर है, जो कहने के उनके बदले हुए ढंग से भी साबित है।

ऐसी बात नहीं है कि दिनकरजी का व्यंग्य सिर्फ राष्ट्र को विषय बनाकर लिखी गई कविताओं में दिखलाई पड़ता है। उनकी कविता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और प्रायः प्रत्येक क्षेत्र की कविता में उन्होंने यथास्थान व्यंग्य की मिलावट की है। 'सपनों का धुआँ' शीर्षक कविता में वे चाँद से कहते हैं कि तुम दूर

ही रहो, अन्यथा तुममें निहित अमृत के कारण बड़े लोग तुम्हें प्याले पर धरकर चाट जाएँगे। इसी तरह 'व्यष्टि' शीर्षक कविता में समष्टिवादियों के लक्ष्य से अपने लक्ष्य को अभिन्न बताते हुए भी वे कहते हैं: 'है फर्क मगर, काशी में जब वर्षा होती/हम नहीं तानते हैं छाते बरसाने में।' कहने की जरूरत नहीं कि उनका इशारा किन अंध समष्टिवादियों की तरफ है। 'पंचतित्त' शीर्षक से उन्होंने पाँच कविताएँ लिखी हैं। उनमें से दूसरी कविता बहुत मजेदार है। यह साँपों यानी दुष्टों के बारे में है। दिनकरजी उनसे छुटकारा चाहते हैं, लेकिन यह सम्भव नहीं। उनकी उक्ति है :

साँपों से पाएँ त्राण, अक्ल में आती कोई बात नहीं,
जनमेजय कितना करे, देवता ही साँपों के बस में हैं।
शंकर को तो देखिए, गले में हैं नागों के हार लिए
औ' विष्णुदेव भी साँपों की गुलगुली सेज पर सोते हैं।

इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ अपना खुलासा आप है। लगता है, वह हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का शाश्वत सत्य है।

दिनकर : बहुआयामी कवि

प्रभाकर श्रोत्रिय

आत्मचिंतन और आत्मालोचन 'दिनकर' की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें निरंतर गतिशील रखते हुए 'रेणुका' से 'उर्वशी' और 'हारे को हरिनाम' तक पहुँचाती हैं। वे अपनी रचनाशीलता से बार-बार जूझते और अपने को समझने, आलोचित करने और जरूरत पड़ने पर रूपांतरित एवं विकसित करने की कोशिश करते हैं।

अपने शौर्य-काव्य के बारे में वयस्क काल में दिनकर की टिप्पणी है :

'लगता है, पृथ्वी पर आने के पूर्व जब भगवान को प्रणाम करने गया, वे कलाकारों के बीच छेनी, टाँकी, हथौड़ी, कूँची और रंग बाँट रहे थे। लेकिन भगवान ने मुझे छेनी, टाँकी और हथौड़ी नहीं दी, जो पच्चीकारी के औजार हैं। उनके भंडार में एक हथौड़ा पड़ा हुआ था। भगवान ने वही हथौड़ा उठाकर मुझे दे दिया और (जरा-सी आत्मश्लाघा के लिए क्षमा कीजिए) कहा कि जा, तू इस हथौड़े से चट्टान का पत्थर तोड़ेगा और तेरे तोड़े हुए अनगढ़ पत्थर भी काल के समुद्र में फूल के समान तैरेंगे।'

अगर दिनकर के इस कथन को हम उनकी मुखर राष्ट्रीय कविताओं के बारे में लें और 'उर्वशी', 'रसवती', 'सामधेनी' जैसी काव्य-कृतियों को इसके बाहर रखें तो लगेगा कि वे इस काव्य की खूबी और अभाव दोनों से परिचित हैं और जो थोड़ी आत्मश्लाघा है वह कवि का आत्मविश्वास है, जिसके बिना कोई भी सर्जना संभव नहीं होती। यह सच भी है कि उनके इस काव्य में 'समुद्र में फूल के समान तैरने' का काव्य-गुण है और वह इस रूढ़ि को तोड़ता है कि ऋजु काव्य समकाल में बद्ध होकर अपने परे की काव्य-यात्रा को संभव नहीं होने देता।

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की भी दो कोटियाँ हैं। जो श्रेष्ठ कोटि का काव्य

है वह आवेग और वेग का काव्य है। उसमें कवि कथात्मक ब्यौरे न देकर मर्म को पकड़ता है, जो पाठक की धड़कनों पर उँगली रखने की क्षमता रखता है। उसके भीतर की अग्नि देश-काल-पात्र की जड़ीभूत पहचान को भस्म करती, समयान्तरण में अद्भुत रूप से समर्थ है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि कहता है-

घटा फाड़कर जगमगाता हुआ,
आ गया देख ज्वाला का बाण;
खड़ा हो जवानी का झंडा उठा,
ओ मेरे देश के नौजवान ।

इस आह्वान का काव्य के विषय से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। यहाँ शब्दशः विषय को बेधकर वस्तु से सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया है। इसी तरह जब कवि पराजय के लिए उत्तरदायी व्यक्ति की घोषणा करता है, तो वहाँ भी देश-काल तिरोहित हो जाता है :

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं,
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।

इससे भी आगे कविता अपने को समकाल से जोड़ते हुए सारे विभेदक चिह्न मिटा देती है :

घातक है जो देवता सदृश दिखता है,
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है,
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो उसने ही यहाँ हमें मारा है ।

विभेदक चिह्न मिटाने की प्रक्रिया जटिल होती है। उसमें कविता का प्रत्येक अवयव सक्रिय हो उठता है; शब्द अपना अभिधार्थ बदलकर लक्ष्य और व्यंग्य हो जाते हैं; और नई तरह की कलात्मकता पैदा हो जाती है। यहाँ 'गीता' और 'त्रिपिटक निकाय' से लेकर 'अजा' तक अपना मूल अर्थ पाकर भी उसे खो देते हैं और लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की रोशनी फेंकते हुए कर्म, वैराग्य, हिंसा, अहिंसा, रूप-गुण, छल-छद्म, जाति-धर्म वगैरह अर्थरूपों में विकीर्ण हो जाते हैं।

दिनकर किसी जादूगर की तरह पहले विषय को मुट्ठी में कसते हैं, फिर जब मुट्ठी खोलते हैं तो वह कहीं नहीं दिखता, या तो उसका सारांश दिखता है या उसकी लक्षणा और व्यंजना। वे सामाजिक के भीतर अपने को शामिल कर लेते हैं और उसके तापमान से अपनी कविता को संचालित करते हैं। पाठक की प्रतिक्रिया, आकांक्षा, क्षोभ, झुंझलाहट, क्रोध, उत्साह या त्रास उनकी कविता से रसधारा की तरह प्रवाहित होता है और एक अनोखी प्रतीकात्मकता पैदा कर देता है जिससे विषय का परिसीमन विस्तार पा जाता है :

ले अँगड़ाई उठ हिले धरा,
तू कर विराट स्वर में निनाद;
तू शैलराज हुंकार भरे,
फट जाय कुहा भागे प्रमाद।

कैसा विराट और सक्रिय बिम्ब है जो अपनी प्रतीकात्मकता में दीप्त है। सामाजिक के हृदय की आकांक्षा में ऊँची लहरें उठने लगती हैं।

देश जब आजाद होता है तो यह जनकवि भी उल्लसित हो उठता है। उसका उत्साह और कामना सीमा में बँधने को तैयार नहीं :

सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो,
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

(धूप और धुँआ)

लेकिन जब आजादी के बाद जनता के साथ कवि का भी मोहभंग होता है तो वह फिर जनता के साथ खड़ा हो जाता है और सत्ता या नेताओं से सवाल करता है :

यह वही आदमी है जिसकी पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी पीड़ाओं को आगे धरके,
यह वह मनुष्य जिसकी ज्वाला की ढाल बना तुम लड़ते थे,
जिसकी ताबीज पहनकर तुम शेरों की तरह अकड़ते थे;
क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा को देख आज भय लगता है,
मर गई कौन-सी नस जिससे वह दर्द नहीं अब जगता है।

यह दर्द का स्वर है जो दिनकर में शौर्य की तरह ही कविता के केन्द्र में है, यह उनका अपना जीवनानुभव भी है जो कविता में टीस रहा है। जो कवि जनता का हिमायती होता है, उसके भीतर की पीड़ा बहुत सघन होती है, क्योंकि कोई भी सत्ता हो, जनता का इतिहास तो त्रास की लेखनी से ही लिखा हुआ होता है :

दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

सत्ता-केंद्र हमेशा जगमगाता है और जितना जगमगाता है उतना ही चकाचौंध का अँधेरा जन-मन में भरता जाता है, सत्ता-केन्द्र दिल्ली का वस्तु जगत हमारे भाव जगत को अजब तरह से घूरने लगता है। हम इतिहास-केन्द्रों पर पहुँचकर भी इतिहास पढ़ना भूल जाते हैं और यथार्थ पढ़ने लगते हैं :

तामस बढ़ता यदि गया धकेल प्रभा को,
निर्बन्ध पंथ यदि नहीं मिला प्रतिभा को,
रिपु नहीं, यही अन्याय हमें मारेगा,
अपने घर में ही फिर स्वदेश हारेगा।

यह परशुराम की या उनके देश-काल की समस्या नहीं है, यह हमारी और हमारे देशकाल की समस्या है। अपनी प्रतिभाओं के लिए हमारे देश में ही जगह कहाँ है? सारे उच्चकोटि के मस्तिष्क विदेशों को निर्यात हो जाते हैं। लगता है परशुराम सिर्फ एक बहाना है, एक प्रतीक है, जिसमें कवि को अपना युग-सत्य कहना है।

इतिवृत्तात्मक कविता में दिखनेवाली गति में भी भीतर से एक ठहराव होता है, संभवतः इसीलिए दिनकर ने उस प्रवृत्ति को अपने से दूर रखने की कोशिश की है। वे कहीं ठहरते नहीं, उद्यमिता के साथ त्वरा उनका काव्य-गुण है। ये, और ऐसे अनेक गुणों के कारण उनकी राष्ट्रीय कविताएँ भी वक्त के भीतर नहीं सिमटतीं, इसके परे निकल जाती हैं जो उनके शब्दों में 'प्रस्तर का काल-समुद्र में फूल की तरह तैरना' है।

वैचारिक स्तर पर दिनकर समझते हैं कि वे गांधी और मार्क्स का द्वन्द्व झेल रहे हैं, जो कि वैचारिक जगत का भी तत्कालीन द्वन्द्व था। परंतु सच यह है कि तब के कवि वास्तव में गांधी और सशस्त्र क्रांतिकारियों के बीच झूल रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जयशंकर प्रसाद; सभी का

यह द्वन्द्व था। यह अलग बात है कि उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता थी। गांधी में दिनकर की अपरिमित श्रद्धा थी। वे कहते हैं :

गांधी, बुद्ध, अशोक नाम हैं बड़े दिव्य स्वप्नों के,
भारत स्वयं मनुष्य जाति की बहुत बड़ी कविता है।

अपने से उबलते गीत माँगने वालों से वे पूछते हैं :

तुझसे जो माँगते उबलते गीत अनल के,
पूछ धर्म की वे किंचित सीमा स्वीकार करेंगे?
मानव मूल्यों की जब कुछ आहुतियाँ पड़ती हों,
रोएँगे तो नहीं? पाप से तो वे नहीं डरेंगे?

वे समर को पाप बताते हैं और प्रकारांतर से शांति और अहिंसा का समर्थन करते हैं :

समर पाप साकार, समर क्रीड़ा है पागलपन की,
सभी द्विधाएँ व्यर्थ समर में, साध्य और साधन की।

दूसरी ओर पाप की उन्हीं की परिभाषा है :

छीनता हो स्वत्व कोई और तू,
त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

क्या यह कथन प्रकारांतर से गांधी को वापस कर, उग्र क्रांतिकारियों का आह्वान नहीं करता :

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर;
पर फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

यह कथन जैसे गांधी से ही तर्क करता है :

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है;
पाशविकता शस्त्र जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

गांधी और क्रांतिकारियों का, हिंसा और अहिंसा का, आत्मबल और देहबल का संग्राम उनके भीतर बराबर चलता रहा। काव्य और जनता के मनोभाव की भूमि होने के कारण क्रांति, हिंसा, देहबल की ओर उनका झुकाव बना रहा।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन पर मार्क्स का कोई प्रभाव नहीं था। 'अरुण विश्व की काली जय हो, लाल सितारोंवाली जय हो' जैसी पंक्तियाँ भी उन्हीं की हैं। वे श्रम के महत्व की घोषणा भी करते हैं :

नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम है, भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथ्वी, विनीत नभ-तल है।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि ऐसी पंक्तियों को मार्क्स और गांधी के द्वन्द्व के रूप में देखा जाए। जब दिनकर कहते हैं कि उजले को लाल से गुणा कर देने पर जो रंग बनता है वही मेरी कविता का रंग है, तो इस लाल रंग का अर्थ, उनके अर्थ से भिन्न यदि उनके काव्यार्थ में अनुवाद किया जाए तो वह क्रांतिकारियों के ही खून का रंग है। हम यह मान सकते हैं कि कवि जो कहता है उसे नहीं, जो रचता है उसे प्रमाण माना जाए। इस दृष्टि से दिनकर के भीतर गांधी की अहिंसा, आत्मबल आदि का; सुभाष, भगत सिंह या चंद्रशेखर आजाद की हिंसा, देहबल आदि से द्वन्द्व था।

यह कहना जरूरी है कि दिनकर केवल ओज, शौर्य और सहजता के कवि नहीं हैं। वे प्रेम, सौन्दर्य, रहस्यवाद और गीतात्मकता की वर्तुलता के कवि भी हैं। ये दिनकर ही हैं, जो 'रसवंती', 'उर्वशी', 'सामधेनी', 'नील कुसुम' लिखते हैं और नई कविता जैसी कविताएँ 'कोयला और कवित्व' जैसी कृति में लिखते हैं। वे केवल तात्कालिक आवेगों की ही चिंता नहीं करते; चिरंतनता, कला और आंतरिक दीप्ति की भी चिंता करते हैं। ऐसे में उनकी यह खलिश विचारणीय है कि फिर भी 'मेरा विरुद्ध चारण और वैतालिक' का ही रहा। जाहिर है कि उनके बारे में आलोचना की चिंता का केन्द्र उनकी राष्ट्रीय कविताएँ ही नहीं, उनकी समग्रता होनी चाहिए। काल की इस दूरी पर तो यह उनकी कविता के एक जरूरी विमर्श की तरह होगा।

इसी अवसर पर नवीनता, गहराई और अनेकांतता के संयोग पर दिनकर की

अद्भुत टिप्पणी उद्धृत करने का मन है। वे लिखते हैं : 'कविता का क्षेत्र ज्यों-ज्यों नवीन होता है, कवि त्यों-त्यों गहराई में उतरता जाता है और ज्यों-ज्यों वह गहराई में उतरता जाता है, त्यों-त्यों यह बताने में वह असमर्थ होता जाता है कि यह सत्य है और वह सत्य नहीं है। कविता की जो यात्रा गहराई की ओर है, वही उसे अनेकांत की ओर ले जा रही है। कवि यह जान गया है कि कोई भी बात जोर से बोलने योग्य नहीं है। इसलिए अब वह निश्चित और अनिश्चित, ज्ञात और अज्ञात के संधि-स्थल पर काम करता है। मनुष्य इतनी बार धोखा खा चुका है कि उसे अब किसी भी ज्ञान पर विश्वास नहीं रहा और सत्य को उसने इतनी बार बदलते देखा है कि वह कहीं भी दुराग्रहपूर्वक अड़ने को तैयार नहीं है।'

इसी रोशनी में दिनकर द्वारा उर्वशी और कुरुक्षेत्र की तुलना को अगर देखा जाए तो उनकी विकसित आलोचना और काव्य-दृष्टि का पता चल सकता है। वे लिखते हैं : 'कुरुक्षेत्र में प्रकाश है, उर्वशी में द्वाभा और गोधूलि हैं। कुरुक्षेत्र की वाणी विश्वास की वाणी है, उर्वशी की वाणी संशय और द्विधा से आक्रांत है। कुरुक्षेत्र में मैं धृष्टतापूर्वक गुरु के पद से स्वयं बोल गया हूँ। उर्वशी की ऊँचाई पर पहुँचकर मुझे ऐसा लगा कि अगर कोई गुरु मिल जाता तो उससे पूछता कि असली रहस्य क्या है?'

यह वही द्वन्द्व है जो रवीन्द्र और इकबाल जैसे दो ध्रुवों से जुड़ने पर दिनकर में, युवाकाल में पैदा हुआ था और जो अक्सर 'आमने-सामने के दो क्षितिजों से बोलते रहे हैं'। बहुत काल तक इकबाल विजयी रहे, परंतु अब जाकर रवीन्द्र ने कवि के हृदय प्रदेश पर आसन जमाया है, जहाँ से वे उर्वशी की खोज कर रहे हैं।

'उर्वशी' वास्तव में द्वाभा और गोधूलि की कृति है, जहाँ धूप-छाँह की अद्भुत क्रीड़ा है। केवल स्त्री और पुरुष का ही समागम नहीं होता, पृथ्वी के प्रेम की पराकाष्ठा का स्वर्गीय दिव्यता से संगमन होता है। अंत में यह प्रेम प्रकृति और पुरुष के प्रेम में रूपांतरित हो जाता है। उर्वशी स्वयं प्रकृति का रूप है :

मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,

उसी भाँति निस्सीम, अपरिमित जैसे स्वयं प्रकृति है।

पुरूरवा और उर्वशी के बीच प्रेम ठीक उस प्रकार घटित हुआ है जैसी

प्रेम की स्वाभाविक प्रकृति होती है :

पहले प्रेम स्पर्श होता है तदनंतर चिंतन है

प्रणय प्रथम, मिट्टी कठोर है फिर वायव्य गगन है।

ऐसी स्थिति में प्रेम घटना नहीं, एक प्रतीक हो जाता है, 'कामाध्यात्म' का प्रतीक। इसके स्त्री और पुरुष साधारण स्त्री-पुरुष नहीं रहते, बल्कि सृष्टि की सर्वोत्तम सुन्दरता हो जाते हैं। यदि स्त्री है :

नहीं उर्वशी नारी नहीं, आभा है अखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।

तो पुरुष है :

यह ज्योतिर्मय रूप! प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से,
काट पुरुष प्रतिमाविराट निज मन के आकारों की
महाप्राण से भर उसको, फिर भू पर गिरा दिया है।

दोनों ही वास्तव में स्रष्टा के मन के आकारों के सम्मूर्तन हैं। मन के आकार की कोई कृति यदि स्रष्टा रचता है तो संसार में उसका क्या सादृश्य। दोनों अपूर्व सुंदर और दोनों के मन भी अपूर्व सुंदर। ऐसी कृति संसार में सृष्टि करती है, तो उससे 'आयु' का जन्म होता है। इसे जन्म देते हुए उर्वशी, रूपसी अप्सरा शायद प्रणय जीवन में पहली बार माँ बनती है। इसके लिए उसे धरती पर ही आना था। उसका सौन्दर्य नई अर्थवत्ता ले लेता है :

गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह की खोकर

पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

सीमा असीम हो उठती है। प्रेम के सारे आयामों और उसकी पराकाष्ठा को इस कृति में, शौर्य के कवि ने इतनी सुकोमलता और आंतरिक भव्यता से उकेरा है जो उसके नए अन्वेषण, रहस्यमयी जिज्ञासा और कुतूहल का प्रतिरूप और निस्संदेह उसके काव्य का शिखर बनती है। कम से कम इसे तो प्रमाणित करती ही है कि दिनकर को उनके 'विरुद' में ही कैद न कर उनके प्रसार और औदात्य को भी देखना चाहिए।

यों दिनकर ने आवेग और ओज से भरी राष्ट्रीय चिंता आजीवन नहीं छोड़ी, क्योंकि यह उनका स्थायी भाव थी। परंतु उन्होंने जिज्ञासा वृत्ति के साथ विचार और आत्मालोचन की यात्रा भी स्थगित नहीं की। उन्होंने इसके लिए न केवल काव्य कृतियाँ लिखीं, गद्यात्मक लेखन भी खूब किया। 'संस्कृति के चार

अध्याय' उनकी कालवाही वैश्विक चेतना का गहन पाठ है। 'शुद्ध कविता की खोज' जैसा गद्य-आलेख उनके अंतरान्वेषण और आलोचना वृत्ति का उदाहरण है। संस्कृति और विचार की अनवरत यात्रा ने दिनकर को गतिमयता दी। वे रवीन्द्र और इकबाल के घेरे से निकले और टीएस इलियट की नवीन प्रवृत्ति से साक्षात् हुए और स्वयं नयी कविता तक पहुँचे। महर्षि अरविंद से भविष्य की कविता के बारे में जानकर कि वह मंत्र कविता होगी, दिनकर मंत्र-कविता की ओर मुड़े, यानी सूक्ष्म, मितभाषी और अचूक प्रभावकारी। इस कविता का प्रयोग कवि ने 'नील कुसुम' और 'हारे को हरिनाम' में किया। नवीन अन्वेषण और तत्त्वदर्शिता दिनकर की विकास यात्रा है। इससे जाहिर होता है कि वे सपाट कवि और व्यक्ति नहीं हैं। अनेक अन्तर्द्वंद्वों और ऊहापोहों से भरा उनका काव्य-व्यक्तित्व रहा है।

एक लंबी काव्य-यात्रा के बाद भी दिनकर को लगा कि जिंदगी की किताब तो खाली की खाली रह गई। शुक्र सिर्फ इतना है कि एक सपाट, इकहरी और इकलौती जिंदगी उन्होंने नहीं जी :

शुक्र है कि इसी जीवन में
मैं अनेक बार जन्मा
और अनेक बार मरा हूँ।

जाहिर है कि दिनकर अंत तक कवि रहे नित्य नूतन; चाहे उन्हें इसके लिए नए-नए जन्म ही क्यों न लेने पड़े हों।

सृजनकर्म में औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि कृष्णदत्त पालीवाल

रामधारी सिंह 'दिनकर' के सम्पूर्ण सृजन और चिंतन की उपेक्षा हिंदी आलोचना के कोढ़ में सबसे बड़ा खाज कहा जा सकता है। प्रश्न है, यह खाज ठीक कैसे हो? यह खाज भी ठीक हो सकता है जबकि उनके रचनाकर्म का सद्भाव से पुनः पाठ हो। उनके सम्पूर्ण पाठ या टैक्स्ट को समाज, राजनीति, इतिहास और स्मृति के संदर्भों में भाषित करने की जरूरत है। इस भाष्य या व्याख्या-पुनर्व्याख्या में इस संकल्प के साथ पहल करनी होगी कि उनके पाठ पर किसी वाद या विचारधारा का धूल-धुआं हावी न हो सके। यह इसलिए जरूरी है कि दिनकर 'वादों' का अतिक्रमण करने वाले कवि हैं और विचारधाराओं की अंधी प्रतिबद्धता में उनका भरोसा कभी नहीं रहा।

यह विचार भूलने के विरुद्ध है कि दिनकर आधुनिक भारतीय राजनीतिक-सांस्कृतिक नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन के आंतरिक लय से 'निष्पत्ति' पाने वाले कवि हैं, चिंतक हैं, आलोचक हैं और हैं सांस्कृतिक इतिहासकार। हिन्दी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें 'स्वच्छंद धारा' के प्रवाह का रचनाकार भर कहा था। प्रणभंग, रेणुका और हुंकार काव्य संग्रहों की रचनाओं को परखते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गए थे कि दिनकर की रचनाएं बच्चन, एक भारतीय आत्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान आदि कवियों की भांति छायावाद के अंतर्गत नहीं आती हैं। युग की मनोभूमि एक-सी होने पर भी सबकी अलग-अलग विशेषता है इसलिए इन कवियों को आलोचकों ने 'उत्तर छायावाद', 'समानांतर छायावाद' और 'छायावाद का शेषांश' नाम दिया है। कुछ भी नाम दिया हो, इस तरह के असार्थक नामों से यह भ्रम फैलने की गुंजाइश बराबर रही है कि इन सभी का रचना-कर्म और

चिंतन-कर्म छायावाद के रचनाकारों की तुलना में हल्का है।

दिनकर के 'पाठ' का किसी भी तरह से तोड़-मरोड़कर कुपाठ कीजिए, रचना-सहचन को आप इस ध्वन्यर्थ की महिमा से वंचित नहीं कर सकते हैं कि वे देशभक्ति भाव से भरे उत्सर्ग-भाव के आकाशधर्मा रचनाकार हैं। उनमें भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी की परम्परा का रक्त बोलता है। मराठी के केशवसुत और तमिल के सुब्रह्मण्य भारती की तरह दिनकर में देशभक्ति रस की स्थायी भाव-विभाव से सम्पन्न मनोभूमिका का 'अरमान' सूर्य की तरह चमकता-दमकता है। हाय री विडंबना ! हिन्दी की आधुनिक आलोचना ने देशभक्तिपरक रचना-कर्म को उच्छल भावुकता की सतही कविता कहकर ठुकरा दिया है। इस ठुकराने के पीछे हिन्दी के उन आलोचकों की साजिश है जो विदेशी विचारधाराओं के प्रचारक या 'कपट मुनि' रहे हैं। ये आलोचक देशभक्ति के नाम से ऐसे बिदकते-भड़कते हैं-जैसे पागल पानी से डरता है। वे भूल जाते हैं कि आलोचना-कर्म रचना-कर्म के लिए 'धाई' या 'मिडवाइफ' की भूमिका रखता है जो रचनाकार को पालकर बड़ा करता है। उसके अर्थ-संदर्भों को पुष्ट करता है। वह रचना पर अपनी विचारधारा लादकर उसे भ्रष्ट या विकृत नहीं करता।

सच बात यह है कि दिनकर का सृजन एक ऐसा अनोखा दस्तावेज है कि उसमें स्मृतियों, संस्कारों, जीवन-लयों, अंतर्ध्वनियों का वृंदवादन निरंतर बहुवचनात्मक अनुगुंजों के साथ मौजूद है। नर्मदा की शत-शत धाराओं की भांति उसमें जीवन के अनेक प्रवाह एक साथ प्रवाहित हैं। इन प्रवाहों में भारतीय इतिहास के प्रतीकों-मिथकों से न जाने कितने गहन विचार संवाद हैं, वाद-विवाद हैं, संशय है, द्वंद्व हैं, तनाव हैं। काव्यात्मकता में उजली वक्तृत्व कला और बेहद संवेदनशीलता साहित्य के पाठक के मर्म को छू लेती है।

कैसी गजब त्रासदी है कि दिनकर के ज्यादातर आलोचक उन्हें महान देशभक्ति का रचनाकार कहने से डरते हैं जबकि दिनकर का पूरा सृजन-चिंतन इस देश के किसान, गांव, नदी-वृक्ष के प्रति समर्पित है। दिनकर को पढ़ते हुए हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथनस्मृति में झूलता मिलता है- 'यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-गुल्म, पेड़, पत्ते, कण, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाह-भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके विदेश में आंसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते

कि कोयल किस चिड़िया का नाम है-वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करे तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा?'

देखिए न, दिनकर प्रकृति-प्रेम के साथ देश-प्रेम में गए। हृदय से इस देश की सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, इतिहास से प्रेम किया। इसी प्रेम का सच्चा स्वरूप संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक में दिखाई देता है। ध्यान रखना होगा कि दिनकर का देश-प्रेम न तो पश्चिमी पागलपन का नस्लवाद है न घृणा पर केन्द्रित राष्ट्रवाद। पराधीन भारत में भारतीय जनता के शोषण और तबाही का यथार्थ है। वह अंग्रेजी उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद के प्रति आक्रोश से उपजा देश-प्रेम है। क्रूर साम्राज्यवादी व्यवस्था में घुटते हुए युवक का विद्रोह है।

विजयदेव नारायण साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' लेख में सत्याग्रह युग की मनोभूमिका का विश्लेषण करते हुए पाया कि दिनकर, बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन का सृजन एक खास अर्थ में जवानी की कविता है। बहुप्रचलित शब्दावली में कहें तो, अंगारों पर चलने वाले आम आदमी (जन साधारण) की कविता है जो हंसते-हंसते देश पर प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। छायावाद और नई कविता के बीच में जनसाधारण की जो राह निकलती है उस राह पर दिनकर हैं, बच्चन हैं, माखनलाल चतुर्वेदी हैं, भगवतीचरण वर्मा हैं, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हैं, सुभ्रदाकुमारी चौहान हैं। बहुत बड़ा कवि समाज है-प्राणों को हथेली पर उछालने की प्रेरणा देने वाला कवि समाज। साही जी ने लिखा है-'बच्चन, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि सभी एक खास अर्थ में 'जवानी' के कवि हैं। यह एक विशिष्ट-सी बात है। जवान तो अपने समय में प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, पंत सभी रहे होंगे और मेरा अनुमान है कि मैथिलीशरण गुप्त भी- लेकिन इनमें से कोई भी खास अर्थ में जवानी का कवि कभी नहीं रहा। इस अर्थ में यूरोपीय रोमांटिसिज्म भी खास तौर से जवानी का काव्य बनकर नहीं आया। यह सही है कि हिन्दुस्तान एक क्रांति की अवस्था से गुजर रहा था और देश-भर में गांधीवाद, मार्क्सवाद का द्वन्द्व भी चल रहा था। लेकिन खुद मार्क्स के लेखन में विशेषतः जवानी का क्रान्ति से कोई रिश्ता हो, ऐसा नहीं लगता।' (छठवां दशक, पृ० 299)

दिनकर द्वंद्व के कवि हैं लेकिन यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के अनुकर्ता तो कतई

नहीं है। उनमें तो कालिदास, भवभूति की स्वच्छंद धारा का सहज वेग है। आप चाहें तो इस वेग को भारतीय जीवन की कालिदासीय लय का नाम भी दे सकते हैं। यही लय देशभक्ति की रंगत लेकर भारतीय मुक्ति संग्राम के दिनों में कवि-अरमान बनी है। इसी अर्थ में देशभक्ति दिनकर के लिए न कोरी भावुकता है न कोरा आवेग, न कोरा काव्यालंकार। सच्चे अर्थों में वह उनकी काव्यानुभूति का केन्द्रीय सिद्धान्त है।

निर्मल वर्मा ने आदि, अंत और आरम्भ पुस्तक के प्रथम निबंध 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ' में लिखा है— 'स्वतंत्रता को मिले पचास वर्ष गुजर गए हैं। मैं क्या सोचता हूँ? लोग पूछते हैं, परिचर्चाएं होती हैं, जश्न मनाए जाते हैं, लेकिन फिर भी लगता है जैसे हाथ से कुछ छूट गया है, कोई भरा-पूरा प्रतीक, जिसको हम उस जमीन, जमीन के टुकड़े के साथ संपृक्त कर सकें, जिसे देश की संज्ञा दी जाती है, क्या मैं उसे प्यार करता हूँ? क्या देश के एक टुकड़े से प्यार किया जा सकता है जिसका अपना आकाश है, समय है, अतीत है, जहाँ जीते हुए लोग ही नहीं, मृतात्माएँ भी बसती हैं? देशभक्ति, देश-प्रेम क्या यह सिर्फ थोथे शब्द हैं, जिन्हें हमारे आधुनिक बुद्धिजीवी मुंह पर लाते हुए झिझकते हैं जैसे वे कोई अपशब्द हों, सिर्फ एक सतही, सस्ती भावुकता और कुछ नहीं? कौन स्वतंत्र होगा? हिकारत से पूछते हैं; गरीब, अमीर, छोटे-बड़े कौन? और यदि कोई उत्तर में कहे—मैं और तुम नहीं—वह जो हमारे बीच में है, हमें बांधता हुआ, शताब्दियों से हमें हम बनाता हुआ, खुद अदृश्य होते हुए भी हमें एक परिदृश्य में अंकित करता हुआ—क्या है यह? यह अनाम भावना ही गहरा राग है—देशभक्ति है।'

आधुनिक बुद्धिजीवी का एक अर्थ है—पश्चिम का नक्काल रीढ़िहीन, भारतीय को धिक्कारता हुआ, देश-प्रेमी को 'भारत व्याकुल' कहकर उसका उपहास करता हुआ, लोक-लय से अपरिचित मूढ़गति। इन्हीं मूढ़मतियों की कृपा का फल है कि देशभक्ति को हिकारत की नजर से देखने की हवा चल पड़ी है। ये लोग भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) के 'मॉडल' को हथियाने की उछल-कूद में हैं। इन्हें पता नहीं है कि 'भावनाएं भी घटनाएं होती हैं'। देश-प्रेम ऐसी ही घटना है—इन्हीं घटनाओं ने मुक्ति-संग्राम के दौरान दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि रचनाकारों को देश-प्रेम से प्रेरित सृजन-प्रकाश दिया है।

दिनकर का देश के प्रति लगाव उनके इतिहास-प्रेम में अंकित है।

शिव-हिमालय, गंगा, चित्तौड़, राम, कृष्ण, अर्जुन, धर्मराज आदि की भावना में विस्तार से मौजूद है। इसलिए दिनकर के लिए देश-प्रेम का अर्थ है—देश की संस्कृति को समग्रता में धारण करना। इस संस्कृति में स्मृति को पूरी जगह है।

दिनकर की रचनाओं का टेक्स्ट पढ़ते हुए हमें समझना पड़ेगा कि वे निरंतर 'देश' के 'जन' की चिंताओं-यातनाओं से हृदय-संवाद स्थापित करने वाले रचनाकार हैं। उनमें छायावाद का एकांत व्यक्तिवाद नहीं है। उनकी देशभक्ति को प्रकृति और संस्कृति ने गढ़ा है। साथ ही इस गढ़ने में राष्ट्र की सेक्युलर और संकीर्ण अवधारणाओं की जन्मकुण्डली नहीं है। यह तो वह देश-प्रेम का उदात्त भाव है जिसे काका साहब कालेलकर इतिहास-स्मृति-संस्कृति से उत्पन्न देशभक्ति रस का नाम देते रहे हैं। यदि आज आपको रस शब्द पर आपत्ति हो तो इसे देश-प्रेम-सौंदर्य का नाम दे सकते हैं। क्योंकि भारतीय संस्कृति में रामायण, महाभारत, पौराणिक कथाओं के मिथक, इतिहास के प्रतीक नवीन अर्थवत्ता पाते रहे हैं। शायद ही किसी संस्कृति को कवियों ने इतना निर्मित किया हो जितना भारतीय संस्कृति को।

रमेशचन्द्र शाह ने कहीं कहा है कि हमारी संस्कृति के मूल में कवि हैं ओर इस कवि-कर्म का गहरा सम्बन्ध देश-प्रेम से, संस्कृति और परम्परा से जुड़ा रहा है। जो लोग भारत-वंदना गीतों में सांप्रदायिकता सूंध लेते हैं, उनकी मनःविकृति में देश से जुड़ी स्मृतियों-वंदनाओं का कोई अर्थ नहीं। वे तो राष्ट्रवाद के कुत्सित पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। वे नई सबाल्टर्न व्याख्याओं में खपते हैं। इन व्याख्याओं में अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ने का कोई भाव नहीं है—कोरा तर्क कर्कश पाखंडवाद। गांधी, लोहिया, जयप्रकाश नारायण के लिए देश था—देश का आखिरी आदमी, उसकी गरीबी, असहायता, यातना, अकेलापन। इसी आदमी को दिनकर ने कविता में गाया है।

दिनकर के लिए भारतीय संस्कृति का विराट और पवित्र प्रतीक है 'हिमालय'। वे इसी हिमालय पर कविता लिखते हैं और उससे सहस्र धाराओं को फूटते देखते हैं। भारतीय संस्कृति का बहुवचन हिमालय के प्रतीकों में अनेक छवियों-संदर्भों-मिथकों-रूपकों को धारण किए हुए है। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय संस्कृति की यह प्रवाहमान धारा क्षत-विक्षत हुई—चोटिल होकर गिर पड़ी है—लेकिन मरी नहीं है। अभी भी इसके स्मृति अवशेष एक सामान्य भारतीय की चेतना में जीवन्त है—जबकि इस बार का यूरोपीय आक्रमण और

उपभोक्तावादी बाजारवाद की संस्कृति उसे पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट करने पर आमदा है। मीडिया क्रान्ति के संकट ने हमारी स्मृति के नष्ट होने का खतरा बढ़ा दिया है। 'आत्म' ओर 'अन्य' का खंड-दर्शन भारतीय संस्कृति की अखंडता को चीरकर अलग किए दे रहा है।

प्रश्न उठता है कि छायावादी रचनाकारों तथा इन उत्तर छायावादी रचनाकारों में दिनकर, बच्चन, माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य-सृजन में फर्क क्या है? विजयदेव नारायण साही ने 'लघु मानव के बहाने' वाले लेख में इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर दिया है कि छायावादी कवियों के अंतर्जगत में आध्यात्मिकता की गहन व्याप्ति है जबकि दिनकर, बच्चन के सृजन-चिंतन में आध्यात्मिकता का पूरी तरह निषेध है। 'क्योंकि छायावाद के बाद का न सिर्फ बहिर्जगत अध्यात्मविहीन है, बल्कि अंतर्जगत भी आध्यात्मिक नहीं है। नए कवियों में से बहुतों ने काफी दूर तक अंतर्मन के महाद्वीप या महासागर में कोलंबस जैसी अन्वेषण यात्राएं की हैं, कभी-कभी छायावादियों से ज्यादा भी, लेकिन हिन्दुस्तान के इतिहास में पहली बार यह घटित हुआ कि भीतर बैठने पर आत्मा के दर्शन नहीं हुए। मिला कुछ और ही। इस आध्यात्मिक मुद्रा का विनाश किसने किया? पहले पापियों में आज के नए कवि या नए कहानीकार या नए उपन्यासकार नहीं आएंगे। जड़ खोदने का काम तो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही शुरू किया था। अज्ञेय और उनके साथ या बाद वालों ने तो सिर्फ मट्टा डाला है।'

साही जी को ध्यान है कि वस्तुतः मेटाफिजिकल तत्व तो गांधीजी ही की शैली में विद्यमान है।

सत्याग्रह युग के साहित्य के दो विशाल आच्छादन हैं—गांधी और रवीन्द्रनाथ। आरम्भ के दिनकर तो गांधी से दूर रहे लेकिन सन् 1940 के बाद के दिनकर गांधी-लय में समाते चले गए। केवल दिनकर ने अपने छात्र-धर्म दर्शन को बचाया। बाकी सब विवेकानन्द, तिलक, गांधी, जयप्रकाश नारायण, इकबाल और लारेंस को अर्पित करते गए। अंततः वे 'हारे को हरिनाम' ही हो गए।

ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर दिनकर के जीवन-संग्राम में खोजा जा सकता है।

दिनकर के रचनाकार-व्यक्तित्व का निर्माण भारतीय संग्राम की लपटों से

हुआ। बीसवीं शताब्दी का भारतीय सांस्कृतिक-राजनीतिक नव जागरण दिनकर की मनोभूमि को बनाता है। जन्म 23 सितम्बर 1908 में बिहार के मुंगेर जिले के सिमरिया गांव में गरीब परिवार में हुआ। अब उनका गांव बेगूसराय जिले में पड़ता है। पिता का नाम रवि सिंह। इसलिए रामधारी सिंह ने अपना उपनाम रखा—दिनकर'। दिनकर ने गांव की पाठशाला में अक्षर-ज्ञान पाया। सरसों के तेल वाले दिए का प्रकाश—*टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशु गण।* छप्पर वाला गांव। दिनकर पढ़ने में तेज। हिन्दी में सर्वाधिक अंक पाने पर पांचवीं कक्षा में रामचरितमानस और सूरसागर से पुरस्कृत। गरीबी ऐसी की पैरों में जूते न चप्पल, इस पर भी 13-14 वर्ष की उम्र में विवाह। 19-20 वर्ष की उम्र में मैट्रिक पास किया। भूदेव पदक पाया। 1932 में बी०ए० आनर्स इतिहास में किया। विपन्नता ऐसी कि आगे पढ़ने की बात सोचना गुनाह। पूरा गांव गरीबी से असहाय। इस पूरे परिवेश का प्रभाव दिनकर के रचना-कर्म का स्थायीभाव बना। खेती करने वाले किसान भूख से व्याकुल। देश-भर में गांधी के स्वाधीनता-आंदोलन की लपट। बारह वर्ष की उम्र में दिनकर ने गांधी के प्रथम दर्शन किए। पटना कालेज में जाते ही गांधी का आंदोलन और नजदीक आ गया। 1928 में साइमन कमीशन आया। पूरा देश क्रोध से फूट-फूट पड़ा। लाला लाजपत राय पर अंग्रेजों ने लाठियां बरसाई तो दिनकर का युवा मन व्यथा से भर गया। दिनकर ने लिखा—

*कलम उठी कविता लिखने को, वक्षस्थल में ज्वार उठा रे
सहसा नाम पकड़ कायर का पश्चिम पवन पुकार उठा रे
देखा शून्य कुंवर का गए है—झांसी की वह शान नहीं है
दुर्गादास प्रताप बली का प्यारा राजस्थान नहीं है
जलती नहीं चिता जौहर की, मुट्ठी में बलिदान नहीं है।*

संयोगवश नरसिंह दास के संपादकत्व में छात्र सहोदर पत्र निकला। इसी पत्र में दिनकर की पहली कविता 1925 में छपी। फिर दिनकर ने वल्लभ भाई पटेल के किसान-सत्याग्रह पर दस गीत लिखे, नाम दिया—विजय संदेश। भ्रमवश लोग इसे 'बारदोली विजय' कहते रहे। कुछ समय बाद वे *योगी* तथा *हिमालय* पत्र से जुड़े रहे।

सरकार का दमन-चक्र कम न था। भयवश दिनकर ने युवक पत्र में अमिताभ नाम से कविताएं लिखीं। इतना ही नहीं, जतिनदास की शहादत पर

उनकी कविता छपी। लेकिन 1930 में पहला काव्य-संग्रह छपा-प्रणभंग। हर तरफ छायावाद की हवा। इस हवा ने रेणुका की 'फूल', 'कोयल', 'निर्झरिणी' जैसी कविताओं को प्रभावित किया। लेकिन शीघ्र ही दिनकर ने छायावाद के काव्य-मुहावरे से मुक्ति पा ली और वे देश-विदेश के इतिहास अध्ययन में सक्रिय हुए। फ्रांस की राज्य क्रांति, अमेरिका का स्वतंत्रता-संग्राम, मार्क्स, लेनिन और सुभाष तथा जयप्रकाश नारायण की ओर झुकते गए।

सन् 1933 में 'नई दिल्ली' तथा 'हिमालय' कविता लिखने पर उनकी धूम मची। लोग गा उठे 'मेरी जननी के हिमकिरीट' का गान। इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल ने दिनकर को पलकों पर उठा लिया और उन्हें 'मौन त्याग का सिंहनाद' नाम तक दे डाला। कभी गांधी, कभी चन्द्रशेखर आज़ाद, कभी भगत सिंह, कभी गणेशशंकर विद्यार्थी, कभी रामप्रसाद बिस्मिल, कभी सुभाष दिनकर की मनोभूमिका का 'नया पाठ' रचने लगे। गांधीवाद नहीं, क्रांतिवाद चाहिए—'रे रोक युधिष्ठिर को न यहां' की आवाज ने 'पर फिरा हमें गांडीव, गदा लौटा दे अर्जुन-भीम वीर' की प्रार्थना की। इस प्रार्थना ने हुंकार, कुरुक्षेत्र तथा रश्मिर्था में विचार ज्वालाओं की निष्पत्ति की। इसी बीच हेडमास्टरी, सब रजिस्ट्रारी कर डाली और छपरा कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता से सरकारी कोप के भाजन बने। सन 1935 के कलकत्ता कवि-सम्मेलन में महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा से मिले। बनारसीदास चतुर्वेदी के विशाल भारत और अज्ञेय से सम्पर्क बढ़ा। सन् 1940 में गांधी को लेकर गाया—'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल'।

दिनकर का काव्य-टोन ब्रिटिश साम्राज्यवादी विरोधी। इसी टोन में हुंकार (1939), रसवंती, द्वंद्वगीत (1940) सामधेनी का प्रकाशन। 1941 में 'कलिंग विजय' कविता का सृजन और गांधी-विचार दर्शन का तेज काव्यानुभूति में गहराया और गहराया अंग्रेज साम्राज्यवाद-विरोध का संकट। नौकरी से परेशान दिनकर नौकरी छोड़ दें तो परिवार जिएगा कैसे? इसी बीच दिनकर का तबादला युद्ध-प्रचार विभाग में कर दिया गया। सन् 42 का 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आंदोलन और गांधी से कम्युनिस्टों की नाराजगी। अकेले डटे गांधी को देखकर दिनकर को नया दृष्टिकोण मिला। युद्ध और शांति, गांधी और मार्क्स, द्वितीय विश्वयुद्ध, जयप्रकाश नारायण का विद्रोही तेवर—इन सबकी अभिव्यक्ति का तनाव-क्षेत्र बना कुरुक्षेत्र। फलतः 1941 से 1946 तक

मनोदशा का काव्य है कुरुक्षेत्र।

कुरुक्षेत्र के छपते ही दिनकर को बच्चन की तरह बेजोड़ लोकप्रियता प्राप्त हुई। कुरुक्षेत्र में दिनकर एक खास कला के साथ भीष्म के प्रतिरूप बनकर सामने आए। कहना न होगा दिनकर का अपना चिंतन और काव्य दर्शन कुरुक्षेत्र के भीष्म में समाया हुआ है—क्षात्र-धर्म के सौंदर्य के साथ। 'प्यारे स्वदेश के हित अंगार मांगने वाले' दिनकर तनाव और द्वंद्व में झूलते रहे हैं। आधुनिक युग की सर्वाधिक केन्द्रीय समस्या-युद्ध पर विचार मंथन। महाभारत का आधार लेने पर भी कुरुक्षेत्र विचारपरक प्रबंध काव्य है। अन्याय-यातना के विरुद्ध नई पीढ़ी को नई प्रेरणा देने वाली शक्तिधारा ने प्रश्नाकुलज मुद्रा में कहा—

पापी कौन मनुज से उसका न्याय चुराने वाला?
या कि न्याय छीनते पुरुष का सीस उड़ाने वाला?

.....

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।

.....

पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
उठ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

.....

अत्याचार सहन करने का कुफल यही होता है
पौरुष का आतंक मनुज कोमल होकर खोता है।

.....

शूर धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना
शूर धर्म है शाणित असि पर धरकर पांव मचलना
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को
शूर धर्म कहते हैं हंस हालाहल पी जाने को।

सामाजिक अन्याय-अनीति के खिलाफ नई पीढ़ी को अस्त्र उठाने का संदेश। भाग्यवाद-पलायनवाद- निराशावाद का खंडन करते हुए गीता के कर्म-सौंदर्य की महत्व प्रतिष्ठा। गांधी के अहिंसा दर्शन का खंडन। संसार में शान्ति की स्थापना के लिये समानता की स्थापना। युद्ध का परिणाम है विनाश।

भीष्म ने धर्मराज से कहा है—

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है
युधिष्ठिर स्वत्व की आराधना पातक नहीं है।

युद्ध के परिणाम से हताश धर्मराज ने भीष्म के समक्ष यह विचार व्यक्त किया—

हाय पितामह महाभारत विफल हुआ
चौंक उठे धर्मराज व्याकुल अधीर—से।

धर्मराज का आत्मधिकार यह समझने में असमर्थ रहा है कि युद्ध नैतिक होता है या अनैतिक। किन्तु मानव करे क्या?

जानता हूँ, लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु
लोहू सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है
ध्वंसजन्य सुख या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है?

भीष्म ने युद्ध की तुलना तूफान से की है तथा एक प्रकार से डार्विन के विकासवाद का समर्थन किया नहीं है या फिर कहीं-कहीं समर्थन किया है साम्यवाद का। युद्ध को बुलाने का दायित्व किस पर है? दिनकर का उत्तर है—सत्ता-शक्ति धारण करने वालों पर, अनाचारियों-अन्यायियों पर है; शोषितों, वंचितों, दलितों-उपेक्षितों पर नहीं।

कुरुक्षेत्र के चौथे सर्ग में भीष्म की आंतरिक दुविधा का तनाव है। पांचवें सर्ग में धर्मराज द्वारा किए गए राजसूय-यज्ञ के कारणों पर विचार तथा पश्चाताप। किन्तु इस पश्चाताप के द्वारा विज्ञान-युद्ध पर वैचारिक टिप्पणियां हैं। प्रकृति पर मनुष्य की विजय-जिसमें प्राण-देवता चीत्कार कर रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में—जापान में हिरोशिमा नागासाकी के ऊपर अमेरिका द्वारा बम विस्फोट। अणु युद्ध का अपार ध्वंस। दिनकर ने इस वैज्ञानिक युद्ध के प्रति विरोध प्रकट किया है—

सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार
तो इसे दे फेंक तजकर मोह, स्मृति के पार
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी नादान
फूल, कांटों की नहीं कुछ भी तुझे पहचान ।

जाहिर है कि हमारे समय की न सुलझने वाली समस्या है—विज्ञान का

युद्ध। इस विकराल समस्या को सुलझाने का कोई समाधान कुरुक्षेत्र में नहीं है। सातवें सर्ग में आस्था का—मानव की विजय यात्रा का उद्घोष है। संन्यास जीवन की पराजय है और कर्म में सक्रियता जीवन के प्रति विश्वास। इस दृष्टि से दिनकर निवृत्ति के नहीं, प्रवृत्ति के कवि हैं।

कुरुक्षेत्र के बाद दिनकर के धूप-छांह (1946), सामधेनी, बापू, फिर इतिहास के आंसू, धूप और धुआं, मिर्च का मजा जैसे काव्य संग्रह आए। गांधी की हत्या पर दिनकर ने अद्भुत शोकगीत लिखा—

पकड़ो वे दोनों चरण दासता
जिनके सेवन से छूटी
पकड़ो वे दोनों पग
जिनसे आजादी की गंगा फूटी।

गांधी की मृत्यु से एक युग का अंत हो गया—एक चिंतनधारा का अंत। आगे की राजनीति में हिंसा, आतंक, भाई-भतीजावाद, जातिवाद धर्मवाद का संकेत है। भ्रष्ट नेताओं पर दिनकर की टिप्पणी—

जितने हरामजादे थे सरकार हो गए
टोपी पहन-पहन के नंबरदार हो गए।

सन् 1950 में संविधान लागू होते ही अंधेरा घिरने लगा। आजादी का उल्लास उजाले के उल्लू लील गए। 26 जनवरी 1950 को 'जनतंत्र का जन्म' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में कहा—

सदियों की ठंडी-बुझी राख सुगबुगा उठी
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है।
दोराह, समय के रथ का घर्घर नाद सुनो
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

दिनकर की इस कविता का ऐतिहासिक महत्व है और इसके साथ जुड़ी है वह स्मृति कि आपातकाल के दिनों में इस कविता से लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने नई पीढ़ी में अनुपम जागरण का शंखनाद फूँका है।

दिनकर जी 1952 में बिहार शिक्षा सेवा की प्रोफेसरी छोड़कर राज्यसभा के सदस्य चुने जाने पर दिल्ली आए। मुगलों की दिल्ली, अंग्रेजों की दिल्ली, कांग्रेस शासन की दिल्ली की मानसिकता का उनके भीतर नया बहुलार्थक भाष्य निर्मित हुआ। भोगी-विलासी नेता जनता के कष्टों से बेखबर। सत्ता-सुख में

निमग्न। गांव की दरिद्रता और दिल्ली की चमक-दमक दोनों से मथकर दिनकर ने 1954 में कविता लिखी—‘भारत का यह रेशमी नगर’। पीड़ा भरे हृदय ने कहा—

भारत धूलों से भरा, आंसुओं से गीला
भारत है अब तक भी विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो खूब ज्योति की चहल-पहल
पर भटक रहा है सारा देश अंधेरे में।
चल रहे ग्राम कुंजों में पछिया के झंकोर
दिल्ली, लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

यह ‘भारत का रेशमी नगर’ उस समय नेहरू-युग झेल रहा था। नेहरू-युग से ‘मोहभंग’ और इस ‘मोहभंग’ से उपजी पीड़ा ने दिनकर को बेचैन रखा है। यही पीड़ा धर्मवीर भारती का अंधायुग व्यक्त करता है और यही अंधकार मुक्तिबोध की कविता, ‘अंधेरे में’ में पसरा हुआ है। यह नई कविता का युग है—घायल आत्मनिर्वासन की व्यथा-कथा का समय।

दरअसल, दिनकर ने एक संकलन को नाम ही दिया है—दिल्ली। इस संग्रह में दिल्ली पर चार कविताएं हैं— 1. नई दिल्ली के प्रति, 2. दिल्ली और मास्को, 3. हम की पुकार, 4. भारत का यह रेशमी नगर। पहली कविता— ‘नई दिल्ली के प्रति’ 1933 में रची गई थी किन्तु पृष्ठभूमि 1929 की है। इसी वर्ष नई दिल्ली में प्रवेशोत्सव हुआ। इसी वर्ष 1928 में भगत सिंह पकड़े गए और लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ। सन् 30 में गांधीजी का सत्याग्रह आंदोलन उठा और देश में दमनचक्र का जोर बढ़ गया। उत्सव और दमन—इसी कथ्यात्मक संवेदना का आधार बनाती है— ‘नई दिल्ली के प्रति’ कविता। दिनकर आजादी के बाद की दिल्ली को विलासिनी नायिका मानते थे—उसमें कर्मठता का अभाव और भोग की तड़प है। क्या हालत है कि जनता के कष्ट दिल्ली को बेचैन नहीं करते। ‘गांवों में वज्र गिरे या बाढ़ आए, मगर दिल्ली के आराम का पारा चढ़ता-उतरता नहीं, वह ज्यों का त्यों स्थित है। इस स्थिति से जो क्षोभ उठता है, वही इन कविताओं का मूलभाव है।’ (भूमिका)

दिल्ली पर लिखी इन चारों कविताओं को एक साथ पढ़ने पर पाठक पाता

है कि दिनकर गांव की वेदना-व्यथा-यातना-ताप व्यक्त करने वाले जनसाधारण के कवि हैं। ‘नई दिल्ली के प्रति’ कविता का ‘पाठ’ यह अर्थ-व्यंजकता लिए हुए है कि 1929 के भारत में कितनी तबाही थी। कवि के शब्दों में व्यथा के बिंबों से साक्षात्कार कीजिए—

डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया तराना
और तुझे सूझा, इस दम ही उत्सव हाय मनाना।
हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से
उधर तुझे आता है इन पर नमक हाय! छिड़काना।
महल कहा? बस हमें सहारा
केवल फूल-बांस, तृणदल का।
अन्न नहीं, अवलंब प्राण को
गम, आंसू या गंगाजल का।

भारतीय जनता की तबाही के ऐसे ही करुण चित्र दिनकर से पहले रामनरेश त्रिपाठी ने पथिक काव्य में व्यक्त किए थे। त्रिपाठी जी ने लिखा था—

खाते हैं गम और आंसुओं से ही प्यास बुझाते
लेकर आयु विविध रोगों की हैं दिन-रात बिताते।
फटे-पुराने चिथड़ों से ही ढंके किसी विधि तन हैं
कैसे सिएं सुई-धागे से भी, नितांत निर्धन हैं।

कहना न होगा कि भारतेन्दु को भारत दुर्दशा का विस्तार ही रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, भगवतीचरण वर्मा और दिनकर के काव्य में मिलता है। भारतीय निर्धनता के इस समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र पर कम विचार हुआ है। हमारा ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए कि अंग्रेज-राज ने इस देश को किस तरह से बर्बाद किया था और इस बर्बादी को आजाद भारत की सरकार ने सुधारा क्यों नहीं? क्यों अंधेरा और गहरा हुआ? गांव की बंद गलियों में खड़े बच्चे ‘भारत भाग्य विधाता’ के भरोसे कहीं के नहीं रहे। दिल्ली आज भी ‘वैभव की रानी’ है और ‘अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली’ बनी हुई है इस स्थिति का अर्थ आजादी के पहले और बाद की दिल्ली को समझा जाना चाहिए।

दिनकर का बिहार से दिल्ली आना सर्जनात्मकता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। उन्होंने सब रजिस्ट्रार रहते हुए, मौलवी रखकर, इकबाल की

प्रमुख रचनाएं पढ़ीं। उनमें रंगत आई। दिल्ली आकर नए सिरे से नीत्से, बर्ट्रेड रसेल, टी०एस० इलियट, डी०एच० लारेंस आदि को जमकर पढ़ा-समझा। इस समझ का गहरा प्रभाव 'नील कुसुम' काव्य-संग्रह की कविताओं पर दिखाई देता है। रचनात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से नील कुसुम की कविताओं की काव्य-मुद्रा में जीवन की पौ फटती मिलती है। कवि का 'अरमान' अब 'संकल्प' में बदल गया है और एक ध्वनि उठ रही है—

हो जहां कहीं भी नील कुसुम की फुलवारी
मैं एक फूल तो किसी तरह ले आऊंगा।

नील कुसुम से भारत-दुर्गा की पूजा में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' का एक नया युग-संदर्भ जुड़ जाता है। कवि ने प्रकृति से संवाद किया है और चांद-तारों से गहरी दोस्ती। 'कवि और चांद' का वार्तालाप हुआ मनु-पुत्र की विजय यात्रा में विश्वास के साथ और कहा—

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने जिसकी
कल्पना की नोक में भी धार होती है।
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

यहाँ कृष्ण झूमते हुए कालिया नाग के फन पर बांसुरी बजा रहे हैं और कह रहे हैं—

विषधारी मत डोल कि मेरा आसन बहुत बड़ा है।

यह वह समय है जब नीम के पत्ते (1954), सूरज का ब्याह (1955), चक्रवाल (1956), सीप और शंख (1957) जैसे काव्य-संग्रह आए। इस काल में रश्मि रथी (1952) के दिनकर की दलित-चेतना ने उर्वशी की ओर उन्मुखता व्यक्त की। रश्मि रथी यदि कर्म के माध्यम से दलित-चेतना का अनोखा दस्तावेज है तो उर्वशी प्रणय-काव्य की मुकुट-मणि। कवि की समाधिस्थस चेतना का लीला-कमल। सन 1961 में उर्वशी का प्रकाशन हुआ और 1962 में चीनी आक्रमण। दिनकर ने दायित्वबोध के साथ 'परशुराम की प्रतीक्षा' का सृजन किया। युद्ध-काव्य का वैचारिक दृश्य यहाँ कुरुक्षेत्र का नया भाष्य लेकर काव्यात्मकता में अंगारे बनकर प्रकट हुआ। पूरी नई पीढ़ी की मानसिकता पर दिनकर देश-प्रेम की प्रेरणा बनकर छा गए।

दुःख इस बात का है कि दिनकर और बच्चन ने छायावादी काव्य-भाषा

के तिलिस्म को तोड़कर जो नई बोलचाल की काव्य-भाषा से काव्यात्मकता या सर्जनात्मकता का दोहन किया—उसका मूल्य हिन्दी आलोचना में आंका तक नहीं गया। नई कविता को नई काव्यभाषा दिनकर, बच्चन और माखनलाल चतुर्वेदी से मिली तथा बोध मिला अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र और सर्वेश्वर तथा रघुवीर सहाय से। इस तरह दिनकर और बच्चन का सृजन छायावाद और नई कविता के बीच एक जीवंत कड़ी है।

दिनकर के चिंतन पर विवेकानंद, तिलक, गांधी, नीत्से, रसेल, इलियट, लारेंस, इकबाल, अंबेडकर, जयप्रकाश नारायण का प्रभाव पड़ा है। वे शंकराचार्य की निवृत्तिमूलक परंपरा के विरोध में खड़े विवेकानंद को समर्पित हैं। उन्होंने विदेशी कविताओं का अनुवाद 'सीपी और शंख' नाम से तथा डी०एल० लारेंस की कविताओं का अनुवाद 'आत्मा की आंखें' नाम से किया है। किन्तु उन पर विदेशी प्रभाव सतही है—भिदा हुआ प्रभाव तो मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी का ही है।

कैसे भुलाया जा सकता है हिन्दी के विद्वानों का वह 'महाभारत' जो हिन्दी आलोचना में उर्वशी को लेकर हुआ। समकालीन रचना-समय में मूल्यों का ऐसा उपद्रव! उपद्रव से उत्पन्न कोलाहल कुहराम का पता—1964 की कल्पना के जनवरी अंक से चलता है। 'अपूर्व' घटना यह घटी कि नई-पुरानी पीढ़ियों के कवि-आलोचक एक साथ विचार कलह में सक्रिय दिखाई दिए। कल्पना में प्रकाशित उर्वशी पर केन्द्रित समीक्षाओं, अन्यत्र प्रकाशित समीक्षाओं, प्रबुद्ध साहित्य-सहचरों के प्रकाशित पत्रों से यह ध्वनि फूट-फट पड़ी कि हमारी आलोचना के पास न तो सुविचारित प्रतिमान है न कृति-केन्द्रित आलोचना का नया व्याकरण। कृति की उत्कृष्टता का निर्णय करने वाले साहित्यिक प्रतिमान खोटे और बेहद खट्टे। कल्पना में प्रकाशित भगवतशरण उपाध्याय के समीक्षात्मक लेख (उर्वशी पर केन्द्रित) पर ग०मा० मुक्तिबोध को कहना पड़ा कि 'यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना में कमजोरियां न आ पातीं।'

इस कृति पर बहस उलटी क्यों हुई? मार्क्सवादियों की विचार शक्ति को लकवा क्यों मार गया? कहां मर गए सामाजिक प्रतिमान? इस तरह के प्रश्नों पर रघुवीर सहाय ने कहा कि 'उस रचना को काव्य नहीं, इतिहास का ग्रंथ मानकर उसका मूल्य आंका जाना बिल्कुल अनर्गल बात है।' इस तरह काव्य

की भूमि से काव्य की सर्जनात्मक समीक्षा हुई ही नहीं। पुरानी, निरर्थक, खानेदार, ठप्पेदार आलोचना से उर्वशी की दुर्गति हुई। दुर्गति का एक बड़ा कारण साहित्येतर मूल्यों को जोर-जबर्दस्ती से कृति की छाती पर ठोक देना भी रहा। अज्ञेय जी ने कहा कि उपाध्याय जी का लेख उर्वशी को लेकर छपने लायक नहीं था। लेकिन क्या हो? इस लेख पर ग०मा० मुक्तिबोध रीझ गए और उसे 'अत्यन्त उपयोगी' घोषित किया। इस तरह एक ओर हो गए अज्ञेयवाद आलोचक और दूसरी ओर हो गए मुक्तिबोध-समर्थक आलोचक। अज्ञेय के साथ है कुंवर नारायण तो मुक्तिबोध के साथ हैं—रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा। फलतः वैचारिक प्रतिबद्धता की बधिया बैठ गई।

उर्वशी जैसी महत्वपूर्ण काव्य-कृति ने चले आते हुए प्रतिमानों की पोल खोल दी। पाठकों ने यह विश्वास दृढ़ता से प्रस्तुत किया कि कामायनी के बाद छायावादी काव्य की सर्वाधिक महत्वकृति है—उर्वशी। ग०मा० मुक्तिबोध को उर्वशी का रति-रणकामी भोंपूवाद शर्मनाक प्रतीत हुआ। किन्तु रामविलास शर्मा उर्वशी पर मुग्ध हो गए। अपने रसज्ञ-रंजन भाव से उन्होंने माना कि 'दिनकर जी उदात्त भावनाओं के कवि हैं। उनके स्वरों में ढलकर उर्वशी की प्राचीन कथा सहज ही रीतिकालीन गार-परम्परा से ऊपर उठ गई है। निराला जी के बाद मुझे किसी वर्तमान कवि की रचना में ऐसा मेघमंद्र स्वर सुनने को नहीं मिला जैसा दिनकर की उर्वशी में। इस काव्य में जीवन सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए गए हैं जिन्हें वर्तमान युग का कवि ही प्रस्तुत कर सकता था। उर्वशी में नारी-सौंदर्य के अभिनन्दन के अतिरिक्त मातृत्व की प्रतिष्ठा भी है। आज के कुंठावादी मरु प्रदेश में आस्था के ये स्वर मुझे अच्छे लगते हैं—

चिंतन कर यह जान कि तेरे क्षण-क्षण की चिंता से
दूर-दूर तक के भविष्य का मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में ध्वनियां पहुंच रही हैं।

प्रणय काव्य की भूमि पर उर्वशी भिनभिनाती भावुकता की रचना नहीं है। उसमें ओज की विलक्षण दीप्ति है। काव्यत्व की अद्भुत महिमा का स्पर्श है और शंकाकुल बौद्धिक तर्क-प्रधान आधुनिकता की लौ-लपट। नेमिचंद्र जैन, प्रभाकर माचवे कहते ही रह गए कि कुरुक्षेत्र की तुलना में उर्वशी बहुत कमजोर कृति है, जबकि दिनकर की ये दोनों महान कृतियां अपनी कथ्यात्मक संवेदना

में कहीं से भी तुलनीय नहीं है और दोनों ही कथ्य में एक-दूसरे के विपरीत। उर्वशी वर्तमान मानव की प्रणय गाथा है और कुरुक्षेत्र युद्ध की समस्या से वैचारिक मुठभेड़। उर्वशी की काव्य-भाषा के 'वागाडंबर' परा क्षुब्ध रहे हैं मुक्तिबोध—

'पुरुखा और उर्वशी वागाडंबर द्वारा, शब्द-सुख द्वारा रति-सुख का पुनः पुनः बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानों पुरुखा और उर्वशी के रतिकक्ष में भोंपू लगे हों, जो शहर और बाजार से रतिकक्ष के आडंबरपूर्ण कामात्मक संताप प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों। इस तरह आयास सिद्ध भाषा ने उर्वशी को जड़ बना दिया है। मूल दोष यह भी कि उर्वशी कल्पित मनोविज्ञान पर केन्द्रित कृति है।'

कुछ भी कहिए। हिन्दी पाठकों पर उर्वशी की गहरी छाप है। मैंने अपने कई मित्रों को रामचरित मानस की तरह उर्वशी की काव्य पंक्तियां गाते-गुनगुनाते-उद्धृत करते पाया है। उर्वशी का तीसरा अंक अपनी रोमांटिक भाषा में अद्भुत प्रभाव लिए हैं। आधुनिक तर्क-प्रधान बौद्धिक मानव का प्रेम ही पुरु का प्रतीक बनकर प्रस्तुत है और उर्वशी मानव मन की अनंत-अनंत अदम्य-अपरंपर लालसा। रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध में मूल्यबोध के स्तर पर जो विभिन्नता है—उसमें दो भिन्न मनोभूमिकाएं सक्रिय हैं। पुरुखा के रूप में दिनकर का बिम्ब उभरता है और इस बिम्ब में आधुनिक भाव-बोध का तर्क—

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूं मैं
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूं मैं।
अंध तक के भाल पर पावक जलाता हूं
बादलों के शीश पर स्यंदन चलाता हूं।

.....

बिद्ध हो जाता सहज बर्कम नयन के बाण से
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुसकान से।
मैं तुम्हारे बाण का बीधा हुआ खग
वक्ष पर धर शीश मरना चाहता हूं।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूं
प्राण के सर में उतरना चाहता हूं।

कौन कहता है

तुम्हें मैं छोड़कर आकाश में विचरण करूंगा?

मानव को देवत्व चाहिए। यह आदर्श है। यथार्थ है देह की आगा। कामनाओं की बद्धता, देह-रस का रूप-रंग-भोग। भोगानन्द का यथार्थ सच है।

उर्वशी के चरम शिखर का स्पर्श करने के बाद दिनकर के रचना-कर्म का उतार आता गया। पारिवारिक समस्याओं-तनावों-संघर्षों ने दिनकर को भीतर से तोड़ दिया। नेहरू युग में सत्ता की राजनीति ने भी दिनकर की 'मानसिकता' का पुराना विद्रोही तेवर खो दिया। दिनकर सत्ता के गलियारों में कोयल और कवित्व (1960) खोजते रहे और उसमें मिला क्या-मृति तिलक (1964)। जब तक आत्मा की आंखें (1964) खुलीं, सब कुछ मटियामेट हो चुका था। इसी थकान-परस्ती से हारे को हरिनाम (1970) काव्य-संग्रह की कविताओं का सृजन हुआ। हारे को हरिनाम की कविताओं को तुलसीदास की विनय पत्रिका का आधुनिक संस्करण ही कहा जा सकता है। अपनी व्यथा में घुलते वे तिरुपति बालाजी के दर्शन को गए। फिर उन्हें छोड़कर लौटे नहीं। 24 अप्रैल 1974 को दिनकर ने यह संसार को छोड़ दिया। इस विदाई में रश्मिरेथी का 'पाठ' उठकर बोला-

कौरव दल का कर तेज हरण

त्यो गिरे भीष्म आलोक वरणा।

हिन्दी आलोचना में दिनकर की सर्जनात्मकता का भीष्म-संग्राम अभी अभाषित पड़ा है। इस अभाषित को भाषित करने की, 'डी कंस्ट्रस्ट' करने की जरूरत है। इस अर्थ मीमांसा से इस रचना-कर्म का बहुवचनात्मक संसार खुलेगा अवश्य। साथ ही हिन्दी आलोचना का कोढ़ भरा दाग भी धोया जा सकेगा।

आज यह बात भूलने की नहीं है कि दिनकर पद्य लेखक से कम समर्थ गद्य लेखक नहीं हैं। उन्होंने बड़े धड़ल्ले से आलोचना-कर्म किया है। उनकी उल्लेखनीय आलोचना पुस्तकें कम नहीं हैं, जैसे-मिट्टी की ओर (1946), अर्धनारीश्वर (1952), काव्य की भूमिका (1958), पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त (1958), वेणुवन (1958), तथा शुद्ध कविता की खोज (1966)।

भारतीय नवजागरण का सत्याग्रह युग दिनकर की मनोभूमिका को निर्मित करता है। इसी मनोभूमिका से वे पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के सृजन-कर्म की व्याख्या करते हैं। इन आलोचनाओं के भीतर से गुजरने पर ही

पाठक जान पाता है कि दिनकर के दो काव्य गुरु हैं- मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी। दिनकर अपने पूरे संदर्भ में द्विवेदी युग के बीर बालक हैं और मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी बोली की उंगली पकड़कर उन्होंने पैदल चलना सीखा है। इस तरह दिनकर को अज्ञेय का गुरु-भाई मानना चाहिए। दोनों के काव्य-गुरु का नाम है मैथिलीशरण गुप्त, वे मैथिलीशरण गुप्त जिन्हें प्रायः हिन्दुत्ववादी कहकर कोसा जाता रहा।

गुप्त जी ही क्यों, इधर ऐसी ही दुर्गाति भारतेन्दु और प्रसाद की भी हो रही है। ओर तो और, दिनकर को भी बख्शा नहीं जा रहा है। जबकि दिनकर और बच्चन दोनों अपने समय के प्रतिद्वंद्वी रचनाकार हैं। हिन्दी की बीसवीं शताब्दी का प्रकाश और अंधकार दोनों के सृजन और चिंतन में पूरे साक्ष्यों के साथ 'उपस्थित' है।

दिनकर के गद्य का विस्तार देखना हो तो हमें चितौड़ का साका (1949), रेती के फूल (1954), हमारी सांस्कृतिक एकता (1954), भारत की सांस्कृतिक कहानी (1955), संस्कृति के चार अध्याय (1956), उजली आग (1956), देश-विदेश (1957), राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता (1958) तथा धर्म, नैतिकता और विज्ञान जैसी उनकी पुस्तकों को अंतर्ग्राह्य करनी चाहिए।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहासकार दिनकर ने अपार श्रम और अध्ययन से पुनर्लेखन किया है। इस पुनर्लेखन का नाम है-संस्कृति के चार अध्याय। यहां इतनी बड़ी चुनौती दिनकर ने झेली है कि अवाक रह जाना पड़ता है। इनके साथ दिनकर की अन्य गद्य रचनाओं को मिलाकर पढ़ना चाहिए ताकि 'विजन' में व्यापकता की सिद्धि प्राप्त हो। वट-पीपल (1961), साहित्यमुखी (1968), राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधीजी (1968), हे राम (1969), संस्मरण और श्रद्धांजलियां, मेरी यात्राएं (1970), भारतीय एकता (1970), विवाह की मुसीबतें (1974), दिनकर के पत्र (संक० फूलफगर) तथा शेष-निःशेष (1985) आदि।

दिनकर के पद्य-गद्य दोनों की ताकत है-भारतीय संस्कृति की संवेदना का गहन अर्थ-विस्तार। बीसवीं शताब्दी का भारत दिनकर में कई कोणों और मोड़ों के साथ न जाने कितनी अर्थ-व्यंजनाओं के साथ बोला है। उनके चिंतन में विवेकानंद, तिलक, गांधी, जयप्रकाश नारायण और अंबेडकर एक साथ बोलते मिलते हैं। उन्हें मार्क्स भी प्यारे हैं और साम्यवादी पद्धति भी। पद्धति कोई भी

हो, दीन-हीन, शोषित-वंचित उपेक्षित, दलित सुखी हो सकें—यही उनका मूल चिंतन स्वर है। उनका चिंतन भाग्यवाद विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी, उपनिवेशवाद-विरोधी है। सामंतवाद और पूंजीवाद की विलास क्रीड़ा का यहां रस-रंजनवादी दर्शन नहीं है।

दिनकर के प्रतीक-पुंज में राम, कृष्ण, भीष्म, युधिष्ठिर, कर्ण, द्रोणाचार्य, गौतम, महावीर, अशोक, चन्द्रगुप्त, राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, बंदा वीर, लक्ष्मीबाई, टीपू सुल्तान, अशफाक, सुभाष चन्द्र बोस, भगत सिंह, जयप्रकाश नारायण, नालंदा, पाटलिपुत्र, हिमालय, गंगा, जमुना, गंडकी, सतलुज आदि की गौरव गाथा का इतिहास है। हमारी जातीय स्मृति और जातीय अवचेतन का पूरा समाज-शास्त्र, इतिहास, परम्परा, मिथक इनमें घनीभूत होकर अर्थ-संदर्भ पाते हैं। भारत की युवा पीढ़ी को दिनकर प्रेरणा का 'पाठ' पढ़ाते हैं—देशभक्ति का अर्थ खोलते हैं। अज्ञेय जी ने स्मृति लेखा में दिनकर जी को 'समय सूर्य' कहकर याद किया है—'हुंकार के साथ उसने अपने उदय का उद्घोष किया था। उर्वशी में उसने मानो अपने को अपने समय का सूर्य पहचाना था। हारे को हरिनाम के साथ वह अस्ताचल की ढलान को रक्ताभ करता हुआ ओट हो गया।' (स्मृति लेखा)

हिन्दी का दुर्भाग्य यह है कि साहित्यकार को 'सम्मान देने की प्रथा लगभग उठ गई है।' पर 'राष्ट्रकवि' हिन्दी ने दो ही जने—स्व० मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर। राष्ट्रीय कवि—राष्ट्रीयता के कवि और भी रहे। पर राष्ट्रकवि का विरुद किसी ओर के साथ जोड़ने की बात हिन्दी-पाठी जनता को नहीं सूझी। ऐसा क्यों हुआ?

आसान उत्तर तो यही होगा कि दोनों राष्ट्रीयता के भी और राष्ट्र के विराट रूप के भी गायक रहे। जो विद्वान भारत भारती को हिन्दू-संवेदना की कृति मानते हैं, वे गुप्त जी के स्वाधीन राष्ट्र को पहचानते नहीं हैं गुप्त जी धर्मनिरपेक्षता के वाहक, आधुनिक चेतना से सम्पन्न कवि है। दिनकर जी संस्कृति की मिश्रता को उजागर करते रहे—उसकी संग्राहकता को नहीं। कहना होगा कि दिनकर का साहित्य-संस्कृति चिंतन हिन्दी साहित्य की एक मूल्यवान उपलब्धि है।

भारतीय चिंतनधारा का उपनिवेशवाद से नव उपनिवेशवाद में प्रवेश क्या हुआ—'अपनी जड़ों की ओर लौटने' का अरमान प्रबल हो गया। लेकिन अंग्रेजी

भाषा का साम्राज्यवाद हिन्दी संस्कृति पर और गहरा होता गया। संस्कृति के इस अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हमारी दृष्टि को धुंधला बना दिया और संवेदनाओं को कुंद। हमारी सांस्कृतिक, राजनीतिक परिधि पर विदेशी नियंत्रण हटा नहीं और आजादी के बाद हम कटोरा लेकर घूमने वाले बनते गए। यह स्थिति दिनकर को तकलीफ देती है।

तीसरी दुनिया की अर्थ-व्यवस्था पर यूरोप का नियंत्रण स्वाधीन चिंतन को पनपने ही नहीं देता। न भारतीय संस्कृति-कला-साहित्य को। न औपनिवेशिक मानसिक गुलामी से मुक्ति ही मिल पा रही है। हिन्दी प्रदेशों में आजादी के बाद वैचारिक दरिद्रता बढ़ी है। और पश्चिमी नकल का पागलपन। शिक्षा, भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति, मीडिया के सभी क्षेत्रों में नव साम्राज्यवाद, उत्तर-औद्योगिक समाज की संस्कृति ने पूरा वर्चस्व स्थापित कर लिया है।

दिनकर का सृजन और चिंतन इस वर्चस्ववाद के विरुद्ध अपनी भुजा उठाता रहा है—इस उठती हुई भुजा का अर्थ हमें समझना चाहिए। समझना चाहिए कि स्वाधीन चिंतन की संस्कृति ही स्वाधीन मनुष्य को जन्म दे सकती है। उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद के दैत्य को मारे बिना हमारा चिंतन स्वाधीन नहीं हो सकता।

आज इस दृष्टि से दिनकर के सृजन-चिंतन पर 'विमर्श' करने की जरूरत है। हिन्दी आलोचना में दिनकर की उपेक्षा से निबटने का समय आ गया है।

नये भारत की वाणी : रामधारी सिंह 'दिनकर'

लीलाधर जगूड़ी

किसी भी भाषा का प्रादुर्भाव, विस्तार अथवा निरस्तीकरण सामाजिक जन-जीवन के पेशेगत परिवर्तनों, व्यापार और रोजी-रोटी के बदलते माध्यमों के कारण होता है। अभिव्यक्ति का संवाद अकेले कवि और लेखक का नहीं होता बल्कि वह श्रोता और पाठक के कारण फलता-फूलता है। मैथिलीशरण गुप्त के तुरंत बाद हिन्दी के नये स्वरूप की संरचना को दो कवियों ने साधा। एक का नाम है रामधारी सिंह 'दिनकर' और दूसरे का नाम है हरिवंश राय बच्चन।

आलोचना में खड़ी बोली हिन्दी का जो ऐतिहासिक और सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्मित किया उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया में काव्य भाषा और अभिव्यक्ति की स्थिति अगर देखनी हो तो जयशंकर प्रसाद सबसे आदर्श उदाहरण मुझे दिखायी देते हैं। लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी निर्माण प्रयोगशाला की पहली देन अगर मैथिलीशरण गुप्त लगते हैं तो दूसरी विकसित निर्मित के रूप में रामधारी सिंह 'दिनकर' को देखा जा सकता है। मैथिली शरण गुप्त के सपाट भाषिक प्रयोगों के मुकाबले दिनकर में उदारता, गहराई और विस्तार ज्यादा दिखायी देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा दिनकर के पौराणिक पात्र आधुनिक समय की समस्याओं के ज्यादा अनुरूप लगते हैं। प्राचीनता के प्रति दिनकर में वैसा स्थापा नहीं है जैसा गुप्त में दिखायी देता है। दिनकर ऐतिहासिक, वैचारिक संघर्ष की निष्फलताओं और सफलताओं के अधिक मार्मिक चित्ते सिद्ध होते हैं। दिनकर अपनी समकालीनता को लेकर इतिहास में जाते हैं, इतिहास के माध्यम से वे वर्तमान की ओर नहीं आते। ऐसा लगता है कि वर्तमान को सुधारने के लिए वे इतिहास से सीखना चाहते हैं। हरिवंश राय बच्चन अपने वर्तमान को वर्तमान के ही एक नये गीत में ढालना चाहते हैं। जयशंकर प्रसाद तक तो हिन्दी कविता एकानन रही है, लेकिन उनके बाद हिन्दी षडानन (छः मुखों वाली) हुई :

ये छः मुख हैं : मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' और हरिवंश राय बच्चन।

पौराणिक पात्र षडानन कार्तिकेय की तरह भारतीय भाषाओं के अभिव्यक्ति सौन्दर्य को समृद्ध राष्ट्रीय अस्मिता तक पहुँचाने के लिए, भाषाओं की सेनापति बनने लायक वैज्ञानिक दक्षता हिन्दी दिखाने लगी। हिन्दी प्रादेशिकता से मुक्त होने लगी। साहित्य के अलावा क्षेत्रीयता और प्रांतीयता से हिन्दी को मुक्ति दिलाने वाला सबसे बड़ा माध्यम हिन्दी सिनेमा है। हिन्दी सिनेमा की सार्वदेशिक भाषा-प्रगति को निखारने में भोजपुरी और पंजाबी के अत्यधिक भाषा मिश्रण का हाथ है। हिन्दी को अब अपना एक नया स्वरूप खड़ा करना है, जिसमें पूर्वी भारत और दक्षिणी भारत की भाषाओं के मिश्रण का निखार हो। हैदराबादी हिन्दी की तरह। पश्चिम अपने युद्धों के कारण सांस्कृतिक रूप में अधिक क्रूर और अशांत दिखता है। लेकिन भारत अपने युद्धों की क्रूरता और निरर्थकता के अहसास के कारण अधिक शांत, सहिष्णु और अहिंसक बने रह सकने की ओर व्यवहार और आचरण, दोनों दृष्टियों से झुका हुआ लगता है। भारत युद्धों में होने वाली निरर्थक हिंसा को जानता है। हिंसा का एक विश्लेषण गीता है, दूसरा विश्लेषण गौतम बुद्ध; दोनों ही अपयश भरी मृत्यु से बचाते हैं। दोनों ही मृत्यु को उपयोगी और सुंदर बनाने पर जोर देते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने पौराणिक युद्ध आख्यानों को आजादी के बाद के भारतीय समाज की व्याख्या करने के लिए चुना। 'कुरुक्षेत्र' हो चाहे 'रश्मिर्थी' और चाहे प्रेम-युद्ध से आप्लावित 'उर्वशी', सब में युद्ध के बाद की अस्थायी शांति कैसे विजय की नश्वर चमक को बुझते हुए देखती है-इसका समकालीन दर्शन, दिनकर प्रतिपादित करते हैं।

दिनकर ऐसे कवि हैं जो युद्ध के बाद नव-निर्माण की इच्छा से भरे हुए कारीगर की तरह दिखते हैं। उन्हें वह शौर्य पसंद नहीं, जिसके पीछे न्याय की खोज और न्याय के लिए तड़प न हो। 'रश्मिर्थी' में उन्होंने सारे सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को नए सिरे से जाँचा है। चाहे गुरु-शिष्य संबंधों के बहाने हो, चाहे अविवाहित मातृत्व और विवाहित मातृत्व के बहाने हो, चाहे धर्म के बहाने हो, चाहे छल-प्रपंच के बहाने; दिनकर ने सबके शौर्य के अंध कारमय पक्षों को दिखाने की कोशिश की है। कुंती जो महाभारत में कृष्ण से और-और दुःखों की याचना करती है ताकि कृष्ण हमेशा साथ रहें, वही कुंती

माँ होकर भी कर्ण के दुःखों को नहीं समझ पाती है। दिनकर की कविता यह स्थापित करती है कि युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाया ही नहीं जा सकता। युद्ध आदि, मध्य और अंत तक पापयुक्त होते हैं। युद्ध उतने बड़े न्याय की स्थापना नहीं कर पाते, जितना बड़ा अन्याय वे फैलाते हैं। युद्ध भले ही शक्तिशालियों का दोहन करते हों, पराक्रमियों का सार्थक उपयोग करते हों, लेकिन वे पृथ्वी को और मनुष्यता को बाँटते हैं। पृथ्वी खुद एक ऐसा परिवार है जिस पर कुछ राष्ट्रवादी, देशवादी और धर्मवादी ताकतों ने भाषा और रीति-रिवाजों वाली जीवन पद्धति के आधार पर कब्जा कर रखा है। जितनी बार पृथ्वी ज्ञान और समझदारी के रास्ते से एक होना चाहती है- उतनी बार कुछ लोग युद्ध छेड़ देते हैं। युद्ध, पछतावे को शांति और शांति को पछतावे में बदल देता है।

कुंती राजघराने की सुशिक्षित कन्या थी। ऋषियों के सम्पर्क में आना और स्वतंत्र जीवन का उपभोग उसे सुलभ था। पुराणों में जो भी घटित होता है, वह शाप और वरदान या मंत्रशक्ति और अज्ञान इत्यादि के कारक बन जाने के कारण घटित होता है। कुंती के संबंध में भी यही आख्यान प्रसिद्ध है। लेकिन कुंती का कौमार्यभंग और अविवाहित माँ बनने का प्रकरण सामाजिक प्रदूषण तो था ही, इसलिए उसका प्रत्याख्यान वह प्रत्यक्षतः किसी से जीवन भर न कर सकी। आज भी अविवाहित स्थिति में किसी लड़की का माँ बन जाना उतना ही अमान्य और तिरस्कारणीय है। फर्क इतना ही है कि मंत्रशक्ति से प्राप्त सूर्य के संसर्ग से उत्पन्न संतान को अविवाहित राजकुमारी एक स्वर्ण-मंजूषा में रखकर नदी में प्रवाहित कर देती है और आज की लड़की उसे कचरा पेटी में रखकर म्युनिसिपैलिटी के कूड़ाघर में छोड़कर चली आती है। महाभारत काल से आज तक नये मनुष्य के जन्म की वैधता को सुंदर, गरिमापूर्ण और मान्यता प्राप्त बनाये रखने के उपक्रम एक जैसे हैं। इस क्षेत्र में भारतीय समाज आगे नहीं बढ़ा है। उसका चिंतन अज्ञात कुलशील को गोद लेने की ओर तो बढ़ा, पर लांछित जननी को सामाजिक स्वीकृति देने की ओर रंचमात्र भी नहीं बढ़ा है। जो भी हो, लेकिन पौराणिक साहित्य ऐसी संतानों की काबिलियत और नालायकियों से भरा पड़ा है। दिनकर ने भी 'रश्मि' के माध्यम से इस प्रश्न की उधेड़बुन में तर्क खड़े किये हैं। कर्ण को पता है कि वह सूर्य-पुत्र है। यह बात एक दिन सूर्यदेव ही आकर उसे बता जाते हैं लेकिन माँ ने सार्वजनिक घोषणा नहीं की, इसलिए इकतरफा गोपनीयता भंग करने को सामाजिक मान्यता

नहीं मिल सकती। यहीं महाभारतकार को भी और दिनकर को भी जाति पर विमर्श का अवसर प्राप्त हो जाता है। व्यास कहते हैं कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं और कर्ण अपने शौर्य तथा अपने पराक्रमपूर्ण कर्म से अपनी अनुपमेय वीरता का साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं, तो भी जीवनभर जाति और जन्म की संदिग्धता का कलंक ढोते हैं। यह घटना भारतीय समाज की आंतरिक बनावट और चेतना की गिरावट का पता देती है। यहाँ प्रश्न अस्तित्व का नहीं है, बल्कि ज्ञात कुलशीलता का है। यहाँ छिपाने का विरोध नहीं बल्कि संबंधों की निर्धारित पवित्रता के उल्लंघन का दण्ड अधिक दिखायी देता है। न्याय की और सत्य की तलाश में व्यथित कर्ण कभी भी उस पांडुवंश का सदस्य नहीं बन सका, जो माँ के मनचाहे गर्भों से उत्पन्न परिवार है और जो जीवनभर अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। 'रश्मि' इसी विडम्बना का काव्य है।

अपनी कविता के विकास क्रम में दिनकर ऐसी भाषा अपने लिए अन्वेषित कर रचते चले गये हैं जिसमें युद्ध की निरर्थकता को परम पराक्रमी कर्ण सरलतम मुहावरे में परिभाषित करते हैं :

*निस्सार द्रोह की क्रिया, व्यर्थ यह रण है,
खोखला हमारा और पार्थ का प्रण है।
फिर भी जाने किसलिए न हम रुकते हैं,
चाहता जिधर को काल उधर झुकते हैं।*

कर्ण के अन्तर्द्व द्व को प्रकट करने के लिए कवि ने एक नया ही मुहावरा गढ़ा- 'चला खोया हुआ सा कर्ण मन में, कि जैसे चाँद चलता हो गगन में।'

विषाद और विपत्ति में सूर्य-पुत्र का चंद्रमा जैसा मन जो कई तरह की गहरी छायाओं से 'ग्रहण' की तरह घिरा हुआ है, लेकिन उसकी स्वर्णिम कवच-कुंडलों वाली दीप्ति कवि की भाषा में 'खोया हुआ चाँद' के रूप में दीप्ति है। पंत अपनी कविता में स्वर्ण (सोने) की बहुत बड़ी टुकसाल लिए हुए हैं, चाहे स्वर्ण शिखर हो चाहे स्वर्ण रेणु, चाहे स्वर्ण रश्मि हो चाहे स्वर्ण सौरभ, लेकिन दिनकर जब कर्ण के संदर्भ में यह कहते हैं कि 'दीप्ति ललाट अपरार्क-सदृश लगता था' तो सारा स्वर्ण, धरा रह जाता है। कर्ण का जीवन अपने गुरु परशुराम जैसा ही जिद्दी, हठीला और करुणायुक्त होते हुए भी कई विडम्बनाओं और अंतर्विरोधों से भरा है। परशुराम के बारे में कहा जाता है कि चारों वेद उनके आगे चलते हैं और धनुष-बाण उनकी पीठ पर रहते हैं। मार्ग

उनका ब्राह्मणत्व का है। लेकिन उस पर वे क्षत्रियत्व वहन कर रहे हैं क्योंकि ब्राह्मण उनके पिता जमदग्नि हैं और माँ उनकी इक्ष्वाकुवंश की क्षत्राणी राजकुमारी रेणुका हैं। ऐसे परशुराम अपने शत्रु को एक धर्मिष्ठ-कर्मिष्ठ ब्राह्मण की तरह 'शाप' से भी पराजित करते हैं और शर (बाण) से भी।

*अग्रतः चतुरोवेदाः पृष्ठतः सशरो धनुः
इदं ब्राह्म-इदं क्षात्रं, शापादपि शरादपि।*

युद्ध में भी मनुष्य के ऊँचे गुणों की पहचान के प्रति ललक का काव्य है 'रश्मि रथी'। 'रश्मि रथी' यह भी संदेश देता है कि जन्म-अवैधता से कर्म की वैधता नष्ट नहीं होती। अपने कर्मों से मनुष्य मृत्यु-पूर्व जन्म में ही एक और जन्म ले लेता है। अंततः मूल्यांकन योग्य मनुष्य का मूल्यांकन उसके वंश से नहीं, उसके आचरण और कर्म से ही किया जाना न्यायसंगत है। आज हम ऐसे महाभारत से गुजर रहे हैं जिसका युद्ध-क्षेत्र भारत से बाहर निकलकर फैल गया है। दुनिया में युद्ध कहीं भी हो, महाकवि दिनकर की कविता उसकी पीड़ा को भारतीय संवेदना का हिस्सा बनाती है। वाल्मीकि, व्यास, दिनकर और निराला; ये कवि युद्ध की त्रासदी के भारतीय व्याख्याता हैं। भारत का करुणापूर्ण हृदय विश्व की किसी भी त्रासदी में, इन कवियों के माध्यम से, अपने को सबसे पहले शामिल समझता है। युद्ध की विभीषिका आज जठराग्नि जैसी सब में फैली हुई है। अब केवल एक राजसत्ता, एक वंश, एक परिवार या एक देश ही इसमें शामिल नहीं है, बल्कि दुर्भाग्य से सभी देशों की राज-सत्ताएँ, सभी धर्म इसमें शामिल हो गए हैं। दिनकर की कविता धर्म की मनुष्य के पक्ष में व्याख्या करती है। उनके प्रश्न आज भी उतने ही सटीक और उतने ही अनुत्तरित हैं :

*क्या शस्त्र ही उपचार एक अमोघ है
अन्याय का, अपकर्ष का
विष का, गरलमय द्रोह का?
...यह पराजय या कि जय किसकी हुई?
चाहता था प्राप्त मैं करना जिसे
तत्व वह करगत हुआ या उड़ गया?
यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ...
वज्र सा कुछ टूटकर स्मृति से गिरा...?*

धर्म और विज्ञान के समन्वयक चिंतक-कवि अवधेश प्रधान

*एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान
लेकर उठने वाला है धरती पर हिन्दुस्तान ।*

—दिनकर

यूरोप में जब विज्ञान का अभ्युदय हो रहा था तब धर्म हास और पतन की ओर उन्मुख होकर अधिक से अधिक संकीर्ण और कट्टर होता जा रहा था। टालेमी के भू-केन्द्रित खगोल विज्ञान के विरुद्ध कोपरनिकस ने 1543 ई० में सूर्य-केन्द्रित खगोल विज्ञान का प्रतिपादन किया, अपनी पुस्तक के प्रकाशन के कुछ घंटों बाद ही उनका निधन हो गया इसलिए वे अपनी क्रांतिकारी सिद्धान्त का दंड प्रतिक्रांतिकारियों के हाथों पाने से बच गए लेकिन उनकी मृत्यु के बाद ही चर्च के धर्माधिकारियों ने उनके सिद्धान्त के विरुद्ध निन्दा की। महान् वैज्ञानिक गियार्दानो ब्रूनो को जिंदा जला दिया गया। 1611 ई० में गैलीलियो ने अपनी दूरबीन से जो पर्यवेक्षण किए थे उनके आधार पर कोपरनिकस की भविष्यवाणियों को सत्य प्रमाणित कर दिया। ईसाई धर्म न्यायालय ने गैसीलियो को इस सत्य-निष्ठा के लिए जो यंत्रणाएँ दीं वे धार्मिक इतिहास पर ऐसे बदनुमा दाग हैं जो कभी मिटाये नहीं जा सके। इसी धार्मिक रूढ़िवादी, कट्टरपन और असहिष्णुता के विरुद्ध शताब्दियों तक निरंतर संघर्ष करते हुए विज्ञान ने सत्य का सन्धान जारी रखा और अंततः धर्म को आत्म-रक्षा की स्थिति में डाल दिया।

विज्ञान में जब भी पुराने सिद्धान्त कट जाते हैं, उनकी जगह नए सिद्धान्त आते हैं तो उनका स्वागत किया जाता है और इस तरह विज्ञान में बराबर नित्य-नवीन प्रगति जारी रही है और इसी प्रक्रिया में मनुष्यता को नित्य-नवीन गति और प्रगति प्रदान करता रहा है। धर्म ने विज्ञान और मनुष्यता की इस नई

गति-प्रगति से कुछ नहीं सीखा; फलस्वरूप विज्ञान के समक्ष उसकी पौराणिक कल्पनाओं, पुरोहिती व्यवस्थाओं और फुसफुसी अंधविश्वासों की धज्जियाँ उड़ गईं। धर्म मनुष्य की क्या रक्षा करता, वह तो वैज्ञानिक युक्तियों के मुकाबले स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो गया। विज्ञान में अज्ञान, असंगति, असत्य या सत्य की उपेक्षा के लिए कोई जगह नहीं है जबकि धर्म में इनकी गुंजाइश और खपत अब भी होती रहती है। फलतः धर्म मनुष्य को उदात्त जीवन की, जीवन के उच्चतम लक्ष्य की प्रेरणा देने में असफल होता चला गया।

लेकिन भारतीय नवजागरण की कहानी बिलकुल दूसरी है। यहाँ वेदों, उपनिषदों के साथ-साथ गणित, इतिहास, पुरातत्त्व आदि के अध्ययन-अनुसंधान, व्याख्या-पुनर्व्याख्या का उभार आया। ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा का विरोध नहीं हुआ। धर्म ने विज्ञान का विरोध और उत्पीड़न तो दूर की बात है, उलटे स्वागत किया और विज्ञान ने भी धर्म की प्रामाणिक अनुभूति और अनुभूतिलब्ध सत्य का सम्मान किया। श्रीरामकृष्ण परमहंस और डॉ॰ महेन्द्रलाल सरकार, स्वामी विवेकानन्द? डॉ॰ जगदीशचन्द्र वसु, सिस्टर निवेदिता और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अंतःसम्बन्धों का अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय नवजागरण में धर्म, विज्ञान, साहित्य और कला का जागरण साथ-साथ हुआ और उनमें एक दूसरे के साथ सहयोग और आदान-प्रदान होता रहा।

पश्चिम में विज्ञान की चुनौतियों के सामने धर्म ने बालू में सिर गाड़ लेने की या कट्टरपन और असहिष्णुता की नीति अपनाई, वहीं भारत में धर्म ने विज्ञान की चुनौतियों का स्वागत करते हुए स्वामी विवेकानन्द के स्वर में घोषणा की, “क्या धर्म को भी स्वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य प्रमाणित करना है जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण-पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है? ... मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और मेरा अपना विश्वास भी यह है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा। यदि कोई अंधविश्वास का और वह जितनी जल्दी दूर हो जाय उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जाएगा पर इस अनुसंधान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएंगे। वह केवल विज्ञान सम्मत ही नहीं होगा—कम से कम उतना ही

वैज्ञानिक जितनी की भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं— प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अंतः साक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है” (विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० 278) इस घोषणा में विज्ञान के प्रति सम्मान और धर्म के अमरत्व के प्रति दृढ़ विश्वास दोनों मौजूद हैं।

दूसरी तरफ विज्ञान के मुंह से धर्म की गहन अनुभूतियों की स्वीकृति भी आधुनिक युग का एक प्रीतिकर तथ्य है। डॉ॰ जगदीशचन्द्र वसु अपने अनुसंधानों के क्रम में भौतिक विज्ञान से होते हुए शरीर क्रिया विज्ञान की सीमा में पहुँच गए और पाया कि चेतन और अचेतन की सीमाएँ विलीन हो रही हैं, जड़ नितान्त जड़ नहीं है, “एक सामान्य प्रतिक्रिया धातुओं, पौधों और पशुओं को एक ही नियम के अंतर्गत ला रही थी।” वही दावे के साथ कह सकते थे, “भारतीय मन स्वभावतः एकत्व के भाव का अनुभव करने तथा दृश्यमान जगत् के पीछे एक सुसंबद्ध ब्रह्माण्ड को देखने में सक्षम है।” 10 मई 1901 को रॉयल इंस्टीट्यूट के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, “जब मैंने इन स्वनिर्मित प्रमाणों के मूक साक्षी को पाया एवं सर्वव्यापी एकत्व, जो अपने में सभी पदार्थों का समावेश करता है, के एक पक्ष को देखा—प्रकाश की लहरों में कपित हो रहे कण को, प्रणियों के चातुर्य से परिपूर्ण पृथ्वी को एवं हमारे ऊपर चमकते ज्योतिर्मय सूर्यों को—तब मैं अपने पूर्वजों द्वारा तीस शताब्दी पूर्व गंगातट पर उद्घोषित संदेश को पहली बार थोड़ा बहुत समझ सका था— “इस जगत् की समस्त विविधताओं में एकत्व का दर्शन करने वाले ही चरम सत्य के अधिकारी होते हैं, अन्य कोई नहीं।” इस युग के महान् युगांतरकारी वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने विज्ञान की सीमा को रेखांकित करते हुए कहा था, “यह भी उतना ही स्पष्ट है कि ‘जो है’ का ज्ञान, ‘जो होना चाहिए’ के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त नहीं करता।” अपनी तमाम वस्तुनिष्ठता और निश्चयकता के बावजूद विज्ञान जीवन के उच्चतम लक्ष्य और आदर्श का निर्देश नहीं कर सकता। मूल्यों और आदर्शों की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी उससे नहीं मिल सकती। इसलिए जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है कि धर्म और विज्ञान के बीच आदान-प्रदान का सम्बन्ध बने। उनके शब्दों में, “धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है, विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।” अर्थात् जीवन की पूर्णता के लिए धर्म और विज्ञान का समन्वय आवश्यक है।

विज्ञान के नए अनुसंधानों ने अनंत और विराट् के रहस्य का संकेत किया

है और वेदांत-प्रतिपादित नानात्व में एकत्व के आदर्श को, भेद में अभेद के सत्य को मजबूत किया है इसीलिए दिनकर लिखते हैं, “विज्ञान का कर्मक्षेत्र प्रायः उस भूमि को छूने लगा है जो धर्म और रहस्यवाद की क्रीड़ा स्थली के पास है।” और “विज्ञान की नई प्रवृत्तियाँ हमें जिस ऊँचाई पर ले गई हैं वहीं से दर्शन का समुद्र दिखाई देने लगा है।” अर्थात् विज्ञान और दर्शन एक दूसरे के निकट आ गए हैं।

धर्म और विज्ञान अपने शुद्ध रूप में मनुष्यता के लिए वरदान हैं लेकिन एक ओर धर्म के संकीर्ण सांप्रदायिक और कट्टर रूप ने सदियों तक मनुष्य का खून बहाया है तो दूसरी ओर विज्ञान के पूँजी और सत्ता-सेवी स्वार्थलोलुप रूप ने अकेले बीसवीं सदी में दो दो महायुद्धों में जो महानाश किया है, इतिहास के तमाम युद्ध, हत्याकांड और विध्वंस मिलकर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में ठंडे दिमाग से तैयार किये गए प्रक्षेपास्त्रों, बमों और मारक रसायनों के जखीरे ने मनुष्य, जीवमंडल, प्रकृति और समूची पृथ्वी के ही विनाश का खतरा पैदा कर दिया है। इस परिस्थिति ने विश्व के चिंतकों और मनीषियों को विज्ञान और धर्म के स्वरूप, भूमिका और अंतःसम्बन्ध पर नए सिरे से सोचने पर मजबूर किया है।

द्वितीय महायुद्ध ने भारत ही नहीं संसार के चिंतकों और कवियों को हिलाकर रख दिया। अपने देश में इस विभीषिका से मर्माहत जिन कवियों की वाणी क्रोध और करुणा, चिंता और चिंतन की भाषा में फूट पड़ी उनमें दिनकर जी अन्यतम हैं। महाभारत के युद्ध में विजयी होकर राजसिंहासन पर बैठने के बावजूद विधवाओं के क्रंदन, घायलों की कराह, पीड़ितों के विक्षोभ और अभिशाप से आहत और जर्जर, हताश और अनुतप्त युधिष्ठिर में आधुनिक मनुष्य के युद्धोत्तर मानस का आधार मिल गया और ‘कुरुक्षेत्र’ में “एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय” “मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर” बोल उठा।

यह मनुज ज्ञानी गालों कुक्करोँ से हीन
हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।
देह ही लड़ती नहीं, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान!
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल
वज्र हो कर छूटते शुभ धर्म अपना भूल॥

कला-विज्ञान को भी साथ लेकर मनुष्य ने अपने मन-प्राण समेटे गालों-कुक्करोँ से भी हीन स्तर पर जो लड़ाई लड़ी, जो ध्वंसलीला रची वह महाभारत से अधिक बीसवीं सदी का यथार्थ है। मनुष्य के हाथ से विज्ञान के फूल अपना शुभ धर्म भूलकर वज्र की तरह मनुष्यता के ऊपर छूट पड़े थे—दूसरे महायुद्ध में। ‘कुरुक्षेत्र’ के छठे सर्ग में युद्ध की समस्या से लगी हुई यह जो विज्ञान की भयावह परिणति है वही कविता के केन्द्र में है। उस समर में युधिष्ठिर और भीष्म के बजाय स्वयं कवि ही चीत्कार कर उठा है—

धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से; अभिसिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण?

सबसे पहले कवि के विज्ञान की दिग्विजय का ओजस्वी उदात्त चित्र खींचा है। पहले के युगों की तरह मनुष्य का जीवन प्राकृतिक शक्तियों के आगे लाचार नहीं है, वह द्वापर से बहुत दूर विज्ञान के युग में आ गया है, विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों का एक-एक कर भेदन किया है और उसकी शक्तियाँ अब मनुष्य की मुट्ठी में हैं—

आज की दुनिया विचित्र, नवीन
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन
है बंधे नर के करों में वारि, विद्युत्, भाप
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लांघ सकता नर सरित्, गिरि, सिंधु, एक समान।
शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्त्व करते हैं मनुज के कार्य।
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश
और करता शब्द गुण अंबर वहन संदेश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल
है सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।
यह प्रगति निस्लीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!

लेकिन इतने प्रचंड विकास के बावजूद मनुष्य सुखी नहीं है, उसकी अशांति और बेचैनी दिनोंदिन बढ़ रही है, उसके जीवन की शाश्वत समस्याएं हल नहीं हुई; भौतिक सुख-सुविधाओं की अपरंपार वृद्धि हुई है लेकिन उसी अनुपात में आत्मिक अवसाद और हताशा में भी वृद्धि हुई है। श्री अरविंद पर लिखते हुए 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर जी ने विज्ञान की सीमा को रेखांकित किया, "विज्ञान की वृद्धि से भी मनुष्य की शाश्वत समस्याएं दूर नहीं हुई। वह आज भी दुःखी है। वह आज भी रोग, शोक, जरा और मरण या शिकार होता है तथा सबसे बड़ी बात यह है कि पहले जिन सुखों की लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन सुखों के शैल पर बैठा हुआ मनुष्य भी चंचल, विषण्ण और अशांत है तथा उतना अशांत है जितना पहले के युग में शायद ही कोई रहा हो। अतएव चिंतकों पर यह प्रतिक्रिया हुई कि मनुष्य की समस्याओं का समाधान विज्ञान भी नहीं है क्योंकि विज्ञान से शरीर चाहे जितना सुखी हो जाय, आंतरिक संतोष में वृद्धि नहीं होती; उलटे, दिनों-दिन उसकी मात्रा घटती जाती है।" संसार विज्ञान को पाकर धर्म से अलग हो गया था। अब उसे दिखलाई पड़ने लगा कि विज्ञान भी यथेष्ट नहीं है।"

डॉ० राधाकृष्णन ने विज्ञान के दोषों की आलोचना करते हुए लिखा था कि उसकी जीवविज्ञान जैसी शाखा प्राकृतिक नियमों की अनिवार्य अधीनता का प्रचार करती है, फलतः मनुष्य अपने किसी कार्य में अपने को स्वाधीन नहीं मानता। मनोविज्ञान ने बताया कि मनुष्य चेतना अवस्था में भी स्वाधीन नहीं है, उसकी अचेतन वृत्तियाँ, उसके आवेग ही उसमें व्यवहार को प्रेरित और चालित करते हैं। बस प्रकृति में यहाँ से वहाँ तक कुछ नियमों का शासन है और मनुष्य उनका दास है। समय-समय पर वैज्ञानिक इस सृष्टि के नाश की भी भविष्यवाणियाँ करते रहते हैं। इन सारी चीजों ने मानव जीवन में हताशा, विवाद और उद्देश्यहीनता भर दी है। मनुष्य इसकी भरपाई भौतिक और ऐन्द्रिय सुखों से करना चाहता है, फलतः उसकी आत्मिक रिक्तता और बढ़ती जाती है। डॉ० राधाकृष्णन् के विश्व-दर्शन पर विचार करते हुए इस प्रसंग में दिनकर जी ने लिखा है, "विज्ञान ने आधिभौतिक सुखों में तो काफी वृद्धि की किन्तु मनुष्य के मन को उसने विषण्ण बना डाला। आत्मा, परमात्मा एवं सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को अविचारणीय बताकर उसने मनुष्य को मानो यह शिक्षा दी है कि तुम्हारा काम जनमना, बढ़ना, कमाना और खर्च करना, सन्तान

उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर इस विश्वास को लेकर मर जाना है कि मनुष्य शरीर भी प्रकृति परिचालित यंत्र है और इस यंत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मानव जीवन का और कोई ध्येय नहीं है।" कुछ इसी दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने विज्ञान-युग के मनुष्य से पूछा था—

बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?

यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ!

विज्ञान युग के विकास की विडंबना ही यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क ही अकेला बढ़ता गया है लेकिन उसका हृदय पीछे छूटता गया है, बुद्धि उसकी अंतरिक्ष की थाह ले रही है और मन इंद्रिय-सुखों का बंदी रह गया है—

बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच!

यह वचन से देवता पर कर्म से पशु नीच!

प्रकृति का बाह्य ज्ञानराशि-राशि पूंजीभूत होता गया है लेकिन अंतःप्रकृति के स्तर पर मनुष्य आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि की लालसा का वैसा ही दास है जैसा पशु! इसलिए लूट है, शोषण है, यौन अपराध है, हिंसा, हत्या और युद्ध है। पशुवृत्तियों को वश में करने वाली संयम, त्याग, करुणा, परोपकार आदि की धार्मिक प्रेरणाओं से अपने को वंचित रखकर मनुष्य ने जीवन को श्रेयहीन बना डाला है। इन्द्रियों को लुभाने वाला प्रेय उसका श्रेय नहीं हो सकता; उसका श्रेय है निःस्वार्थ प्रेम—

श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत

श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत

मनुष्य का श्रेय है उसकी दिव्य आत्मा, मनुष्य मात्र का कल्याण, न्याय, समता, त्याग और संतोष के आधार पर नए प्रेममय मानवसमाज का, उसके नए इतिहास का निर्माण—

दिव्य भावों के जगत् में जागरण का गान

मानवों का श्रेय आत्मा का किरण-अभिमान

यजन, अर्पण, आत्म सुख का त्याग

प्रेम मानव का तपस्या की दहकती आग

बुद्धि-मंथन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत

दिनकर के पूर्ववर्ती काव्य (1929-1947) में राष्ट्रीयता की अनुगूँज सत्यकाम

दिनकर का प्रबन्धकाव्य 'प्रणभंग' 1928 में लिखा गया और 1929 में प्रकाशित हुआ। पर प्रणभंग में दिनकर की राष्ट्रीय चेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हुई है इसका कारण इस समय राष्ट्रीय आन्दोलन का सरकार द्वारा क्रूर दमन और दिनकर की पारिवारिक परिस्थितियाँ ही रही होगी। प्रायः ही ऐसी स्थितियों में औपनिवेशिक शासन के दमन और आतंक में जीने वाले राष्ट्रवादी लेखक प्रच्छन्न राष्ट्रीयता का मार्ग अपनाते हैं, जिसमें वर्तमान विदेशी शासन की आलोचना रूपक के सहारे की जाती है। यह कवि का गुरिल्ला युद्ध था अंग्रेजी शासन के खिलाफ। हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का यही रूप था और दिनकर ने भी प्रणभंग में यही मार्ग अपनाया है। इसमें कहानी तो महाभारत से ली गयी है, पर इसके माध्यम से यह कहा गया है कि गुलामी का अपमान भरा जीवन जीना कलंक है और यदि हम इसी प्रकार अपमान का विष पीकर जीवित रहते हैं तो यह हमारे वीर पूर्वजों का भी अपमान है। दिनकर वैचारिक दृष्टि से गाँधी की अपेक्षा क्रान्तिकारियों के अधिक निकट थे। इसलिए युद्ध के पहले जब युधिष्ठिर के मन में पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की दुविधा पैदा होती है, तो अर्जुन, भीम आदि एक साथ आक्रोश से फट पड़ते हैं—

अपना अनादर देखकर भी आज हम जीते रहे।
चुपचाप कायर से गरल के घूँट यदि पीते रहे।
तो वीर जीवन का कहाँ रहता हमारा तत्त्व है?
इससे प्रकट होता यही हममें न अब पुरुषार्थ है।

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

दिनकर के अनुसार यदि भारत गुलाम था, तो इसका कारण भारत से पुरुषार्थ का लोप था। उनके अनुसार स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए देश को अहिंसा से अधिक पौरुष, दर्प और ओज की जरूरत थी। वे भारतीय युवकों में वही पौरुष और दर्प देखना चाहते थे। वस्तुतः कृष्ण के रूप में दिनकर का वही युवक सामने आता है—

थी नेत्र की प्रति-ज्योति से खर अग्निधारा छूटती।
थी रोष में प्रत्यंग से ज्वाला भयंकर फूटती।।
वह सृष्टि-नाशक सूर्य-सा करने चला संहार था।
कँपने लगा उस काल उसके रोष से संसार था।

प्रणभंग के बाद स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले तक दिनकर के प्रकाशित कविता-संकलन ओर प्रबन्ध काव्य है— रेणुका (1935), हुंकार (1939), रसवन्ती (1940), द्वन्द्वगीत (1940), कुरुक्षेत्र (1946), धूपछाँह (1946), सामधेनी (1947) और बापू (1947)। इनमें कुरुक्षेत्र और बापू को छोड़कर अन्य सभी कविता-संकलन हैं। द्वन्द्वगीत फुटकल पदों का संग्रह है और धूपछाँह किशोर पाठको के निमित्त रचित कविताओं का संकलन है। अतः दिनकर के काव्य-विकास और काव्य-प्रकृति को समझने के लिए रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, धूपछाँह, सामधेनी और बापू के महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना जरूरी है कि किसी संग्रह-विशेष के प्रकाशन के पूर्व लिखित सारी कविताएँ उसमें समाहित कर ली गयी हों, ऐसा नहीं है। मसलन 1929-35 अवधि में लिखित कुछ कविताएँ रेणुका (1935) में संकलित न होकर हुंकार (1939), रसवन्ती (1940), दिल्ली (1954) और मृत्तितिलक (1954) में और 1936 से 1939 अवधि में रचित कुछ कविताएँ हुंकार में संकलित न होकर रसवन्ती (1940) मृत्तितिलक (1964) में संकलित हुई हैं। इसी प्रकार 1941-47 में रचित अधिकतर कविताएँ तो सामधेनी (1947) में संकलित हैं पर कुछ कविताएँ इतिहास के आँसू (1951), धूप और धुआँ (1951), नीम के पत्ते (1954), नील कुसुम (1954) परशुराम की प्रतीक्षा (1963) और मृत्तितिलक (1964) में भी संकलित हुई हैं। अतः दिनकर के काव्य-विकास को समझने के लिए उनके कविता-संग्रहों के प्रकाशन-तिथिक्रम से अधिक महत्त्व कविताओं के लेखन-तिथिक्रम का है, जिसे ध्यान में रखना जरूरी है।

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

दिनकर की पहली उपलब्ध कविता 'बागी' है, जो 1929 में रचित और 1935 में रेणुका में प्रकाशित हुई थी। यह सात पंक्तियों का छन्द बोस्टन जेल में शहीद हुए यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर लिखा गया था। बड़ी कुशलता से केवल एक शब्द 'बागी' का प्रयोग करके एक सामान्य स्वजन-वियोग के भाव को सरकार की नजरों में एक खूंखार क्रांतिकारी से जोड़ दिया गया है। निश्चय ही कविता के साथ पादटिप्पणी में जोड़ी गयी सूचना बाद के संस्करण की है। हुंकार में संगृहीत इसी काल (1933) की 'दिल्ली' शीर्षक कविता में भी हँसते हँसते मौत को गले लगा लेने वाले क्रांतिकारी युवकों का स्तवन किया गया है—

अपनी गरदन रेत-रेत असि की तीखी धारो पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ के हुंकारो पर।
पगली! देख, जरा कैसी मर मिटने की तैयारी?
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बनजारों पर।

इस तरह की कविताएँ 1933 के दमनकारी युग में लम्बे कारावास का खतरा उठाकर ही लिखी जा सकती थी। इनसे दिनकर की निर्भीक राष्ट्रीय चेतना का पता चलता है।

इस संकलन की पहली कविता मंगल आह्वान (1933) कवि की उस बेचैनी का परिचायक है, जिसमें वह अपनी विषम पारिवारिक परिस्थितियों में भी अपनी राष्ट्र-चेतना को वाणी देना चाहता है: "भावों के आवेग प्रबल मचा रहे उर में हलचल/ ... पर, हूँ विवश, गान से कैसे/जग को हाय! जगाऊँ मैं/इस तमिस्र युग-बीच ज्योति की/कौन रागिनी गाऊँ मैं? ... दो ओदश, फूँक दूँ शृंगी/उठें प्रभाती-राग महान/तीनों काल ध्वनित हों स्वर में/जागें सुप्त भुवन के प्राण ... प्रियदर्शन इतिहास कंठ में/आज ध्वनित हो काव्य बने/वर्तमान की चित्रपटी पर/भूतकाल सम्भाव्य बने।" इसी राष्ट्रीय भावबोध की कविताएँ 'कस्मै देवाय', 'पाटलिपुत्र की गंगा से' (1931), 'कविता की पुकार', 'ताडंवा', 'हिमालय के प्रति' (1933), 'बोधिसत्व, मिथिला (1943), 'प्रेम का सौदा' (1935) आदि हैं, जो रेणुका में संगृहीत हुई। हुंकार (1939) में प्रकाशित 'दिल्ली' (1933), 'कविता का हठ' (1934), 'परिचय', 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी', 'वसन्त के नाम पर', 'शब्दबेध' (1935), आदि कविताओं को भी इन्हीं कविताओं के साथ रखकर देखना चाहिए। इन कविताओं में भारत के गौरवमय अतीत की स्मृति, वर्तमान व्यवस्था को बदलने की कामना, शौर्य और

बलिदान के बल पर अतीत की समृद्धिको प्राप्त करने की तड़प आदि भावों की व्याजारोपित अभिव्यक्ति हुई है। उद्देश्य सरकार को चकमा देकर युवा पाठकों को क्रान्ति-चेतना से अनुप्राणित करना था। 'मिथिला' शीर्षक कविता में मिथिला औपनिवेशिक भारत की तस्वीर बन कर उभरी है: 'मैं पतझड़ की कोयल उदास/बिखरे वैभव की रानी हूँ/मैं हरी-भरी हिमशैल-तटी की विस्मृत करुण कहानी हूँ।" 'कस्मै देवाय?' में कवि अपने वर्तमान से आहत होकर गौरवशाली अतीत की याद करता है: 'दिल्ली की गौरव-समाधि पर/आँखों ने आँसू बरसाये;/सिकता में सोये अतीत के/ज्योति-वीर स्मृति में उग आये। ... मैं निज प्रियदर्शन अतीत का/खोज रहा सब ओर नमूना/सच है या मेरे दृग का भ्रम?/लगता विश्व मुझे यह सूना।" इस अतीत-स्मरण में कवि अपने वर्तमान को नहीं भूल पाता। वह देखता है कि संसार 'दुर्वह शस्त्रों के भार' से कराह रहा है, फिर भी अपने को 'सभ्य' कहने वाला समाज 'युगव्यापी संहार' से सन्तुष्ट नहीं है।

औपनिवेशिक शोषण इसी साम्राज्यवादी-पूँजीवादी साजिश का परिणाम था। कवि लिखता है: "देख, कलेजा फाड़ कृषक/दे रहे हृदय-शोणित की धारें;/बनती ही उन पर जाती हैं/वैभव की ऊँची दीवारें", 'धन-पिशाच के कृषक मेघ में/नाच रही पशुता मतवाली/आगन्तुक पीते जाते हैं/दीनों के शोणित की प्याली।' इन पंक्तियों में आये 'कृषक' 'वैभव की ऊँची दीवार', 'आगन्तुक' आदि के सन्दर्भ भारतीय परिवेश को सांकेतिक रूप से इंगित करते हैं। कवि को इसका समाधान क्रान्ति में दिखाई पड़ता है। रूस में यह क्रान्ति पहले ही हो चुकी थी, अतः कवि 'लेनिन के दिल की चिनगारी' के रूप में इस क्रान्ति का आवाहन करता है।

'पाटलिपुत्र की गंगा से' में कवि पाठक की स्मृति को जगाना चाहता है कि कभी विजयी चन्द्रगुप्त के चरणों पर झुककर यूरोपीय सैल्यूकस ने 'मनुहार' किया था और 'जगती पर छाया करती थी/कभी हमारी भुजा विशाल/बार बार झुकते थे पद पर/ग्रीक-यवन के उन्नत भाला।" यहाँ 'सैल्यूकस' का उल्लेख अर्थ-विच्छिन्ति से अँगरेजों की ओर इंगित करता है। कवि गंगा के बहाने अपने पाठकों को ही सम्बोधित करता है: 'खंडहर में सोयी लक्ष्मी का/फिर कब रूप सजाओगे?/ भग्न देव-मन्दिर में कब/पूजा का शंख बजाओगे?"

दिनकर की कविताओं में उनका राष्ट्र प्रेम अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ

है। वे अपने पाठकों को अपने गौरवमय अतीत के स्मरण करने को ही नहीं कहते, बल्कि गाँवों की ओर जाने का भी निमन्त्रण देते हैं। आज (इक्कीसवीं सदी में) भारत भले ही गाँवों से नगरों की ओर आ रहा हो, पर दिनकर के समय में सचमुच 'भारत माता ग्रामवासिनी' थी। उस समय गाँवों की प्रकृति, पेड़-पौधों, धूल-धूसरित पगडंडियों, सूखी धरती, मुरझाए पौधों का आत्मीयतापूर्ण गान राष्ट्रप्रेम का दिव्य रूप था। इसलिए कविता कवि से कहती है—

नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार,
धूसर भुवन-स्वर्ग-ग्रामों-में कर पायी न विहार।
आज यह राजवाटिका छोड़ चलो कवि वनफूलों की ओर।
और वह पाठक को वहाँ खड़ा कर देता है जहाँ ...
स्वर्णाचला अहा! खेतों से उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायेँ आ रही रौंदती घास हरी।
घर घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी बारी,
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहाँ अटके बनवारी?'
पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।

(कविता की पुकार)

इस कविता में कवि का गाँव के प्रति जो रागात्मक भाव व्यक्त हुआ है, वह वस्तुतः प्रकारान्तर से राष्ट्रप्रेम ही है। 'कहाँ अटके बनवारी' और 'किसी भाँति ढोती गागर' में संवेदनशील पाठक को औपनिवेशिक शासन में पीड़ित पराधीन भारत की व्यथा की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। गाँव से कवि का रागात्मक सम्बन्ध कितना गहरा है, इसका बोध इन पंक्तियों से होता है—

कवि! असाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।

किसानों की खलिहानों में रोने की नियति तो औपनिवेशिक शासन की अनिवार्य देन थी, जिसका अभूतपूर्व अंकन प्रेमचन्द ने भी किया है। इस अनिवार्य नियति के सन्दर्भ में खेतों में, जो आशा की डोर में बँधे दुःखी किसानों का एकमात्र उत्सव है, 'पर्व मनाने' की कल्पना कितनी करुण है, यह सहृदय संवेद्य है। यह पूरी कविता औपनिवेशिक शासन में भारतीय किसान की दारुण नियति की महागाथा है। कविता कहती है—

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
में फाड़ूँगा हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।

यह कविता इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि यह कवि के वास्तविक अनुभव के ताप से पैदा हुई है। दिनकर को देश की गरीबी, अशिक्षा, पिछड़ेपन, सामाजिक विषमता आदि का पूर्ण बोध था और वे यह भी मानते थे कि इसके मूल में भारतीय प्रजाति की हीनता नहीं जैसा अंग्रेज इतिहासकार प्रचारित कर रहे थे, बल्कि अँगरेजों की औपनिवेशिक नीति थी। आजादी की लड़ाई के शुरुआती दिनों में ही रमेशचन्द्र दत्त, दादा भाई नौरोजी, रजनी पाम दत्त आदि विद्वान अँगरेजों की औपनिवेशिक आर्थिक नीति का पर्दाफाश कर चुके थे और एक ग्रामीण निर्धन परिवार का सदस्य होने के कारण दिनकर को इसका प्रत्यक्ष बोध भी था। अतः उन्होंने अपनी कविताओं में भारतीय दैन्य का जीता-जागता रूप प्रस्तुत कर दिया है। इसके साथ ही उन्होंने इस स्थिति के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करने में भी कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि दिनकर 'कविता' नहीं 'समय' लिख रहे थे। सामन्ती शोषण पर उन्होंने लिखा: "देख, कलेजा फाड़ कृषक/दे रहे हृदय शोणित की धारें/बनती ही जाती उन पर/वैभव की ऊँची दीवारों।" इसी सन्दर्भ में 'तांडव' शीर्षक कविता का सौन्दर्य और उसकी प्रासंगिकता समझी जा सकती है। दिनकर इस साम्राज्यवादी-पूँजीवादी समाज की असलियत को समझते थे। उन्होंने इस कविता में लिखा—

प्रभु तब पावन नील गगन-तल,
विदलित अमित निरीह-निबल-दल,
मिटे राष्ट्र, उजड़ें दरिद्र जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित-शोषण

और उन्होंने भगवान शिव का आह्वान करते हुए कहा: "गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो/लगे आग इस आडम्बर में/वैभव के उच्चाभिमान में/अहंकार के उच्च शिखर में/स्वामिन, अन्धड़-आग बुला दो, जले पाप का क्षण-भर में।" साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और महाजनीवाद की तिनमुँही ब्रिटिश औपनिवेशिक

शासन के विरुद्ध कविता का यह उद्घोषवाणी की चरम सार्थकता है।

‘हिमालय के प्रति’ शीर्षक कविता में (जो बाद के संस्करणों में ‘हिमालय’ शीर्षक से छपी है) कवि देश के अतीत को याद करता है: तू पूछ अवध से, राम कहाँ?/वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?/ओ मगध कहाँ मेरे अशोक? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?” इन पंक्तियों से यह नहीं समझना चाहिए कि कवि अपने कथित और विवादास्पद गौरवशाली अतीत में पलायन करना चाहता है। वस्तुतः इसका उद्देश्य अंगरेज शासकों को यह बताना था कि उनका जातीय श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है और भारतवासियों का अतीत उनके अतीत की तुलना में कहीं ज्यादा उज्ज्वल है। ‘कस्मै देवाय’, ‘पाटलिपुत्र की गंगा से’ और ‘मिथिला’ शीर्षक कविताओं में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं। भारतीय अतीत गौरव के पुनः पुनः स्मरण से कवि अंगरेज और उनके अनुयायी बुद्धिजीवियों द्वारा पैदा की गयी युवकों की हीन भावना को मिटा देने का आकांक्षी है। यह ‘इतिहास के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टिकोण’ नहीं है, जैसा कुछ आलोचकों का मानना है। इसके विपरीत यह उस दुष्प्रचार के प्रत्याख्यान का भावना-दीप्त प्रयास है, जो अंगरेज और उनके अनुगामी इतिहासकारों की अवैज्ञानिक और दूषित इतिहास-दृष्टि से प्रेरित था। कवि के मन में भारत के अतीत और वर्तमान को लेकर कोई ‘द्वन्द्व’ भी नहीं है। वह अच्छी तरह जानता है कि भारत ऐतिहासिक कारणों से ब्रिटेन का उपनिवेश बना हुआ है और वह उस औपनिवेशिक शोषण से जर्जर हो चुका है। कवि उस पर आए संकट की ओर ध्यान आकृष्ट करता है: ‘उस पुण्यभूमि पर आज तपीरे, आन पड़ा संकट कराल/व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे/डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याला।’ और इसके समाधान के लिए वह बोधिसत्व और गाँधी की ओर नहीं, सशस्त्र क्रान्ति की ओर देखता है। इसके लिए वह जरूरी समझता है कि देश के युवकों में आतविश्वास, स्वाभिमान, आजादी का सपना और बलिदान की आकांक्षा हो। वह बुद्धि के मिथ्याजाल को भावना की तलवार से, इतिहास के प्रपंच को कविता के आवेग से मिटा देना चाहता है। इसलिए वह हिमालय से कहता है—

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीरे,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

दिनकर इतिहास के विद्यार्थी थे, अतः उन्हें इस बात का अच्छी तरह बोध था कि यूरोपीय साम्राज्यवादी ताकतें किस प्रकार एशियायी और अफ्रीकी देशों को अपने उपनिवेश में बदल रही थी और उनका रक्त चूस रही थी। ‘मेधरन्ध्र में बजी रागिनी’ में अफ्रीका पर फासीवादी इटली के आक्रमण पर कवि का आक्रोश व्यक्त हुआ है। भारत भी उनकी इसी औपनिवेशिक आर्थिक नीति का शिकार था। दिनकर ने अपनी ‘तांडव’ शीर्षक कविता में लिखा—

प्रभु, तव पावन नील गगन तल,
विदलित अमित निरीह निबल दल,
मिटे राष्ट्र, उजड़ें दरिद्र जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित शोषण।

दिनकर की राष्ट्रवादी कविताओं का पहला दौर 1934 में समाप्त होता है, जबकि वे सरकारी नौकरी में नहीं आये थे। 1935-47 का समय दिनकर की काव्ययात्रा का वह दौर है जिसमें उन्हें उसी औपनिवेशिक सरकार की नौकरी करनी थी, जिसके विरुद्ध उन्हें कविता लिखनी थी। 1935 तक सरकार की नजर उनकी कविताओं पर नहीं पड़ी थी, पर रेणुका के प्रकाशन के बाद उनकी प्रसिद्धि ने सरकार के कान खड़े कर दिये। बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम 12 सितम्बर 1939 को लिखे उनके पत्र से ज्ञात होता है कि लगभग 1936 से ही सी०आई०डी० उनके पीछे लग गयी थी और सरकार की तरफ से उन्हें मिलने वाली धमकी, चेतावनी और कैफियत का सिलसिला शुरू हो गया था। कारण चाहे जो रहे हों, पर सरकार उन्हें परेशान ही कर रही थी, नौकरी से बरखास्त नहीं कर रही थी। पर दिनकर ने जैसे तय कर लिया था कि वे स्वयं इस्तीफा नहीं देंगे। जैसा दिनकर के पत्र से ज्ञात होता है, इसका कारण केवल पारिवारिक उत्तरदायित्व ही नहीं था, बल्कि सरकार को चुनौती देने का भाव भी था। किया उन्होंने इतना ही कि अब कविताओं में प्रयुक्त शब्दों पर संयम बरतने लगे ताकि बात भी कह दी जाए और वे कानून की पकड़ में भी न आ सकें। अपनी इस मनःस्थिति में लिखित कुछ कविता-पंक्तियों का हवाला भी दिनकर ने अपने उस पत्र में दिया है, जो ‘कवि’, ‘भ्रमरी’, ‘परिचय’, ‘सावन में’, ‘पावन गीत’ से उद्धृत हैं। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था: “... पाँच वर्षों की दूरी तय करके अभी भी मैं अपने में वही उन्मेष और जोश पाता हूँ और इसमें मेरी यह जिद

बरकरार चली आ रही है कि मैं झुकूँगा नहीं। अब झुकने की बात भी नहीं है क्योंकि अपने जीवन और भावना के बीच मैंने एक प्रकार की हारमोनी पैदा कर ली है। विश्लेषण करने पर मुझे मालूम होता है कि इस सामंजस्य का आधार मेरी यह वृत्ति है कि मैं अपनी भावना के साथ चलता रहूँगा, अगर इसके चलते कोई कैटास्ट्रोफी आती हो तो आया करो।” इसके प्रमाण में उन्होंने जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं वे भी दृष्टव्य हैं—

फँकता हूँ लो तोड़मरोड़, अरी निष्ठुरे बीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव हुंकार
नहीं जीते-जी सकता देख, विश्व में ढँका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान, आज उगलूँगा गरल कराल
फोड़ पैदूँ अनन्त पाताल? लूट लाऊँ वासव का देश?
चरण पर रख दूँ तीनों लोक? स्वामिनी करो शीघ्र आदेश।
चाहती हो बुझना यदि आग, होम की शिखा बिना सामान
अभय दो कूद पडूँ जय बोल, पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान।

(असमय आह्वान, हुंकार)

1936 के बाद की दिनकर की राष्ट्रीय कविताएँ, जो मुख्यतः हुंकार और सामधेनी में संकलित हैं, उसके पहले लिखित कविताओं के विस्तार के रूप में ही देखी जा सकती हैं।

‘दिल्ली’ (1933), ‘कविता का हठ’ (1934), ‘परिचय’, ‘मेघ रन्ध्र में बजी रागिनी’, ‘वसन्त के नाम पर’, आदि कविताओं के अतिरिक्त हुंकार में सम्मिलित अन्य कविताएँ थीं: ‘आश्वासन’, ‘सिपाही’ (1936), ‘हाहाकार’ (1937), ‘अनल किरिट’, ‘आमुख’, ‘तकदीर का बँटवारा’, ‘फूलों के पूर्व जन्म’, ‘वर्तमान का निमन्त्रण’, ‘विपथगा’, ‘शहीद स्तवन’ (1938) ‘असमय आह्वान’, ‘कल्पना की दिशा’, ‘चाह एक’, ‘पराजितों की पूजा’, ‘प्रणति’, ‘भविष्य की आहट’, ‘भीख’, ‘वनफूलों की ओर’, ‘व्यक्ति’, ‘साधना और द्विधा’, ‘स्वर्ग दहन’ (1936-38), ‘दिगम्बरी’, ‘आलोकधन्वा’ (1939) आदि। ‘आमुख’ (1938) में कवि अपने अतीत से वर्तमान में आने का संकेत देता है—

समय-दूह की ओर खिसकते मेरे गीत विकल धाये;
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये?

इससे कवि की भावभूमि में एक बदलाव आता दिखाई देता है। साम्राज्यवादी-सामन्तवादी शोषण, दोनों के शिकार मुख्यतः ग्रामीण किसान थे। ‘हाहाकार’ (1937) शीर्षक कविता में कवि किसानों के बारे में लिखता है: “जेठ हो कि हो धूप, हमारे कृषकों को आराम नहीं है/छूटे बैल से संग, कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है” ... “बैलों के ये बन्धु, वर्ष भर क्या जाने, कैसे जीते हैं?/जुबाँ बन्द, बहती न आँख, गम खा, शायद आँसू पीते हैं?” ... “पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?/चूस-चूस सूखा तन माँ का सो जाता रो-बिलप नगीना।” शोषक सामन्तों के बारे में वह लिखता है: “वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।” इस स्थिति में कवि के सामने इसके अलावा और कोई चारा नहीं कि वह क्रान्तिकारियों का ही मार्ग अपनाए—

हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
‘दूध, दूध’ ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजते हम जाते हैं।

हुंकार की ‘चाह एक’ शीर्षक कविता में कवि कहता है: “मैं खोज रहा हूँ तिमिर बीच कब से ज्योतिर्मय दाह एक/बल उठे किसी दिशि वह्नि-राशि, ले-देकर मेरी चाह एक।” इसमें उसका वाणी का संयम स्पष्ट है। पर यह भी स्पष्ट है कि उसे क्रान्ति का रास्ता ही प्रिय है। ‘दिगम्बरी’ (1939) में भी वह अपनी इस ‘चाह’ की पुष्टि करता है: ‘नये युग की भवानी, आ गयी बेला प्रलय की’ और अपना संकल्प व्यक्त करता है—

जरा तू बोल तो, सारी धरा हम फूँक देंगे;
पड़ा जो पन्थ में गिरि, कर उसे दो टूक देंगे।

वस्तुतः यह मात्र कवि की ही वाणी नहीं थी, बल्कि दबी हुई युग की वाणी थी जो 1942 में फूट पड़ी थी। कवि ने उसकी भविष्यवाणी बहुत पहले कर दी थी।

यद्यपि इस समय तक भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन विफल हो चुका था, पर कवि के सामने इसका कोई विकल्प नहीं था। उसके सामने एकमात्र आशा की किरण एशिया का जागरण था, जो कदाचित् रूसी क्रान्ति की ओर संकेत करता है। यह संकेत ‘भविष्य की आहट’ कविता की इन पंक्तियों में सुना जा सकता है: “आज कम्पित मूल क्यों संसार का?/अर्थ का दानव भयाकुल मौन है;/झोंपड़ी हंस चौकती, वह आ रहा/साम्य की वंशी बजाता कौन है?” पर

इतिहास ने इस सत्य को भी झुठला दिया। साम्यवादी रूस आत्मरक्षा में ब्रिटेन और अमेरिका का सहयोगी बन गया और भारतीय साम्यवादी दल भी उसी के सुर में सुर मिलाने लगा। 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन भी औपनिवेशिक दमन की भेंट चढ़ गया और कवि के पास यह कहने के सिवा कोई चारा न रहा कि 'वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का!! ... थककर बैठ गये क्या भाई मंजिल दूर नहीं है।"

1939 में यूरोपीय शक्तियों के बीच दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया जो 1945 में समाप्त हुआ। यद्यपि भारत की जनता स्वेच्छया इस युद्ध में शामिल नहीं हुई थी, पर उसका औपनिवेशिक प्रभु इस महायुद्ध का प्रमुख घटक था और भारतीय जीवन पर भी इस युद्ध का प्रभाव पड़ रहा था। इस विश्वयुद्ध के साथ-साथ निहत्थी भारतीय जनता और विश्वशक्ति ब्रिटेन के बीच एक दूसरा महाभारत भी जारी था। दिनकर इन दोनों महायुद्ध के बीच घुटन की जिन्दगी जी रहे थे। इसे नियति का व्यंग्य ही माना जाएगा कि जिस सरकार के खिलाफ दिनकर एक दशक से भी अधिक समय से कविता लिखते आ रहे थे उसी सरकार के युद्ध-प्रचार विभाग में वे चाकरी कर रहे थे। 1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ होने के ठीक पूर्व गाँधी जी सहित सारे प्रमुख नेता जेलों में बन्द किये जा चुके थे। ब्रिटिश सरकार पाशविक दमन का सहारा लेते हुए आन्दोलन को कुचल चुकी थी। देश की पूर्वी सीमा पर सुभाषचन्द्र बोस देश की स्वाधीनता के निमित्त सैनिक युद्ध का शंख फूँक चुके थे। इधर जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल से भाग कर भूमिगत आन्दोलन में शिरकत कर रहे थे। दिनकर की सहानुभूति गाँधी जी के साथ नहीं, बल्कि जयप्रकाश नारायण और सुभाषचन्द्र बोस के साथ थी। इसकी झलक उनकी 1941-46 में लिखित कविताओं में मिलती है, जो देश के स्वतन्त्र होने के बाद 1947 में सामधेनी कविता-संग्रह में प्रकाशित हुई। 1943 में रचित 'आग की भीख' में उन्होंने लिखा था: 'आगे पहाड़ को पा, धारा रुकी हुई है/बल-पुंज केसरी की, ग्रीवा झुकी हुई है/अग्निस्फुलिंग रज का, बुझ, ढेर हो रहा है।है रो रही जवानी, अन्धे हो रहा है" यह वह समय था, जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का दमन हो चुका था, गाँधी जी और अन्य नेता जेल में थे और सुभाषचन्द्र बोस भारत से बाहर लड़ रहे थे। यह कविता कवि की उसी समय की मनःस्थिति का परिचय देती है। इसी वर्ष लिखित कविता 'आशा का दीपक' में कवि को स्वतन्त्रता-प्राप्ति

की उम्मीद बँधती हुई दिखाई पड़ती है और वह स्ततन्त्रता-सेनानी को उत्साह बँधाता हुआ कहता है: "वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;/थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।" और "वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।/आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है।" सामधेनी में ही प्रकाशित 1945 में लिखित कविता 'दिल्ली और मास्को' में कवि एक तरफ तो साम्यवादी रूस का फासीवाद के विरोध में आ जाने के लिए अभिनन्दन करता है, पर दूसरी तरफ भारतीय साम्यवादियों के अन्तर्विरोध पर तरस भी खाता है—

एक देश हे जहाँ विषमता से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतन्त्रता से हो रहा साम्य का कामी;
भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो रही दीप्त स्वातन्त्र्य-समर की
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को बिसार सुधि अपने घर की।

दिनकर भारतीय यथार्थ को दृष्टि में रखकर, राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर कविता लिख रहे थे। इसलिए उन्होंने 'सरहद के पार' शीर्षक कविता में आजाद हिन्द फौज का स्वागत किया है और 'जयप्रकाश' शीर्षक कविता में जयप्रकाश नारायण का अभिनन्दन किया है: 'झंझा सोयी, तूफान रुका, प्लावन जा रहा कगारों में/जीवित है सबका तेज किन्तु अब भी तेरे हुंकारों में।" और "हाँ, जयप्रकाश है नाम समय की करवट का, अँगड़ाई का/भूचाल, बवंडर के ख्राबों से भरी हुई तरुणाई का।" "तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर आता है कोई', 'हे मेरे स्वदेश', 'फलेगी डालों में तलवार', 'जवानी का झंडा', 'जवानियाँ' आदि कविताओं में भी दिनकर की सही इतिहास-बोध से युक्त राष्ट्रीय चेतना मुखरित हुई है।

'सामधेनी' में संकलित कविताओं में उस समय जारी विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया भी व्यक्त हुई है। 1941 में ही रचित 'कलिंग विजय' कविता दिनकर की युद्ध विरोधी संवेदना की बड़ी ही शमित अभिव्यक्ति है। अपनी इस कविता के द्वारा वे मानों सारे विश्व को सावधान कर रहे हैं। कलिंग-युद्ध तो एक बहाना है।

युद्ध का परिणाम?

युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास!

युद्ध का परिणाम सत्यानाश!

रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निहिंसन, मीच!

युद्ध का परिणाम लोहित कीच!

जैसा दिनकर ने सूचित किया है कुरुक्षेत्र (1946) की रचना भी 1941 में ही आरम्भ हो चुकी थी। देश में चल रही आजादी की लड़ाई के साथ-साथ दिनकर की काव्य-चेतना विश्वयुद्ध की विभीषिका और उसके परिणाम से भी आक्रान्त थी। महायुद्ध ने दिनकर को उसके कारणों, परिणामों और युद्ध बनाम शान्ति के प्रश्न के सामने खड़ा कर दिया था। द्वापर युग का महाभारत प्रत्येक भारतीय की स्मृति का अभिन्न अंग तो है ही, अतः दिनकर ने यदि अपनी उबाल खाती हुई संवेदना और चिन्तना की अभिव्यक्ति के लिए महाभारत की ओर देखा तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने युद्ध की विभीषिका का सशक्त वर्णन किया है। पर इसमें कोई मौलिकता या अनुभव का ताप नहीं है। दिनकर ने शायद ही कोई युद्ध-भूमि देखी हो। पर महाभारत से लेकर पृथ्वीराज रासो तक अनेक काव्यों में युद्ध-वर्णन की परम्परा उन्हें विरासत में मिली थी। उसका लाभ उन्होंने कुरुक्षेत्र में उठाया है। पर दिनकर की मौलिकता युद्ध के कारणों और युद्ध बनाम शान्ति से जुड़ी उनकी संवेदना और चिन्तन में दिखाई पड़ती है। जब वे युद्ध के कारणों पर विचार करते हैं तो लगता है कि उनके सामने भारतीय जनता और ब्रिटिश शासन का युद्ध है। कुरुक्षेत्र के बारे में दिनकर का कथन है कि वह “उन सभी भावनाओं का परिपाक है, जो मुझे आरम्भ से ही आन्दोलित करती आ रही थी। ... विश्वशान्ति की स्थापना की चिन्ता मुझे कुरुक्षेत्र में कम थी। अपने देशवासियों की विचार-दिशा बदलने की भावना से आन्दोलित होकर ही मैंने इस काव्य की रचना की थी। कुरुक्षेत्र में महात्मा गाँधी जी की अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, उनके प्रतिनिधि अथवा प्रतीक भीष्म हैं।” भीष्म के इस कथन में अहिंसा को ‘धर्म’ न मानने वाले युवकों का स्वर ही मुखरित हुआ है—

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु, जो रण में उसे ललकारते हैं।

यदि हम इन पंक्तियों को औपनिवेशिक शासन और महात्मा गाँधी, जयप्रकाश नारायण, सुभाषचन्द्र बोस के सन्दर्भ में देखें तो इनका नया अर्थ

खुलता है। गाँधी जी ने भी ‘भारत छोड़ो’ की घोषणा करके ब्रिटिश शासन को ललकारा ही था, जोकि उनके अहिंसा मार्ग में दिनकर का विश्वास नहीं था। दिनकर अकुंठ भाव से कहते हैं: “छीनता हो स्वत्व कोई और तू/त्याग-तप से काम ले, यह पाप है, पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे/बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।” यह सुभाषचन्द्र बोस का स्वर है। दिनकर अहिंसा, क्षमा, दया आदि को मानव जीवन की विभूति तो स्वीकार करते हैं, पर भौतिक शक्ति के अभाव में इनकी व्यर्थता को भी उजागर करने में कोई संकोच नहीं करते: ‘क्षमा शोभाती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो/उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो?’ और “सहनशीलता, क्षमा, दया को तभी पूजता जग है/बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।” कुरुक्षेत्र में भीष्म कहते हैं—

कौन केवल आत्मबल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

कभी-कभी आलोचकों को दिनकर के शान्ति-प्रेम और युद्ध-प्रेम के बीच अन्तर्विरोध दिखाई देता है। पर सन्दर्भों की भिन्नता पर ध्यान दें तो इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। असभ्य और बर्बर उपनिवेशवाद को समाप्त करने के लिए गुलाम देश का उससे सशस्त्र युद्ध अनिवार्य था, पर सारे विश्व के शोषण के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों का परस्पर युद्ध मानवता के लिए सर्वथा अवांछनीय था। इसलिए दिनकर ने आजादी की लड़ाई के सन्दर्भ में हिंसक युद्ध का समर्थन किया है, पर साम्राज्यवादी आधिपत्य के सन्दर्भ में उसकी निन्दा की है: “सुख-समृद्धि का विपुल कोष संचित कर कल, बल, छल से/किसी क्षुधित का ग्रास छीन, धन लूट किसी निर्बल से/सब समेट, प्रहरी बिठलाकर कहती, ‘कुछ मत बोलो/शान्ति-सुधा बह रही, न इसमें गरल क्रान्ति का घोला।’ भीष्म इस शान्ति को शान्ति नहीं मानते; वे कहते हैं—

रण रोकना है, तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो।

इन विचारों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, विरोधाभास भले ही हो। दिनकर

की अहिंसा में निर्विकल्प आस्था नहीं थी। पर गाँधी जी में उनकी आस्था अटूट थी। अपनी 1934 में ही लिखित कविता 'बोधिसत्व' में, जो देवघर (बिहार) में पंडों द्वारा महात्मा गाँधी पर किये गये प्रहार के प्रतिरोध में लिखी गयी थी, वे कहते हैं—

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।
जागो विप्लव के वाक्! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो, हे जागो, तप-निधान! दलितों के हाहाकारों से।

इस कविता में 'बोधिसत्व' गाँधी जी के प्रतीक बनकर आये हैं। जनवरी, 1947 में दिनकर ने गाँधी जी की नोआखाली की पदयात्रा से प्रेरित होकर 'बापू' शीर्षक एक लम्बी कविता लिखी थी, जो उसी वर्ष छोटी-सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में दिनकर ने बापू को सम्बोधित कर यह स्वीकार किया है कि वे अब तक उनकी पूजा करते रहे हैं जो "झेलते वहिन के वारों को जो तेजस्वी बन वहिन प्रखर/सहते ही नहीं, दिया करते विष का प्रचंड विष से उत्तर।" पर अब उन्हें लगता है कि ये 'अंगार' भी उन्हें देखकर शर्मिन्दा हो जाते हैं—

पर, तू इन सबसे परे; देख तुझको अंगार लजाते हैं,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत सामने नहीं हो पाते हैं।
तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी,
दृग में उड़ेल कर सहज शील देखती तुझे दुनिया सारी।

किसी को यहाँ भी अन्तर्विरोध दिखाई पड़ सकता है, क्योंकि इसके बाद भी दिनकर अहिंसा के पुजारी नहीं हो सके थे। पर, गाँधी जी का व्यक्तित्व हिंसावादियों के लिए भी एक चुनौती तो था ही और दिनकर ने इसे इस कविता में स्वीकार किया है। यह कविता गाँधी जी के प्रति दिनकर की महान श्रद्धांजलि है।

इस विवेचन के निष्कर्ष या सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय चेतना दिनकर की पूर्ववर्ती अर्थात् औपनिवेशिक शासनकालीन, काव्य-रचना की प्रमुख प्रेरणा थी। यह समय की पुकार थी और इसकी उपेक्षा न करने वाला कवि अभिनन्दन का पात्र तो है ही। भावनात्मक आवेग और चिन्तन की अनाविलता इस काल की दिनकर की कविता की मुख्य पहचान है। इसके साथ

ही उनकी सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति भी बीच बीच में होती रही है, पर ऐसा लगता है, जैसे वह माफी माँगने की मुद्रा में रही हो। इस सौन्दर्य-भावना की चरम अभिव्यक्ति दिनकर के परवर्ती काव्य में हुई है, पर वह यहाँ विवेच्य नहीं है।

संस्कृति के साहित्य-केन्द्रित अध्ययन की सीमाएँ

ए० अरविंदाक्षन

दिनकर की महत्वाकांक्षी रचना है : 'संस्कृति के चार अध्याय'। यह एक अन्तर अनुशासनपरक रचना है। इतिहास, नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, भाषा और साहित्य का आनुपातिक सन्निवेश करके ही इस अध्ययन को प्रस्तुत किया गया है। इन भिन्न अनुशासनों के सहारे भारतीय संस्कृति को समझने और समझाने का कार्य ही इस ग्रन्थ में हुआ है। अपने अनुसंधानपरक अध्ययन के दौरान दिनकर इस नतीजे पर पहुँच गए कि 'भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं और हमारा इतिहास उन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है।' पहली क्रान्ति आर्यों के आगमन और आर्यों के आर्येतर जातियों से संपर्क से सम्बन्धित है। दूसरी क्रान्ति गौतम बुद्ध और महावीर के माध्यम से स्थापित धर्म के विरुद्ध विद्रोह के कारण संभव हुई। तीसरी क्रान्ति इस्लाम के आगमन से तथा चौथी क्रान्ति तब हुई जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ। विभिन्न प्रकार के वर्गों, जातियों के आगमनोपरान्त समय-समय पर भारत में क्रान्तियाँ तो हुई यानी आमूल परिवर्तन हुए। फिर भी भारत की संस्कृति की अपनी एक अनन्यता है। उस अनन्यता को रेखांकित करना संभवतः दिनकर के महत्वाकांक्षी ग्रन्थ का लक्ष्य है। उनके शब्दों से यह बात स्पष्ट होती है— "पुस्तक लिखते-लिखते इस विषय में मेरी आस्था और भी बढ़ गई कि भारत की संस्कृति, आरम्भ से ही सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिन्दू एवं मुसलमान हैं, जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किन्तु उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप

से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा संपन्न किया जाना चाहिए। इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे-बड़े प्रयत्न हो चुके हैं। वर्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।" एक तरह से दिनकर अपने ग्रन्थ में भारत की भावात्मक एकता पर जोर देते नजर आ रहे हैं। भावात्मक एकता को साहित्य एवं कलाओं के माध्यम से ढूँढना आसान है। हर युग का साहित्य सामाजिक एवं राजनीतिक संकट से उत्पन्न विडम्बनाओं से उबरकर मानवीय संसक्ति को स्वर देता ही है। संस्कृति के अध्ययन के संदर्भ में यह मुख्य होते हुए भी संस्कृति के विराट् फलक में यथार्थ की वस्तुस्थिति की ही अधिक प्रासंगिकता है। द्रविड़ जाति एवं आर्यों के सम्मिलन से भारतीय संस्कृति का पहला सामासिक पक्ष स्पष्ट हुआ। इस प्रकरण में दिनकर भावात्मक एकता पर बल तो देते हैं। लेकिन आर्य जाति को ज्यादा महत्व देते नजर आते हैं जबकि जवाहरलाल नेहरू ने पुस्तक की प्रस्तावना में भारत के मूल निवासी द्रविड़ जाति और उनकी संस्कृति को अधिक महत्व दिया है। यही नहीं नेहरू ने अपनी संक्षिप्त भूमिका में भारतीय संस्कृति के दोनों पक्षों, यानी उसकी गतिशीलता तथा जड़ता पर प्रकाश डाला है। नेहरू का यह संकेत जो भारतीय संस्कृति में विद्यमान मनुष्य विरोधी स्थिति को रेखांकित करता है— "भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ी। एक ओर तो सिद्धान्तों और सिद्धान्तों में हमने अधिक से अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर हमारे सामाजिक आधार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कहकर नजरन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा ही रह जाएगा।" दिनकर भारतीय संस्कृति की इस द्विधा को रेखांकित करते नहीं हैं। ऐसे प्रकरणों में वे मौन धारण करते हैं।

इस संस्कृति-चिंतन का सबसे कमजोर पक्ष यह है कि प्रत्येक काल के सामाजिक और राजनीतिक पक्ष विचारणीय नहीं हुए हैं। प्रथम अध्याय के

‘आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन’ शीर्षक प्रकरण 3 में, दूसरे अध्याय के जैन-धर्म या बौद्ध धर्म शीर्षक प्रकरण 2 और 3, तृतीय अध्याय के ‘मुस्लिम आक्रमण और हिन्दू समाज शीर्षक प्रकरण 3 में कम से कम सांस्कृतिक संक्रमण के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक और राजनीतिक मुद्दे स्वयमेव विचारणीय हो सकते थे जिनके आधार पर ही सांस्कृतिक क्रान्ति को शब्दबद्ध किया जा सकता है। दिनकर इन तमाम संदर्भों में अपने मुख्य विषय से विचलित होते हैं और संस्कृति को भाषा, साहित्य तथा कुछ हल्के सामाजिक आचरणों तक सीमित कर देते हैं। दरअसल, उनका यह मानना संगत ही है कि इन चार प्रकार की क्रान्तियों के कारण भारतीय संस्कृति आकार ग्रहण करती गई है। लेकिन उस आकार-ग्रहण के पीछे कई ऐसी शक्तियाँ हैं जो संस्कृति के भविष्य को भी प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए यूरोपीय प्रभाव पर विचार करते समय (अध्याय चार प्रकरण 2 से 4 तक) भारतीय मध्यवर्गीय संस्कृति विश्लेषणीय नहीं बनी है। लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने इस नई सांस्कृतिक संक्रमणशीलता का संक्षेप में ही सही, अच्छी व्याख्या पुस्तक की ‘प्रस्तावना में प्रस्तुत की है’— “जब पश्चिम के लोग समुद्र के पार से यहाँ आए, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गए। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोरगुल के, धीरे-धीरे, इस देश में प्रविष्ट हो गई। नए भावों नए विचारों ने हम पर हमला किया और हमारे बुद्धिजीवी अंग्रेज-बुद्धिजीवियों की तरह सोचने का अभ्यास करने लगे। यह मानसिकता आन्दोलन, बाहर की ओर वातायन खोलने का यह भाव, अपने ढंग पर अच्छा रहा, क्योंकि इससे हम आधुनिक जगत को थोड़ा बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये, क्योंकि जनता विचारों की इस नयी लहर से अप्रभावित थी।” जनता से विच्छिन्न होने का तात्पर्य है यथार्थ से विच्छिन्न होना है यानी लोक से असंपृक्त होना है। कोई भी संस्कृति लोकविहीन नहीं हो सकती। यदि सांस्कृतिक परिदृश्य में उसकी लोकविहीनता के कारण शून्यता व्यापती नजर आती है तो वह सांस्कृतिक घटना का अच्छा उदाहरण है। संस्कृति चिंतन में सांस्कृतिक विघटन भी विश्लेषणीय होता है। दिनकर इस मामले में तनावग्रस्त नहीं दीखते हैं जब कि नेहरू इस से हू-ब-हू परिचित थे।

दिनकर का यह अध्ययन भारतीय संस्कृति के चार प्रमुख अध्यायों के द्वारप्रदेश को खोलने के बावजूद उसके भीतरी यथार्थ को पूरी तरह से प्रस्तुत

करने में सक्षम नहीं रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने सांस्कृतिक अध्ययन के सतही प्रतिमानों को अधिक प्रमुखता दी है। इसलिए संस्कृति के आदान-प्रदान वाले पक्ष हर अध्याय में प्रमुख बन गये हैं। आद्यंत साहित्येतर अनुशासनों का सहारा लेने के बावजूद अंततः दिनकर का अध्ययन साहित्य केन्द्रित है जिससे संस्कृति-अध्ययन एकायामी हो गया है। भारतीय संस्कृति के लोकपक्ष को उन्होंने पूरी तरह से अनदेखा किया है जिससे हर अध्याय अधूरा-सा प्रतीत होता है। इस बृहद् ग्रन्थ में भारत की लघु संस्कृतियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यानी मुख्य धारा से हटकर विचार करने का कार्य उन्होंने किया ही नहीं है। इसके लिए कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि सामाजिक जीवन की सही गतिविधियों, जटिलताओं और उनकी निगूढ़ताओं का मनन-चिंतन और विश्लेषण जितना संस्कृति-चिंतन में उपेक्षित है उतना दिनकर के महत्त्वाकांक्षी ग्रन्थ में नहीं हुआ है। इसलिए ‘भारत क्या है’ या ‘उसका सार क्या है’ का सही उत्तर देने में या ग्रन्थ असफल रहा है।

इतने पर भी एक जटिल और व्यापक विषय को हिन्दी के इस महत्त्वपूर्ण रचनाकार ने प्रस्तुत किया जो अपने आप में सराहनीय है। इसमें भारतीयता को, बहुलार्थी या सूक्ष्मार्थी संदर्भों में न सही, संस्थित करने का कार्य दिनकर ने किया है जो सर्वथा स्तुत्य है।

भूमंडलीकरण का युग, दिनकर और राष्ट्रीय चेतना हेमन्त जोशी

आज जब पूरी दुनिया एक बड़ी विश्वव्यवस्था में तब्दील हो रही है, जब असंख्य संस्कृतियों और भाषाओं को एक समरस संस्कृति और भाषा के लिए नष्ट किया जा रहा है तब महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे कवियों की जन्म शताब्दियों का महत्व और भी अधिक हो जाता है क्योंकि इनका साहित्य भारतीय उपमहाद्वीप की एक बड़ी भाषा और एक विशाल सांस्कृतिक समाज के गौरव को रेखांकित करता है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य से मेरा परिचय भी विद्यालय की पाठ्य-पुस्तक से ही हुआ। सबसे पहले उनकी जो कविता पढ़ी थी वह हिमालय को संबोधित करते हुए लिखी गई थी और उसमें जो ओज था वह मुझे याद है कि हम सब में भी संचरित हो गया था :

मेरे नगपति मेरे विशाल
साकार, दिव्य, गौरव विराट्
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति मेरे विशाल ।

और राष्ट्र की दुर्दशा देखकर दिनकर जी हिमालय का आह्वान करते हुए कहते हैं :

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल,
नवयुग शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

इस कविता के बाद तो दिनकर जी की कई कविताएँ भी याद रह गईं,

भले ही कुछ पंक्तियाँ ही सही। दिनकर जी की कविताओं में जो मुहावरेदार भाषा होती थी, उसने भी उनकी कई कविताओं की पंक्तियों को कालांतर में जनान्दोलनों में सक्रिय लोगों की जुबान पर ऐसा चढ़ा दिया जैसे उन पंक्तियों के बिना उन आन्दोलनों की कल्पना ही न की जा सकती हो :

दो राह समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

ये पंक्तियाँ कितनी लोकप्रिय हुईं यह कहने की आवश्यकता नहीं। बिहार के आन्दोलन के दौरान तो ये पंक्तियाँ हर जुलूस में तख्तियों पर लिखी दिख जाती थीं। जनतंत्र की प्रशंसा में लिखी उनकी इस कविता में भारतीय जनतंत्र का वर्णन करते हुए वह कहते हैं- 'सबसे विराट् जनतंत्र जगत का आ पहुँचा, तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो।' लेकिन कुछ इंतजार करने के बाद इस नई व्यवस्था से भी उनका मोह भंग होता है और वे कहते हैं:

पूज रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज,
सात वर्ष हो गए राह में, अटका कहाँ स्वराज;
अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग्य दबा रखे हैं किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बँदिनी बता किस घर में?
समर शेष है, यह प्रकाश बंदीगृह से छूटेगा;
और नहीं तो तुझ पर पापिनी! महावज्र टूटेगा।

और जनता से विमुख हुए या अनमने नेताओं और बुद्धिजीवियों को आगाह करते हैं:

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

राष्ट्रीय चेतना के अनेक दृष्टांतों में ही उनकी उस कविता का उल्लेख भी करना चाहिए जिसमें वह वीरों के बलिदान याद करते हैं:

जो चढ़ गए पुण्य-वेदी पर,
लिए बिना गर्दन का मोल,
कलम आज उनकी जय बोल।

वह समय ही कुछ ऐसा था कि छायावाद के बाद के अनेक कवियों के

स्वर लगभग एक जैसे ही सुनाई देते हैं। भले ही माखनलाल चतुर्वेदी की अनेक ओजस्वी कविताएँ हों, उनकी वह प्रसिद्ध कविता हो जिसमें वह कहते हैं 'चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ', भले ही मैथिलीशरण गुप्त जी की 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी' जैसी कविताएँ हों। चाहे सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'बुंदेले हरबोलों के मुँह' हो। इन्हीं कविताओं के साथ दिनकर जी की वह कविता भी खूब याद आती है जिसमें उन्होंने कहा है 'क्षमा शोभती उस भुजंग को...'। भूगोल से लेकर समाज तक में राष्ट्रीय गौरव देखने वाले इस ओजस्वी और विद्रोही तेवर वाले कवि को हम स्वाधीनता संग्राम के ऐसे अंतिम कवि के तौर पर भी देख सकते हैं जिनके बाद की कविता और उसकी भाषा में काफी परिवर्तन हुआ। छायावाद से लेकर छायावादोत्तर काल की कविता में खड़ी बोली का संस्कार हुआ और आजादी के बाद उसने अपना कलेवर बहुत तेजी से बदला। लेकिन शताब्दी के करवट बदलते-बदलते वैश्विक स्तर पर जो परिवर्तन हुए उनसे कहीं न कहीं हिन्दी में होने वाले परिवर्तनों में बहुत कुछ अवांछनीय भी है।

यह संयोग ही है कि पिछले कुछ वर्षों में अनेक कवियों की जयंतियाँ मनाई गईं जिनमें सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और सुभद्राकुमारी चौहान के नाम प्रमुख हैं। इस वर्ष हमने महादेवी वर्मा और हरिवंश राय बच्चन का शताब्दी वर्ष मनाया और अब हम दिनकर शताब्दी वर्ष मनाने जा रहे हैं। आज इन सब और इस काल खंड के अनेक कवियों की प्रासंगिकता मुझे इसलिए भी दिखाई पड़ती है कि बाजार के प्रभाव के चलते खड़ी बोली हिन्दी का जो नाश हो रहा है उसके बरक्स इन सभी कवियों की कविताएँ आज भी हमें हिन्दी की पहचान कराती हैं और आशान्वित करती हैं कि सांस्कृतिक घटाटोप में कहीं न कहीं इन कविताओं के पुनः स्मरण से हिन्दी को कुछ ऐसी शक्ति मिलेगी जो आने वाले वर्षों में वैश्वीकरण और बाजारवाद की तमाम अपसंस्कृति और चुनौती के बीच भारत में लोगों को फिर राष्ट्रीय चेतना की पहचान कराएगी।

कविता का सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक पक्षधरता का सवाल देवेन्द्र चौबे

'साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत, अतः सबसे कठोर मार्ग है। कवि के लिए कोमल कल्पना की आराधना ही पर्याप्त नहीं होती, उसे संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक-से-अधिक मनोदशाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।... अगर कोई कलाकार कला की अकर्मण्यता में ही गौरव समझता हो अथवा आत्माभिव्यक्ति में ही कला का चरम महत्त्व मानता हो, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसने समाज और वस्तु-जगत के सामने अपनी पूरी पराजय स्वीकार कर ली है।'

-रामधारी सिंह 'दिनकर' ('मिट्टी की ओर' से)

उपर्युक्त कथन हिन्दी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक रामधारी सिंह 'दिनकर' की 1946 में प्रकाशित आलोचनात्मक निबंधों की पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में संकलित लेख 'समकालीन सत्य से कविता का वियोग' से है। इस पुस्तक की चर्चा हिन्दी में कम ही होती है। इसके कारण साफ हैं। हिन्दी में जब भी दिनकर के वैचारिक पक्ष का उल्लेख होता है, तब वह या तो 1956 में प्रकाशित 'संस्कृति के चार अध्याय' तक रह जाता है अथवा बहुत हुआ तो 1966 में प्रकाशित 'शुद्ध कविता की खोज' तक आकर ठहर जाता है। जबकि रामधारी सिंह 'दिनकर' की यह पुस्तक छायावाद, प्रगतिवाद और खड़ीबोली के मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त आदि जैसे कवियों के बहाने 1920 से 1946 तक हिन्दी कविता पर नए सिरे से वैचारिक बहस की माँग करती है। यदि इस पुस्तक के प्रकाशन समय 1946 को हम ध्यान में रखें तो साफ पता चलता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल,

रामविलास शर्मा और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की कविता की आलोचना से संबंधित पुस्तकें इसी दौर में आती हैं। नामवर सिंह की 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' या अन्य आलोचनात्मक पुस्तकें तो बहुत बाद में।

दिनकर इस दौर के आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी जैसे आलोचकों के समानांतर रचना (काव्य) के वैचारिक और कला पक्ष को लेकर, जिस तरह के सवाल इस पुस्तक में उठाते हैं या बहस करते हैं; वह साहित्य, खासकर कविता की सामाजिकता, उसकी राजनीतिक पक्षधरता एवं कला की संरचना के शास्त्र को लेकर पुनर्विचार की माँग करता है। दरअसल शास्त्र की दुनिया में यह बहस बहुत पुरानी है कि कला, साहित्य अथवा काव्य क्या है? उसकी जरूरत किसे है? क्या व्यक्ति या समाज का अथवा कला एवं साहित्य का इन दोनों के साथ एक द्वंद्वत्मक रिश्ता है? इस पूरी प्रक्रिया में जनता की केन्द्रीय भूमिका क्या है? क्या रचना या कला जन-समूह से प्रभावित होती है अथवा उसे प्रभावित और दिशा देने के लिए रची जाती है? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनसे लगभग विश्व की सभी भाषाओं के विचारों एवं लेखकों ने गहरा संवाद किया है। 'मिट्टी की ओर' बताती है कि 'कुरुक्षेत्र' (1946), 'रश्मि' (1952), 'उर्वशी' (1961), 'परशुराम की प्रतीक्षा' (1963) जैसी कृतियों के कवि दिनकर के सामने भी ये सवाल, एक बड़े सवाल के रूप में आता है। जिनसे वह अपने वक्तव्यों, भाषाओं और लेखों के माध्यम से मुठभेड़ करते हैं। कहीं अरस्तू एवं होरेस की तरह कला अथवा कविता की अवधारणा और उसकी भाषा पर छायावादी एवं प्रगतिवादी कविता के संदर्भ में बातें करते हैं तो कहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह काव्य में ज्ञान और शक्ति के सवाल पर विचार करते हैं। कई जगह तो वह प्रगतिशील आलोचकों की तरह साहित्य और राजनीति के संबंधों पर बातचीत करते हुए रचना की राजनीतिक पक्षधरता के सवाल पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा करते हैं।

सबसे पहले कवि और कविता। दिनकर के सामने यह एक बड़ा सवाल है कि कवि और काव्य क्या है? 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' में कवि को एक 'सामाजिक जीव' मानते हुए दिनकर लिखते हैं कि 'कवि भी सामाजिक जीव है।... कला मौलिक वस्तु नहीं होती, वह तो कृत्रिम है, प्रकृति या जीवन का अनुकरण मात्र है।' यदि हम अरस्तू के कला संबंधी अनुकरण के सिद्धांत को ध्यान में रखें तो पता चलता है कि दिनकर यहाँ कोई नई बात नहीं कहते

हैं, लेकिन जब वह कवि को सामाजिक जीव बताते हैं तो कहीं-न-कहीं इस बात की तरफ भी संकेत करते हैं कि कवि या कविता का समाज के साथ गहरा संबंध होता है इसीलिए रचनाकार सृजन की प्रक्रिया के दौरान अपने समय के सार्थक चरित्रों को उठाते हुए इस संकुचित दुनिया, सिद्धांतों, सीमित बुद्धि आदि के खिलाफ विद्रोह करता है जो कला की दुनिया को परंपराओं और रूढ़ियों के बंधनों में कैद करना चाहते हैं। 'प्रगतिवाद : समकालीनता की व्याख्या' में उन्होंने लिखा है कि 'साहित्य की स्वाभाविक प्रक्रिया क्या है?' और साहित्य की इस स्वाभाविक प्रक्रिया में अनुभूतियों के ग्रहण और इसकी भूमिका क्या है? दिनकर मानते हैं कि 'साहित्य की स्वाभाविक प्रक्रिया अनुभूतियों का ग्रहण और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति है।' अर्थात् साहित्य उसे माना जाएगा जिसमें लेखक समाज के संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक-से-अधिक मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त करेगा और उन मनोदशाओं से प्राप्त अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति करेगा।

दिनकर इस बात पर भी जोर देते हैं कि कला अथवा साहित्य के दो पक्ष होते हैं, एक अनुभूति और दूसरा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति। अर्थात् कला अथवा साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है जो तरह-तरह के सामाजिक संघर्षों एवं संदर्भों से लेखक या कलाकार को प्राप्त होती है। यह लेखक अथवा कलाकार पर निर्भर करता है कि जीवन अथवा सामाजिक संघर्षों से प्राप्त उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए संरचना का कौन-सा शास्त्र अख्तियार करता है। जाहिर है, जिस भी शास्त्र को अपनाया जाएगा उसकी एक वैज्ञानिक पद्धति होगी। इसीलिए दिनकर 'हिन्दी कविता और छंद' में यह धारणा प्रकट करते हैं कि 'कविता कला है, किन्तु छंद-शास्त्र को विज्ञान कहना चाहिए।' पर रचना के कलाकार इसे जीवन भर साधते रहते हैं। क्या रामधारी सिंह दिनकर इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त को खड़ी बोली हिंदी का सबसे बड़ा कवि मानते हैं कि उन्होंने छंदों एवं अलंकारों को साधा। या कारण कुछ और है? क्या इसलिए नहीं कि उनके यहाँ भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तुलसीदास की तरह ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य है? यह ध्यान रखना चाहिए कि दिनकर की 1946 में प्रकाशित इस आलोचनात्मक कृति के पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भक्ति-काव्य से संबंधित तीनों महत्त्वपूर्ण कवियों (गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी) पर केंद्रित आलोचनात्मक कार्य क्रमशः 1923, 1924

तथा 1925 और 'चिंतामणि' भाग एक तथा दो क्रमशः 1939 एवं 1945 में प्रकाशित हो चुके थे। इसीलिए कई जगह दिनकर के कवि एवं काव्य संबंधी विचार आचार्य शुक्ल से प्रभावित एवं संवाद करते नजर आते हैं। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि 'ज्ञान से मुक्ति का जन्म होता है और भक्ति से ज्ञान में दृढ़ता आती है। एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव नहीं है। ज्ञान आत्मा के जागरण का सूचक है किंतु भगवान की ओर बढ़ने की प्रेरणा उसे भक्ति से मिलती है।' 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की निम्नलिखित पंक्तियों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार भी कुछ इस प्रकार के हैं जो दिनकर पर आचार्य शुक्ल के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं : 'तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।'

अर्थात् चित्त की एकाग्रता, भक्ति के बिना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए दिनकर निम्नलिखित काव्य पंक्तियों की चर्चा करते हैं :

जेहि गति मोरी न दूसरि आसा

वह बाल बोध था मेरा।

निराकार, निर्लेप भाव में मान हुआ जब तेरा।

पहले एक अजन्या जाना,

फिर बहुरूपों में पहचाना,

ये अवतार चरित तब नाना;

चित्त हुआ चिर चेरा

निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का निकला बास-बसेरा।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। पर कर्म? आचार्य शुक्ल सूर अथवा तुलसी को इसलिए बड़ा कवि घोषित करते हैं कि उनके यहाँ ज्ञान, भक्ति और कर्म का गहरा सामंजस्य है। दिनकर यहाँ जिस विश्वास के साथ मैथिलीशरण गुप्त को भारतेंदु के बाद सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं, वह इसी बात का संकेत है कि जिस कविता में ज्ञान और भक्ति होगी, वही श्रेष्ठ होगी। क्या इसलिए वह छायावादी कवियों पर विचार विमर्श की प्रक्रिया में सुमित्रानंदन पंत को 1920 के बाद की काव्यधारा का सम्राट मानते हैं? यद्यपि वह प्रसाद और निराला को भी महत्वपूर्ण कवि मानते

हैं तथा इसीलिए छायावाद को हिंदी कविता का एक महत्वपूर्ण आंदोलन। यहाँ तक कि प्रगतिवाद को भी वह 1936 में लखनऊ में गठित प्रगतिशील लेखक संघ अथवा वामपंथी आंदोलन के प्रभाव के कारण उत्पन्न कविता के रूप में नहीं देखकर, छायावाद के 'परिपाक' के रूप में देखते हैं; 'जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं वह छायावाद के परिपाक के सिवा और कुछ नहीं है।' अर्थात् यदि छायावाद नहीं होता तो हिंदी में प्रगतिवाद नहीं आता। बात वही हुई कि हर नयी चीज पूर्व का परिणाम है। मतलब हिंदी कविता के इतिहास में रीतिकाल इसलिए है कि उसके पूर्व भक्तिकाल था। इस प्रकार रीतिकाव्य, भक्तिकाव्य का 'परिपाक' हुआ।

यहाँ सवाल यह है कि दिनकर आखिर क्या साबित करना चाहते हैं ? कोई भी रचना अथवा व्यक्ति या समाज पूर्व की परंपरा से कुछ-न कुछ ग्रहण अवश्य करता है, पर ये उसी का नतीजा है, यह बात समझ में नहीं आती है। खासकर, प्रगतिवाद को छायावाद का परिणाम मानने का तर्क औचित्य पूर्ण नहीं लगता है। दिनकर तो यहाँ तक कहते हैं कि 'प्रगतिवाद को, कवितागत किसी नये जागरण का पर्याय मानना अनेक दृष्टियों से अयुक्तियुक्त और खण्डनीय है।' क्यों? दिनकर इसका उत्तर रोमांसवाद को केंद्र में रखकर देते हैं। उनका मानना है कि प्रगतिवाद के अधिकांश कवि छायावाद से आये हैं अथवा छायावादी दौर की हिन्दी कविता की उपज हैं। छायावाद में मौजूद रोमांसवाद उन्हें राजनीतिक उग्रता का समर्थक लगता है : 'प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता शायद यह है कि उसने काव्य में राजनीति की स्थापना की है, किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि छायावाद का पर्याय रोमांसवाद, प्रायः सभी देशों में उग्र राजनीतिक आंदोलन के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण था तथा आरंभ से हिंदी में भी वह उग्रता का समर्थक रहा है।'

यह उग्रता किस प्रकार की है, दिनकर इसे स्पष्ट नहीं करते हैं। कहना न होगा कि रोमांसवाद की जिस राजनीतिक उग्रता की तरफ इशारा करना चाहते हैं, उसका बहुलांश व्यक्तिगत उपलब्धियों का रहा है, वह भी उन देशों में अधिक जहाँ भारत की तरह लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ नहीं रही हैं। प्रगतिवाद छायावाद का परिणाम इसलिए भी नहीं हो सकता है क्योंकि घोषित रूप से हिंदी में प्रगतिवाद जनतांत्रिक मूल्यों को लेकर विकसित होता है एवं सामंतवाद तथा पूँजीवाद के खिलाफ जनतांत्रिक (सामाजिक और राजनीतिक) व्यवस्था

का हिमायती है। इसीलिए दिनकर की यह स्थापना भी बहस की माँग करती है कि 'प्रगतिवाद जो हमारे लिए इतना सम्मोहक शब्द हो गया है, किसी भी प्रकार साम्यवाद का पर्याय नहीं हो सकता।' इतना ही नहीं, जब दिनकर यह कहते हैं कि प्रगतिवाद को मैं हिन्दी कविता का कोई नया जागरण नहीं मानता, तब उनकी यह स्थापना समझ में नहीं आती है कि साहित्य को क्यों वह साधना या संघर्ष का मार्ग मानते हैं? साधना तो ठीक है, पर संघर्ष किससे? किसके खिलाफ? सिर्फ रूढ़ियों अथवा परंपरा में सुधार के लिए या उस पूरी व्यवस्था को बदलने के लिए जो एक नयी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था द्वारा बेहतर समाज बनाना चाहती है? तब यह नयी व्यवस्था साम्यवाद क्यों नहीं हो सकती? आखिर दिनकर क्यों नहीं विकास की इस प्रक्रिया में वामपंथी आंदोलन की भूमिका को स्वीकार करना चाहते हैं? यद्यपि 'मिट्टी की ओर' में वह जगह-जगह साम्यवाद, कार्ल मार्क्स आदि की चर्चा करते हैं; पर पुरानी व्यवस्था को ही बनाए रखना चाहते हैं जिससे कि साहित्य जनसमूह तक पहुँचे तो जरूर, पर किसी राजनीतिक विचारधारा का प्रचारक न हो जाए, खासकर नये वस्तुवाद का।

दरअसल, रामधारी सिंह 'दिनकर' की विचारधारा जड़ों की ओर वापसी की विचारधारा है, जहाँ परंपरा आधुनिकता के साथ द्वंद्वात्मक संघर्ष करते हुए लेखन में यथार्थ की महत्ता को स्थापित करती है। उनकी 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि जैसी काव्यकृतियों या वैचारिक पुस्तकों के माध्यम से भी इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। वे रचना को जनता के साथ जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए वे 'दृश्य अदृश्य का सेतु', 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न', 'हिन्दी कविता पर अशक्तता का दोष', 'प्रगतिवाद', 'समकालीनता की व्याख्या', 'साहित्य और राजनीति' आदि जैसे आलोचनात्मक निबंधों में रचना को जनता के वास्तविक जीवन से जुड़ाव की आवश्यकता पर जोर देते हैं, पर इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहते कि रचना की निर्मिति में 'जनता' की भी कोई केंद्रीय भूमिका होती है। वह यह भी मानना नहीं चाहते हैं कि कई बार जनता रचना के शास्त्र को भी निर्धारित करती है, जैसे कि पूँजीवाद के उदय के साथ उपन्यास जैसी नयी विधात्मक संरचनाओं का जन्म होता है। पर दिनकर की यह पुस्तक एक कवि के काव्य संबंधी धारणाओं, रचना की निर्मिति की प्रक्रिया में परंपरा की भूमिका एवं उसकी राजनीतिक पक्षधरता के सवाल को गंभीरता के साथ

उठाती है जिसकी व्यापक परिणति उनकी 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी पुस्तक में दिखलाई पड़ती है। 'मिट्टी की ओर' की अनेक स्थापनाओं से असहमतियाँ हो सकती हैं, पर दिनकर जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों को रखते हैं और उसके लिए तर्क देते हैं, वह उनकी कला तथा काव्य संबंधी दृष्टि को व्यापक आयाम देने के लिए पर्याप्त हैं। समकालीन कविता के साथ मुठभेड़ की उनकी यह कोशिश भारतेंदु, प्रसाद, पंत, निराला, अज्ञेय जैसे कवियों की वैचारिक हस्तक्षेप की परंपराओं में कुछ नया जोड़ती और व्यापक बहस की माँग भी करती है।

तटस्थता के बहेलिये : दिनकर

उमराव सिंह चौधरी

ईशावास्योपनिषद् का आठवाँ मंत्र परमतत्त्व को अन्य विशेषणों के साथ क्रांतिदर्शी महाकवि के रूप में भी संबोधित करता है। सृष्टि उस क्रांतिदर्शी श्रेष्ठतम कवि की विराट और अद्भुत कविता है। जगद्गुरु शंकराचार्य कवि के गुणों और लक्षणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वह केवल कविता का रचयिता ही नहीं होता, बल्कि क्रांतिदर्शी, सूक्ष्मदर्शी और दूरदर्शी भी होता है। वह ऐसा सूक्ष्मदर्शी और संवेदनशील मनीषी होता है जो वस्तुओं और व्यक्तियों के अंतरंग एवं आंतरिक पक्षों को देख और समझ सकता है। कुँवर नारायण कहते हैं कि कवि ईश्वर की 'निर्माण-व्यथा' में जागता है। संभवतः इसीलिए उसके सृजन में परमात्मा भी हाथ बाँटाता है। अंग्रेज कवि शेली इस भारतीय दृष्टि की दाद देते हैं कि कवि भी परमात्मा (सर्वश्रेष्ठ कवि) की तरह 'अनजाना नियामक' होता है।

यह एक अपूर्व तथ्य है कि भारत की पहली कविता उस परम संवेदनशील ऋषि के अंतस् से उद्भूत आक्रोश की अभिव्यक्ति है, जो एक आहत पक्षी की व्यथा से विह्वल और विगलित हो गया था। अधिक व्याध को कवि द्वारा दिया गया यह शाप कि उसकी प्रतिष्ठा और सुख-शांति धूल में मिल जाए, उसके आक्रोश और उद्वेलन का परिचायक है। 'नीर भरी दुःख की बदली' महादेवी मानती हैं कि दुःख उनके निकट जीवन का काव्य है जो संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है : हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार

मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बूँद समुद्र में मिल जाती है, कवि का मोक्ष है।

महादेवी की दृष्टि में 'साहित्य' (या कविता) मनुष्य रूप में अवतरित होने पर ईश्वर को भी 'पूर्ण' मानना अस्वीकार कर देता है। ईश्वर की सृष्टि में भाव-अभाव, आधा-अधूरापन और ऊँच-नीच देखकर उद्वेलित-आक्रोशित होना उसका स्वधर्म या कविधर्म ही है। तभी तो जूठन चाटते बच्चों को देखकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के रूप में, वह ईश्वर का टेंटुआ घोटने की सीमा तक आगबबूला हो उठता है। क्रांतिदर्शी महाकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' भी इसी आक्रोश, संवेदना और विश्वजनीन सहृदयता अथवा कवि के मोक्ष की आनुवंशिकता के उत्तराधिकारी और उन्नायक थे।

पाखंड का खंडन, विकृति का उच्छेदन और दमन का प्रतिरोध करने में दिनकर की जिह्वा और कलम न तो कभी फिसली और न ही कभी ठहरी। कोई सुने या न सुने वे इंकिलाब की हद तक जाकर जीवन भर पुकारते और ललकारते रहे। उन्होंने लिहाज के लिये सच्चाई की बलि नहीं चढ़ाई। न तो कभी हिन्दी का अहित होने दिया और न ही राष्ट्रीय अस्मिता और सांस्कृतिक गरिमा की क्षति। उनका जुझारूपन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आग्रह लेकर आजीवन जुझता रहा। स्थान चाहे राज्यसभा हो, साहित्यगोष्ठी हो या देश-विदेश में संवाद-प्रतिवाद। वे अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों ही स्थितियों में देश के लिए दीप-स्तंभ बने रहे :

तम में दीप, दिशा-भ्रम में रवि,

संकट में सात्वना वाक्य,

बल-विभ्रम में विद्युत जिह्वा कवि।

महल के लिये झोपड़ी की बलि देने और कृषक के शोषण पर ऊँची दीवारें खड़ी करने के पूँजीवादी प्रपंच के खिलाफ दिनकर जी अपनी इंकिलाबी आवाज बुलंद करते रहे। वे भारतीय समाज के उपवन से विषमता, दुर्भाव और दमन के कैक्टसों का सफाया करके समता, सदाशयता और समरसता के फूल खिलाना चाहते थे। इसीलिये, उन्होंने कविता रूपी दुर्गा का आह्वान करके चाहा कि वह संसार में ऐसी क्रांति की ज्वाला सुलगा दे जिससे पतन, पाप और पाखंड भस्मीभूत हो जाएँ :

क्रांतिधात्रि कविते जाग, उठ आडंबर में आग लगा दे।

पतन, पाप, पाखंड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

परतंत्र भारत में व्याप्त गरीबी, उत्पीड़न और शोषण के संहार के लिये कई साहित्यकार उस समय साम्यवाद की वकालत करने लगे थे। सुमित्रानंदन पन्त भी उनके स्वर में स्वर मिलाने लगे थे। लेकिन प्रचंड पौरुष और कर्मयोग के कवि दिनकर ने यह तर्क देकर उन स्वरों को शांत कर दिया कि ऐसा सिस्टम जो मनुष्य पर बोझ बनकर उसकी आत्मा को कुचल दे, वह मनुष्य जाति के लिए हितकारी नहीं हो सकता।

वे भाग्यवाद और परलोकवाद के कट्टर विरोधी थे। वे मिट्टी और जीवन के कवि थे। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने शंखनाद किया कि भाग्यवाद पाप का आवरण और शोषण का शस्त्र है। व्यर्थ के कल्पना-लोकों का निर्माण कर जन-साधारण को भुलावे में भटकाने वालों को ललकारते हुए वे कहते हैं :

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज! जो कुछ भी है, वह मिट्टी में, जीवन में।

दिनकर की डायरी सन् 1987 में प्रकाशित हुई थी। इसका अंतिम वाक्य है: श्री अरविन्द: शरणं मम। इससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रकवि दिनकर अरविन्द के विचारों से अभिभूत थे। कवि और योगी अरविन्द मानते थे कि बुद्धि से लिखी गई कविता उन कविताओं से हीन होती है, जो सीधे आत्मा से निकलती है। 31 दिसम्बर, 1972 को पटना में लिखी डायरी में उन्होंने बताया है कि पूनम (बेटी) के लिए वर नहीं मिलने के कारण उनका चित्त अशांत था। तभी उन्हें महसूस होने लगता है कि मन को शांत करने की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। फिर वे कविता के जन्म पर विचार करते हुए लिखते हैं कि बड़ी कविता का जन्म तब होता है, जब मन का यंत्र निश्चेष्ट पड़ जाता है। सुना है, बड़े-बड़े आविष्कार भी मन की इसी निश्चल दशा में हुए हैं। सोचने की शक्ति बहुत बड़ा वरदान है, किन्तु न सोचने की शक्ति उससे भी बड़ा वरदान है। मन को स्वच्छ रखने का भी तरीका यही है कि मन को सोचने से रोक लिया जाए। योग कुछ करने का नाम नहीं है, वह केवल होने का नाम है। यानी केवल बीइंग, बिकमिंग नहीं। मन के शांत होने पर ही बीइंग की स्थिति आती है, वह भूमि आती है, जो किसी की नहीं है। लेकिन दिनकर यह मानते और जानते हैं कि कविता का एक बड़ा लक्षण यह है कि वह आत्मा की शांति भंग करे। आत्मा के शांति-भंग में एक आनंद है, जिसे संस्कृत

व्यक्ति ही जानता है।

कवि दिनकर की आत्मा की शांति कम से कम दो बार तो भंग होती हुई दिखाई दे ही गई थी। एक तो 'उर्वशी' की प्रसूति से पहले और दूसरे चीनी आक्रमण के दौरान 'परशुराम की प्रतीक्षा' को अवतरित करते समय। 'उर्वशी' काव्य की रचना में उन्हें सर्वाधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। उर्वशी के प्रसव की बेचैनी और दर्द को वे आठ साल तक सहते रहे। प्राणों का संकट झेलकर उन्होंने इस काव्य को पूरा किया। वे उर्वशी को पूरा किए बिना मरना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने कविता की रचना जबर्दस्ती शुरू कर दी। फिर यही जबर्दस्ती प्रेरणा में बदल गई और कविता ने उन्हें कसकर पकड़ लिया। दिनकर जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि मैंने इसकी रचना नहीं की है, यह अदृश्य में कहीं लिखी-लिखाई पड़ी हुई थी। मैंने मात्र उसका अनुसंधान कर लिया है। पंत जी को लिखे एक पत्र में इस अनुसंधान का काव्यमय उल्लेख किया गया है-

मैं घोर चिंतना में धँसकर,
पहुँचा भाषा के उस तट पर।
था जहाँ काव्य यह धरा हुआ,
सब लिखा-लिखाया पड़ा हुआ।
बस झेल गहन गोते का सुख,
ले आया इसे जगत् सम्मुख।

1962 में हुए चीन के अप्रत्याशित आक्रमण के समय कवि का आक्रोश चरम बिन्दु पर पहुँच गया था। वे प्रतिकार और आत्मधिवक्कार से आन्दोलित होकर कविता पर कविता लिखे जा रहे थे। यहाँ तक कि रक्तचाप बढ़ गया और बीमार हो गए। जनता का मनोबल बढ़ाने के लिये फिर भी वे कवि सम्मेलन आयोजित करते रहे। राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन और प्रधानमंत्री पं. नेहरू से मिलते रहे। उन्हें जनभावना से अवगत कराते रहे। जनरल कौल, रक्षा मंत्री मेनन और चीन विषयक सरकार की नीति को लेकर जागरूक लोगों में काफी नाराजगी थी। जनरल कौल को सेना बिल्कुल पसंद नहीं कर रही थी। नेहरू से रिश्ते के कारण कौल को हटाना मुश्किल हो रहा था। तेजपुर में सैनिकों ने राष्ट्रपति के चरणों में गिरकर जो कुछ बताया उससे राष्ट्रपति हिल गए। दिनकर ने कौल और नेहरू की रिश्तेदारी पर निशाना साधते हुए

भाई-भतीजावाद और गोत्रवाद पर एक चुभने वाली कविता लिख दी। अन्त में राष्ट्रपति के हस्तक्षेप और राजाजी द्वारा की गई आलोचना ने नेहरूजी को जनरल कौल और मेनन को निकालने के लिये मजबूर कर दिया।

22 दिसंबर, 1962 को 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक जो कविता आरंभ हुई थी, वह लगभग प्रतिदिन ही लिखी जा रही थी। देश के आहत होने का दर्द दिनकर जी में इतना गहरा था कि वे रोते जाते थे और कविता लिखते जाते थे। 23 जनवरी, 1963 को हुए लाल किले के कवि-सम्मेलन में भी दिनकर जी ने यह कविता सुनाई और खूब दाद बटोरी। उन दिनों इस आग उगलने वाली कविता का दिल्ली में बड़ा तहलका मचा हुआ था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के बारे में जानकारी मिलने पर डॉ. राधाकृष्णन बेहद खुश हुए। उन्होंने दिनकरजी को कहा कि काश मैं हिन्दी जानता और आपकी कविताएँ पढ़ सकता! मगर दिल्ली में आपने जो तहलका (कमोशन) मचा रखा है, उससे मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आप समर्थ कवि हैं। मेरा आशीर्वाद है कि आपकी सामर्थ्य और भी बढ़े। कवि निर्भीक नहीं होगा तो कविता पवित्र और शक्तिशालिनी नहीं होगी।

चीन के छलपूर्ण आक्रमण से देश के मस्तक को नीचा होता हुआ देखकर दिनकर ने भारत को एक सामरिक राष्ट्र बनाने की पैरवी की। वे बाहुबली प्रवृत्ति और हिंसा के प्रशंसक हो गए। उनका रौद्र-रूप उजागर हो गया। उन्होंने कहा कि गांधी और बुद्ध को बचाने के लिए उस खड्ग की आवश्यकता है, जिसे उनके अनुयायी निंदित मानते हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' राजेन्द्र बाबू को भी सुनाई। वे निम्नांकित पंक्तियाँ सुनकर मूछों में मुस्कराते रहे:

*असि छोड़, भीरु बन जहाँ धर्म सोता है,
पातक प्रचंडतम वहीं प्रकट होता है।*

दिनकर कहते हैं कि राजेन्द्र बाबू कविता इस भाव से सुन रहे थे कि कवि का क्रोध जब सीमा का उल्लंघन करता है, तब भी वह खूबसूरत होता है और मैं इस भाव से सुना रहा था कि गांधी-परंपरा में भी इस क्रोध का औचित्य है। ...अगर गांधी-धर्म आत्मरक्षा से तलवार उठाने को पाप नहीं समझता तो मैं भी उत्तम कोटि का गांधीवादी हूँ।

वाल्तेयर के बहाने दिनकर एक जगह कहते हैं कि कवि होना उस शुद्ध, जीवंत बर्बर के समान है जो सोचता नहीं, केवल अनुभव करता है, फील करता

है, जिसके भीतर विचार नहीं होते, केवल बिंब या चित्र होते हैं। लेकिन जब दिनकर की परवर्ती कविताओं को पढ़कर पंत जी ने कहा कि उनकी कविता में विचार कुछ ज्यादा ही दिखाई दे रहे हैं, तब दिनकर जी ने दो-तीन विदेशी साहित्यकारों के उद्धरण देकर अपनी रक्षा भी कर ली। मगर सच्चाई तो यही है कि कविता में भावना और विचार की लयपूर्ण उपस्थिति आवश्यक है। कविता न केवल भावना का आवेग है और न कोरे विचारों का उन्मेष।

धर्मयुग में 'हारे को हरिनाम' शीर्षक के अर्न्तगत छपी दिनकर की कविताओं की काफी सराहना हुई। नामवर सिंह और स्वर्गीय रामविलास शर्मा जैसे दिग्गज विचारकों और साम्यवादियों ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। रामविलास जी ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि वे निरन्तर इन कविताओं को पढ़ते रहेंगे तो एक दिन आस्तिक अवश्य बन जाएँगे। इस कारण दिनकर जी आश्वस्त थे कि भारत में साम्यवाद या कम्युनिज्म कभी नास्तिक नहीं हो पाएगा।

राज्यसभा के सदस्य बनाए जाने के बाद लगभग 20 वर्ष (1952-72) तक वे दिल्ली से ही लगे रहे। उनके लिए यह कालखंड काफी घटना-प्रधान रहा। इस दौरान वे बादलों से गरजते और बिजली की तरह दौड़ते रहे। वे हिन्दी के तो परिव्राजक बने रहे। देश और दुनिया नापते रहे। सैकड़ों साहित्यकारों और कलाकारों के संपर्क में आए। हिन्दी और अंग्रेजी के साहित्य को पढ़ने में वे कभी पिछड़े नहीं। दिल्ली में नेहरू जी से भी काफी हिले-मिले रहे। जवाहर और मोती पर कविताएँ भी लिखी। जवाहर को वीर रस के कवि सम्मेलन सुनवाए ताकि चीन से लड़ने का उनका जज्बा ठंडा नहीं होने पाए। लेकिन वक्त आने पर देश और हिन्दी के मामलों को लेकर नेहरू को खरी-खोटी सुनाने में संकोच या परहेज नहीं किया। एक बार नेहरू ने भावना में दिनकर से कह दिया कि उनके (नेहरू के) बाद भारत में जनतंत्र नहीं रह पाएगा, सैनिक शासन हो जाएगा। नेहरू जैसे जनतंत्रवादी से यह चर्चिल की भाषा सुनकर वे दंग रह गए। वे इन शब्दों को हजम नहीं कर पाए। सीधे-सीधे राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन के पास जाकर उन्हें बता दिया। डॉ. राधाकृष्णन को भी बड़ा दुःख और आश्चर्य हुआ और वे काफी सतर्क हो गए।

1962 में जब गोपाल रेड्डी सूचना मंत्री बने और उन्होंने 'तुष्टीकरण' के लिए हिन्दी के सरलीकरण का अभियान छेड़कर हिन्दी से संस्कृत के शब्दों

का बहिष्कार करने की वकालत की तो दिनकर जी तमतमा उठे। रेडियो बुलेटिनों में जिस तरह से हिन्दी को लिखा और बोला जा रहा था, उससे राष्ट्रकवि की नाराजगी और अधिक बढ़ गई। उन्होंने ललकार कर कहा कि सरकार हिन्दी को बिगाड़ रही है। उन्हें यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि यह हिन्दी के बिगाड़ का कार्यक्रम बच्चन जी की देख-रेख में हो रहा था। पंत जी भी बच्चन की हाँ में हाँ मिला रहे थे। राज्यसभा में, हिन्दी के बेतुके सरलीकरण के खिलाफ, दिनकर ने जो ओजस्वी भाषण दिया उसका हिन्दी जगत् ही नहीं दक्षिणवासियों ने भी स्वागत किया। इस भाषण में उन्होंने नेहरू के खिलाफ छींटाकशी करते हुए कहा कि देश के प्रधानमंत्री पं. नेहरू के हिन्दी विरोधी रुख को देखकर ही कुछ लोग हिन्दी के सरलीकरण की मुहिम चलाने के लिये आमादा हुए हैं।

गांधी विज्ञान और आधुनिकता को वहीं तक अपनाने के पक्षधर थे, जहाँ तक कि हमारी नैतिक क्षमता उस पर नियंत्रण (या अनुशासन) रख सके। दिनकर का भी आग्रह था कि हम आधुनिक वहीं तक बनें, जहाँ तक वह हमारी संस्कृति के अनुकूल हो। अपनी संस्कृति और परंपरा का सार इसलिए बचाना है कि कहीं आधुनिक बनते-बनते हम यूरोप या अमेरिका की 'डुप्लीकेट कापी' बनकर न रह जाएँ। दुनिया एक हो, यह ठीक है; लेकिन विभिन्न देशों की परंपराएँ अगर जड़ से उखाड़ कर फेंक दी गईं तो दुनिया शायद एक जैसी तो हो जाएगी, मगर रंग उसका भूरा हो जाएगा, चितकबरा नहीं रहेगा। संभवतः, विविधता खोकर अनाकर्षक और नीरस भी हो जाएगी।

बुद्धिजीवियों और मनीषियों की भूमिका एवं छवि को लेकर भी दिनकर अपने साहित्यकार साथियों और मित्रों से चर्चा करते रहते थे। फलस्वरूप, उनका अभिमत बना था कि मनीषी जब सरकार से सटने लगता है, तब जनता उस पर संदेह करने लगती है और जब वह सरकार का अंग बन जाता है तब जनता उस पर विश्वास करना छोड़ देती है। असली बात यह है कि जनता चाहती है कि मनीषी ऐसा हो कि वह राजा और प्रजा दोनों को डाँट सके। जब तक मनीषी इस धर्म का पालन करता है, तब तक जनता उसके साथ रहती है। स्वराज्य के पूर्व मनीषियों का इस देश में बड़ा सम्मान था, क्योंकि मनीषी या बुद्धिजीवी शासकों के खिलाफ आवाज उठाते थे। अब मनीषियों का आदर बहुत कम हो गया है। जो मनीषी, लेखक, कवि या कलाकार हैं, वे कला और

साहित्य की तो सेवा करते हैं, लेकिन समय के ज्वलंत प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करने से कतराते हैं। बेशक, यह सुरक्षित राह है मगर जो सुरक्षा खोजता है, जनता उसकी खोज-खबर नहीं लेती। जिस समाज के मनीषी भयभीत होकर दबू और चाटुकार बने रहते हैं, उस समाज का नेता राजनीतिक ही रहेगा, मनीषी नहीं। समाज पर बौद्धिकों और प्रज्ञावानों का प्रभाव तभी पड़ेगा जब कि वे समय पर सत्य बोलने या प्रतिरोध की आवाज उठाने की कीमत चुकाने के लिये तत्पर रहेंगे। दिनकर किर्कगार्ड की इस उक्ति से सहमत थे कि आदमी केवल सोचने से नहीं बनता। वह नैतिक संघर्ष से बनता है, कर्म के तनाव से बनता है। कुल मिलाकर, दिनकर तटस्थता के बहेलिये थे। ऐसा लगता है कि वे स्वयं अपनी काव्य-पंक्ति, जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध, को जीवन में उतारने की कोशिश में लगे रहे। निःसन्देह, वह सुशिक्षित व्यक्ति भी इस धरती का बोझ है जो सत्य, न्याय और समता का आग्रह नहीं रखता हो, या इनके पक्ष में एक स्टैंड न ले पाता हो।

उपभोग की अति से उपजने वाली उकताहट, समृद्धि के सरोवर में उगने वाले दुष्काल और सभ्यता द्वारा प्रकृति एवं मानव जीवन की गुणवत्ता के साथ किए जा रहे व्यभिचार के प्रति भी दिनकर चौकन्ने थे। भोग-उपभोग की पोषणीयता (सस्टेनेबिलिटी) अथवा मर्यादा को संभवतः इसीलिए उन्होंने 'उर्वशी' में बड़े मनोहारी शब्दों में उठाया है। इस कामाध्यात्म या निष्काम काम की क्लिष्ट कल्पना पर कुछ प्रश्न भी उठाए गए हैं। लेकिन, क्या यह ईशोपनिषद् के त्यागमय भोग की श्रृंगारिक अनुगूँज नहीं है :

*सतत् भोगरत नर क्या जाने तीव्र स्वाद जीवन का,
उसे जानता वह, जिसने कुछ दिन उपवास किया है।*

संस्कृति के चार अध्याय' ग्रंथ में भी अमर्यादित विलास और उपभोग के प्रति अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं: ...यदि भारत का इतिहास सत्य है तो गरीबी पर लगाम लगते ही इस देश में एक विचारधारा प्रकट होने वाली है, जो यह बताएगी कि मनुष्य का कल्याण इसमें नहीं है कि उसकी आवश्यकताएँ अनंत हों, बल्कि इसमें कि उसकी जरूरतें थोड़ी हों। सर्वोत्तम समाज वह नहीं, जिसका लक्ष्य समुचित समृद्धि की उपलब्धि है, बल्कि वह जो वाजिब गरीबी को अपना ध्येय मानता है। जरूरत की सारी चीजें मनुष्य को तुरंत चाहिए, लेकिन जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नहीं चाहिए।

भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की नवीन संस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिये स्वेच्छा से अमीरी का त्याग कर सकता हो।

मेरी समझ से, दिनकर जी की अनुभूतियों और विचारों का सार अग्रलिखित तीन बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है :

पहला- विचारकों, मनीषियों और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को तटस्थ और उदासीन नहीं रहकर पाखंड का खंडन, विकृतियों का विरोध और शोषण का प्रतिरोध करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

दूसरा- निर्बल को सबल और सबल को न्यायप्रिय बनाने का प्रयास निरन्तर जारी रहना चाहिए।

तीसरा और अंतिम यह कि सत्तावान के मुँह पर सत्य बोलने से सत्तावान सत्योन्मुख और सत्य सत्तावान होता है।

उर्वशी : सवालों का संकट

प्रमीला के.पी.

कोई माने या न माने, वाद-विवाद से घिरी हुई हर रचना राजनीति व विशेष जीवन-दर्शन से युक्त होती है। वाद-विवाद इसकी मांग करते हैं कि रचना का पुनर्पाठ हो और पाठक अपना मंतव्य स्वयं बनाए। साथ ही सुपरिचित-बहुचर्चित रचना पर बोलना-लिखना चिंतनशील व्यक्ति के लिए सबसे कठिन होता है। किसी पौराणिक अभिमत को उसके आध्यात्मिक परिसर से अलग करके पढ़ना या वाचित करना हमारे लिए बहुत मुश्किल है। हमारे मानसिक गठन और वैचारिक परिदृश्य उसके परंपरागत अनुकूलन में धँस गए हैं। इस कठिनाई को पार करने के लिए मौलिक दृष्टि की महती जरूरत है। उर्वशी के माध्यम से उठे अनुत्तरित सवालों को पुनः देखना एक तरह का साहित्यिक दायित्व है।

रोलाँ बार्थ का सिद्धांत कर्ता की मृत्यु व रेमण्ड विलियम्स की रचना को उपभोक्ता संदर्भ में वाचित करने की माँग, दोनों को सामने रखकर यदि हम उर्वशी को हाथ में लेते हैं तो कई सवाल हमें उद्वेलित करते हैं। उसमें प्रमुख को उभारने का यहाँ पर प्रयास है:

उर्वशी का मूलभूत सवाल यह है कि प्रकृति और ईश्वर क्यों एक साथ नहीं रह सकते? इसका साफ उत्तर आज हमारे सामने है- प्रकृति निज होती है जबकि ईश्वर मानवनिर्मित है, जो कि संस्कृति का अंग है। संस्कृति आंतरिक हो या बाहरी, उसकी व्याख्या मानवीय सीमा में प्रवर्तित है। जबकि प्रकृति हर बार मनुष्य के अहंकारपूर्ण नियंत्रण से बाहर होकर ताकत दिखाती है, पर मनुष्य तब भी अपनी गलतफहमी नहीं छोड़ता, बरक्स दार्शनिक होने के अंदाज में फिर 'महान' होने के रुख में पलता है। असल में रचना के वाचन कर्म में कृति की महानता से बढ़कर पाठक या आलोचक की रुचि व संस्कृति की

पहचान होती है। अक्सर हम यह तथ्य भूल कर वाद-विवाद-संवाद में भागीदार रहते हैं। अप्सरा की कथा हो या वेश्या की; उर्वशी की कथा के पुनर्वाचन में कृत्रिम मनोविज्ञान होने का ऐलान करते हुए हम यह भूल गए कि वह विचार उर्वशी व दिनकर से बढ़कर वाचक की पहचान बन जाता है। लगता है, कथा के प्लॉट के संदर्भों को पीछे छोड़कर, हमें उसकी सामयिकता और वाचिकता पर नजर डालनी चाहिए थी। इस तरह उर्वशी के माध्यम से कुछ नई बातें उभर आती हैं तो उनका निरीक्षण करें ताकि आगामी पीढ़ी उसकी चर्चा को आगे बढ़ाए। 'उर्वशी' पर परीक्षा में विद्यार्थियों से पूछे जाने वाले कामाध्यात्म और पुरुरवा के द्वन्द्व आदि की चर्चा अब अयाचित है। पर उन्हीं के मायनों पर विकसित 'सामाजिक आध्यात्मिकता' की चर्चा आज प्रासंगिक है। उस दृष्टि से उर्वशी का कार्य 'बाहर के संसार' में है, उसमें वह दखल करती है, अपना योगदान प्रस्तुत करती है, साथ ही इस दखल में वैयक्तिक चयन की भी रक्षा देखती है। इस तरह राजनीतिक अर्थ में 'उर्वशी' अपनी पुरानी कथा की सीमाओं में भी स्त्री-विमर्श की प्रतिनिधि रचना बन जाती है और उसकी निज प्रकृति के सर्वप्रमुख पहलू - यौनिकता-पर खुलकर बोलती है (मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है / उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है)।

उर्वशी अदम्य है क्योंकि वह प्रकृति है जबकि राजा निर्मित है, विभिन्न अनुशासनों व संस्कारों से व्युत्पन्न। उर्वशी का अप्सरा होना भी प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्तियों के अनुरूप है। पुराण पर आधारित होने के कारण कवि के इस प्रयास की अपनी सीमाएँ होंगी ही। पर समय व काल की दृष्टि से यह प्रयास क्रान्तिकारी है क्योंकि आज भी 'उर्वशी' के सवाल अनुत्तरित हैं। इसकी नायिका उच्चकुलीन पुरुष का उपकरण है, जिससे वह पुत्र-प्राप्ति का व्यावहारिक लक्ष्य प्राप्त करता है। पर इस पात्र-सृजन में उनके परंपरानिर्णीत दांपत्य-जीवन के एकलस्वरूप को, जिसे हम हेटेरोसेक्सुअलिटी कहते हैं, खंडित करने की चाहत है। इसमें एक औरत की स्वचयन के आधार पर जीवन बिताने और आजाद जीने की चाहतें हैं, इसमें मानव संस्कृति के प्रतिबन्धों से उत्पन्न घुटन का प्रतिपादन है। उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टि में उर्वशी का स्वर्ग 'पहली दुनिया' है तो पुरुरवा की धरती 'तीसरी दुनिया' का कोई राष्ट्र है। सौंदर्य और प्रजनन के उपनिवेशी मानकों पर पुरुरवा के द्वन्द्व की पहचान

आसान है। पुरुरवा में परंपरागत भारतीय राजा के ही नहीं बल्कि उत्तर-औपनिवेशिक प्रशासक के भी संकट दिखायमान है। 'उर्वशी' में यौनिकता को लेकर विकटोरियन मानकों की झाँकियाँ हैं, तो ऐसा होना स्वाभाविक है। उस समय में भी 'सेकेण्ड-वेव फेमिनिज्म' की शुरुआत नहीं हुई थी। तब भी स्त्री-यौनिकता का बयान हेय समझा जाता था। यदि औरत उच्चकुलीन है तो उसे संयमित और दायित्वपूर्ण होना अत्यंत जरूरी था। पौराणिक कथाओं के आधार पर रोमिला थापर ने 'शकुंतला' के पुनर्वाचन में प्रकृति व संस्कृति के द्वन्द्व पर काफी चर्चा की है। 'उर्वशी' के रचना-प्रसंग में यह याद करें कि शकुंतला की माता अप्सरा है- मेनका, जो कि उर्वशी की सहेली और इस रचना की एक पात्र है। 'उर्वशी' में स्वतंत्र नारी की त्रासद व विनिर्मित स्थितियों का बयान है। उस जमाने में नारी-जीवन के इस पक्ष को रचना में स्थान मिलना बड़ी बात लगती है। कथागति में होने वाले परिवर्तन पर या कथा के अंत को लेकर जो भी व्यंग्यात्मक-आलोचनात्मक टिप्पणियाँ मिलती हैं, उनसे परहेज कर वर्तमान संदर्भ में स्त्री के सतीत्व व मातृत्व के सांस्कृतिक सवालों पर उर्वशी का पुनर्वाचन होना चाहिए। साथ ही 'उर्वशी' में प्रतिपादित अरण्य-राजमहल के द्वन्द्व की चर्चा महत्वपूर्ण है। भारत के प्रसंग में प्रकृति व संस्कृति का यह संकट 19वीं शती में सर्वाधिक हो गया था। यह भी न भूलें कि इसमें उपनिवेश की कयामत कम नहीं थी। यह भूमिशास्त्र को बदलने वाला परिवर्तन भर नहीं था, यह राजा-प्रजा, गोरा-काला, स्वर्ग-नरक, गाँव-जंगल, सरकारी-गैर सरकारी आदि अनेक द्वन्द्वों पर सोचने को मजबूर करता है।

'उर्वशी' परिवार, प्रेम, यौनिकता और नैतिकता की परंपरागत धारणा पर सवाल करती है। उसका कार्य परंपरागत धारणा को ध्वस्त करना नहीं, वह खुद विकल्प सामने रखती है। उसका सच मूल्यों का प्रतिष्ठापन नहीं है। वहाँ कोई टकराहट भी नजर नहीं आती, उसमें स्त्री-यौनिकता घूँघट के बाहर प्रस्तुत होती है। यौनिकता को लेकर यह अलिखित धारणा है कि स्त्री उसका प्रतिपादन-प्रकटीकरण नहीं करे। कोई ऐसा करती है तो वह वेश्या बन जाती है। पर हमारे समाज में वेश्या हमेशा 'अन्य' रहती है। पर उनका उपयोग माता के रूप में खूब उपयुक्त है। कई उदाहरणों में राजा-महाराजाओं के लिए वही एकमात्र पुत्र-संपादन का मार्ग भी चित्रित किया गया है। मेनका, उर्वशी, रंभा आदि इस पंक्ति की मिसालें हैं। माधवी, द्रौपदी, गांधारी और सीता के समवर्ती

पौराणिक उदाहरणों में उनके रूप भले ही राजपत्नी के नाते चित्रित हैं, पर स्त्रीत्व और मातृत्व का उपयोग उन अप्सराओं से कुछ भिन्न नहीं है।

आज की अप्सराएँ हैं—फिल्मी तारिकाएँ। उनके पृथ्वी की होने की कोई सूचनाएँ न टीवी में हैं, न अन्य संचार माध्यमों में। चैनलों की बौछारों में उनकी अदाएँ उसी तरह वर्णित-प्रसारित हैं। उनकी इच्छाएँ, डेटिंग, प्रेम, सौंदर्य-संरक्षण, संबंध, मातृत्व आदि विस्तार से एक साथ अनेक चैनलों में बार-बार प्रक्षेपित किए जाते हैं। धन व यश के बल के कारण कोई उनकी नैतिकता पर सवाल भी नहीं उठा सकता। इसके उलट बच्चे-बूढ़े सब, इसी को देखते-समझते और मानक खड़े करते रहते हैं। इन तमाम विसंगतियों से किसी को शिकायत नहीं; न वाम को, न सत्ताधारी को। बस, यह सब हमारे लिये आम हो गया है। हमारा युग आजादी की वैयक्तिक परिभाषा का है, इसलिए उसमें 'सामाजिक' सच का कोई स्थान नहीं है। समाज का अर्थ सत्ता और धन के ठेकेदारों द्वारा तैयार किया जाता है। 'आम आदमी' का नारा सभी लोगों को सुनाया जा रहा है। सच तो यह है कि 'आम आदमी' सब के लिए आसान सुरक्षाकवच है, उसकी धारणा 'एबस्ट्रैक्ट' है, इसलिए कोई यह पूछने नहीं आएगा कि आपने मुझ पर क्यों कुछ कहा। इस सुरक्षा कवच पर अपने को 'आम आदमी' के प्रतिनिधि के रूप में, अपनी ही पार्टी के भुजबल-धनबल पर प्रतिष्ठित करने वाले 'तारनहारों' के युग में सब कुछ नैतिक बन जाता है। संदेह यह है कि हम इस सच्चाई को क्यों नहीं स्वीकार करते हैं कि चैनलों के माध्यम से हम यही संदेश फैलाते हैं। एक बार के विधान सभा चुनाव में तमिलनाडु की मुख्य पार्टी ने यह वादा किया था कि जीत होने पर वे हर परिवार को टीवी देंगे। सच्चाई यह भी है कि भ्रूणहत्या और लड़की ट्रेफिकिंग में यह राज्य भारत में सबसे आगे है। वहाँ के नवयुवक रोजगार की तलाश में पड़ोसी राज्यों में घूम रहे हैं और बराबर श्रम-शोषण के शिकार होते हैं। नैतिकता के ढोंग और 'वैचारिक विप्लव' की भाषणबाजी से मनुष्य के पेट व देह की भूख मिटनेवाली नहीं, उसकी तो सस्ते वेतन पर ही सही, पेट भरने के रोजगार और राखी सावंत के सनसनीखेज दृश्यों में ज्यादा 'रुचि' है। यह युग दर्शन से बढ़कर सेक्स बिकने वाला युग है। आम आदमी के लिए जीवन-दर्शन प्रमुख नहीं रहा। दिन भर काम करने के बाद भी उसकी तसल्ली भिन्न-भिन्न सामाजिक कारणों पर जब नष्ट-सी हो जाती है, तो वह पेट भरने के बाद 'सेक्स' रूपी दैहिक प्राथमिकता

के पीछे जाता है। गोयनका अवार्ड वितरण के प्रसंग में खबरों की सनसनी प्रचारित करने पर खूब आलोचना हुई तो हिंदी के एक पत्रकार ने उठकर अपनी लाचारी व्यक्त की। उनके अनुसार यदि वह मसाला नहीं डालेगा, तो रेटिंग कम हो जाएगी, हो सकता है कि इस वजह से उसका रोजगार तक बंद हो जाए, कोई यह चाहेगा नहीं। इस सच्चाई को समझ लेने के विपरीत हम उर्वशी के 'कृत्रिम मनोविज्ञान' को उपेक्षित करते रहें तो हम पीछे रह जाएँगे। चुनावों में जिस तरह जनप्रिय गानों की अनुकरणात्मक पैरोडी का इस्तेमाल होता है, उसी तरह अब भगवान के मंदिरों में भी अनुकरण संगीत उपयुक्त होता है। जनप्रियता के मायनों पर हमें देखना चाहिए। इस दृष्टि से उर्वशी को भी पढ़ें और यह देखें कि उसमें क्या-क्या नई बातें हैं। जीवन यौनिकता भर नहीं है, पर वह वैचारिकता या आध्यात्मिकता भी नहीं है। हमारे जीवन का कार्यान्वयन, अनोखे वितरण में इन सबका समन्वित रूप है।

उर्वशी का अगला सवाल यह है कि रचनात्मक दृष्टि में वह मातृत्व को कैसे देखती है। भले ही संस्कृति में प्रचलित मातृत्व का निर्वहन उर्वशी नहीं करती, प्रकृति का एक विकल्प वहाँ पर उपलब्ध होता है कि दूसरी स्त्री मातृत्व की खाद देती है। संस्कृति पर प्रकृति की जीत के एक और संदर्भ के रूप में इसे व्याख्यायित किया जा सकता है। इको-फेमिनिज्म में मातृत्व के सार्वजनिक स्वरूप का बयान है। उस दृष्टि से अनाथता बच्चों की नहीं होती। उसमें प्रकृति सभी प्राणियों की माता है या प्रकृति में स्वतः अपनी संतानों को देखने की क्षमता है। जननी से अलग होने पर भी बच्चा माता की ममता से वंचित नहीं होता। 'आयु' के कथनों के आधार पर इसकी पुष्टि संभव है। बुर्जुवा समाज में प्रजनन को किराए पर लिया जाता है और प्रजनन के नाम पर औरतों की आजादी रोकी जा रही है तो प्रतिरोध का यह मार्ग बताया जाता है कि स्त्रियों का अंतरंग समान है, इस तरह एक के अभाव में दूसरी अपनी सहेली का काम कर सकती है। 'लेस्बियन कांतिनुअम' में भी औरतों की भीतरी एकात्मकता को पुष्टि मिलती है। यह भी बताया जाता है कि औरत से औरत का आकर्षण इस दुनिया की सच्चाई है, उसमें दैहिक आकर्षण या देह-व्यापार की तुलना में मानसिक एकजुटता प्रमुख है। इसके सदुपयोग में उर्वशी खुद की आजादी अपनी इच्छानुसार तय करती है और साथ ही अपने पुत्र को सुकन्या को सौंपकर उसका ठीक-ठाक भविष्य तय करती है। वह

चाहती है कि उस पर थोपा गया 'वेश्यात्व' सामाजिक दृष्टि में अपने पुत्र पर हावी न हो। प्रकृति का अंग होने के कारण उर्वशी की संवेदनाओं को प्रकृति सँजोती है, बाँटती है। वह प्रकृति और संस्कृति के द्वैत को मानती ही नहीं, उसके लिए मात्र प्रकृति यथार्थपूर्ण है, आनंदमयी है (उर्वशी कहती है: मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में, सचमुच द्वैत नहीं है)। प्रकृति के सभी गुणों पर उसका बखान है। प्रजनन के बाद जब वह अपने पुत्र को संस्कृति में छोड़ देती है, तब आयु का जीवन प्रकृति से संस्कृति में स्थानान्तरित किया जाता है। कानन में जन्म लेने पर भी 'राजा के पुत्र' या 'विशेष शिशु' होने के कारण यही संभव रास्ता था। इस तरह बुर्जुवा समाज की भावी पीढ़ी पर भी उर्वशी के अपने विशेष दर्शन हैं। क्योंकि उसमें वेश्या के बच्चे के संरक्षण के लिए न राजा कुछ करता है, न समाज। सत्तावर्ग के अधिनिर्णयों पर इस तरह वह लगाम देती है ताकि औरत के साथ उसकी यौनिकता और मातृत्व को लेकर उनकी पूर्व-परिभाषा गलत निकले और उससे संभाव्य विकल्प सामने आएँ। इस तरह यौनिकता और मातृत्व को लेकर प्रवर्तित बुर्जुवा मानसिकता के विरोध में उर्वशी का कार्य है तो इसमें वामपंथ के लोग क्यों बौखलाते हैं? इस कदर एक 'प्रगतिवादी उदाहरण' जोड़ दूँ कि गोदान में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें झुनिया की छाती से दूध नहीं आता, बच्चा मरने जा रहा है तब चुहिया उसे दूध पिलाती है और ममता की रक्षा में बच्चा बच जाता है। वहाँ हमने यह नहीं पूछा कि वैज्ञानिक दृष्टि से बूढ़ी औरत के स्तन से दूध नहीं निकलता! इसी की कड़ी के रूप में आयु की परवरिश को देखा जाय तो वह प्रजनन की प्रक्रिया में स्त्री और प्रकृति के संबंधों की व्याख्या पेश कर देगा। इस प्रसंग में यह सामाजिक तथ्य भी सामने आता है कि पुरुष की अपेक्षा ऐसे प्रसंगों पर स्त्री की सहायता पहुँचाने वाली स्त्री होती है। परवर्ती नारीवादी सैद्धान्तिकी ने इसका विश्लेषण इस तरह किया कि यह स्त्री-पुरुष दांपत्य की सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिरोध में युग-युगों से विद्यमान प्रकृति सिद्ध व्यतिरेकी प्रयास है। इसे वे सामाजिक जीवन और यौनिक व्यवस्था दोनों की दृष्टि से विश्लेषित करती हैं। इन सबसे उर्वशी की प्रकृति-पुत्री होने की बात साबित हो जाती है। यह सही है कि उसकी छवि में अप्सरा की झाकियाँ हैं, पर यह भी महत्वपूर्ण है कि दिनकर ने उसे किस आधार पर संबोधित किया है। सारे टाट-बाट और तथाकथित समृद्धियों के बावजूद हमारे समाज में गणिकाओं के 'अन्य' रहने

की बात भी वे छुपाते नहीं है।

मातृत्व के साथ जुड़ी हुई संकल्पना है- पितृत्व। लेकिन पुरुष के इस सामाजिक दायित्व पर न इतिहास कुछ कहेगा, न पुराण। उनमें पितृत्व एक चिह्न मात्र है, जो कि परंपरा-निर्वाह के लिए प्रयुक्त है। पुत्र मात्र 'उनका' होने के कारण यशस्वी और सर्वगुण संपन्न होगा (पुरूरवा का अभिमान: उरुदण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल, प्रलंब भुजाएँ) और पूरे विश्व में पिता का नाम रौशन करेगा। पुरूरवा भी इसी की कड़ी है। उसमें न कुछ नए ढंग से सोचने की क्षमता है, न गढ़ने की, न ही कुछ भी अस्थिर करने की हिम्मत। इसलिए वह लोगों की आलोचना से अधिक डरता है जैसे राम सीता के प्रसंग को लेकर करते हैं। सामाजिकता के बने-बनाए रास्ते से हटकर वह कुछ नहीं करते। पुरूरवा संस्कृति से डरता है व उसकी स्थिति हमेशा यह है कि वह संस्कृति की छाया में रहे (उर्वशी की टिप्पणी : तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर)। पुत्र को पाने पर, पहले वह अपने पुंसत्व पर इतराता हुआ 'अंबर' को ललकारना नहीं भूलता (लाओ मेरा धनुष, यहीं से बाण साध अम्बर में / अभी देवताओं के वन में आग लगा देता हूँ)। मगर शीघ्र ही संस्कृति के बताए गए 'संन्यास के भारमुक्त मार्ग' पर आगे बढ़ता है। हमारे समाज में विवाह के बाद, चाहे वह राजोचित गंधर्व-विवाह ही क्यों न हो, युवती अगर गर्भवती नहीं होती है तो उसका पूरा दायित्व स्त्री पर ही होता है। वह अपने-आप अपराध-बोध से जूझेगी, अपनी देह को द्वेष से देखेगी। यह परंपरागत बात ही नहीं बल्कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। यदि वह माता बन जाती है तो उसके साथ स्वतः बच्चे की परवरिश, खाना-खिलाना, शिक्षा-दीक्षा आदि अन्तर्निहित दायित्व स्वयं समा जाते हैं। वह इन सबको मना नहीं कर सकती। उर्वशी का खेल यहाँ भी स्पष्ट है। जूलिएट मिशेल ने इसी प्रसंग में पुंसाधिपत्य के नारी-नियंत्रण के चार औजारों को रेखांकित किया है- निर्माण, प्रजनन, सामाजिक आजादी और यौनिकता। भारतीय परंपरा में दाम्पत्य को सुरक्षित रखने का एक मार्ग बच्चा पैदा करना भी बताया जाता है, इसलिए औरतों को यह उपदेश दिया जाता है कि वे जल्दी ही बच्चा पैदा करके संबंध को घनिष्ठ बनाएँ।

स्वतंत्रता की साठवीं वर्षगाँठ पर वामपंथ के क्रान्तिकारी नेताओं की जीवनी पर केन्द्रित रचनाएँ व फिल्में निकली हैं। उन्हीं के साथ उभरने वाली

आलोचना-प्रत्यालोचना में यह प्रश्न बराबर पूछा जाता है कि इनकी पत्नियों-प्रेमिकाओं पर पुस्तकें क्यों नहीं लिखी जा रही हैं? कई नेताओं के एकाधिक प्रेम-संबंध हैं और उनकी संतानें भी। उनके महान सामाजिक व प्रशासनिक कार्यों के बीच दबती-घुटती 'नालायक' संतानों की कराह चैनलों पर गूँजने के समय हम सोचने के लिए मजबूर होते हैं। नेता हों या राजा, उनके बहुचर्चित सामाजिक हस्तक्षेप और इतिहास-निर्माण में प्रेम और संतान-प्राप्ति का 'सार्वभौमिक इतिहास' दब जाता है तो इसका जिम्मेदार कौन है?

'उर्वशी' का अगला सवाल है- स्त्री की देह की परिभाषा कौन करता है, सौंदर्य की परिभाषा कौन करता है? आज भी इन प्रश्नों का उत्तर उसी के समान है जो सालों पहले विद्यमान था। पुरुष की परिभाषा में विश्वसुंदरी के कीर्तिमान सत्तर के दशक से 'पहली दुनिया' में जोर पकड़े हुए हैं। इससे संबंधित वर्चस्ववादी मिथक अब भी उसी पैमाने पर प्रचलित है, प्रवर्तित है। विनिर्मित सौंदर्य और देह-भंगिमा पर लट्टू होकर तारिकाएँ अपने अवयवों की शल्यक्रिया में जुटी हुई हैं। इस कृत्रिमता को लेकर हमें कोई एतराज नहीं है। परोक्ष सच यह भी है कि जिस देह को गठित किया जा सकता है, उसे 'वस्तु' ही बताना चाहिए। शारीरिक संरचना और देहभाषा को जिस समाज में गठित किया जाता है, वहाँ उर्वशी की आधुनिक नारी को अपनी यौनिकता और व्यवहार को लेकर शर्मिन्दा रहने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह उर्वशी की 'डिविनिटी' के कारण नहीं, इस संसार और सांसारिकता से प्रयाण के कारण उपलब्ध हुआ है। इस पर प्रश्न करने वाले यह भूल जाते हैं कि वही पत्थर मार सकता है जिसने पाप नहीं किया हो। याद होगा कि इस राजनीतिक मंत्र के दुहराने से बिल क्लिंटन भी यौनिक अपराध के आरोप में राष्ट्रपति के पद से 'इंपीचमेन्ट मोशन' से बच गए थे। इस तरह उर्वशी की यौनिकता का खुला बयान पुरुष परिभाषा के विरोध में प्रस्तुत होता है।

तीसरी दुनिया के राष्ट्रों से अवयस्क बालिकाओं के अन्तरराष्ट्रीय ट्रैफिकिंग के इस दौर में पुरूरवा के बुर्जुवास का यह ललकार सामान्य लगता है कि वह स्वर्ग में जाकर उसे परास्त कर, उर्वशी नामक विश्वसुंदरी को ले आएगा। पराजित करने की राजकीय क्षमता हमारे इतिहास के पुंस्त्व का बुनियादी लक्षण है। रणक्षेत्र में औरतों का 'वस्तुकरण' आज भी सामान्य है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। पितृसत्तात्मकता को बनाए रखने के लिए यह आज भी उपयुक्त

है। बलात्कार के बाद संपन्न होने वाली शादी के ड्रामा को सामाजिक स्वीकृति मिलने के पीछे यही वर्चस्ववादी-सांस्कृतिक पूर्वधारणा छुपी रहती है। अक्सर हम यह भूल जाते हैं कि समाज में स्त्री की अस्मिता की बहुस्वरता भी विद्यमान है। उर्वशी के प्रसंग में उनके दो अलग-अलग विश्वों के बीच में पलने की खासियत को भी अभिहित करना होगा। आधुनिकता के समय में औपनिवेशिक स्त्रीत्व-मानक के प्रचलन के कारण उर्वशी की नायिका में 'स्वप्न के मणिकुट्टिम सौंदर्य' के साथ 'दिमाग' भी है :

तुम मेरे बहुरँगों स्वप्न की मणिकुट्टिम प्रतिमा हो,
नहीं मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही,
पर, गति की भंगिमा-लहर से, स्वर से किलकिंचित से,
और गूढ़ दर्शन-चिंतन से भरी उक्तियों से भी।

वेगमयी दुनिया के वर्ग-वर्ण संस्करण के परिप्रेक्ष्य में इसकी चर्चा संभव है। लगता है उर्वशी का स्त्रीत्व उसके 'भूत, भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम बाधा से मुक्त होकर' (मैं भूत, भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुद्र, मैं विश्वप्रिया...) हमसे इस चर्चा की अपेक्षा रखता है।

आधुनिकता के समय में उभर आई स्त्री-पुरुष संबंधों की व्याख्या के साथ-साथ स्त्री व पुरुष की अलग-अलग जीवन-दृष्टि होने के मनोवैज्ञानिक सच को भी 'उर्वशी' सामने रखती है। उर्वशी साथी को लेकर अपने आकर्षण को कुबूल करके यौनिकता का चयन करनेवाली स्त्री है। पर इस संसार में उसकी भी बंदिशें हैं, आजादी की सीमाएँ हैं। 'स्ववेश्या' के इस उदाहरण को पृथ्वी के उदाहरणों से मिलाएँ तो इसकी समकालीन व्याख्या बेहतर निकल सकती है। मलयालम में प्रकाशित 'एक यौनिक मजदूरनी-नलिनी जमीला की आत्मकथा' को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यौनिक मजदूरनी किन संदर्भों में समाज के अधिकाधिक पुरुषों के लिए तसल्ली देने वाली 'आया' बन जाती है, इस प्रकार अपने क्लाइंट (ग्राहक) के 'परिवार' को सँभालने का सामाजिक देय पूरा करती है, इसका प्रतिपादन इस किताब में है। हम उनसे सहमत हों या नहीं, नलिनी जमीला साफ बताती है कि 'उसकी यही सच्चाई है'। वह तीस साल के अपने कार्य के अनुभवों के आधार पर यह सिद्ध कर देती है कि प्रेम को स्त्री के पक्ष में देखने की पद्धति हमारे समाज में है ही नहीं। कम से कम उसे लोकतांत्रिक स्वरूप

में देखने की रीति होती तो उर्वशी में मूल्यों की टकराहट नहीं होती। वह पुरुषों को भी नए सिरे से देखने-परखने का दम पैदा करती है।

साथ ही राजा, गृहस्थ आदि पुरुष की भूमिकाओं की चिंता 'उर्वशी' के अंतर्गत है। ये मुद्दे इस रचना के प्रासंगिक पहलू हैं जिनसे हमने मुँह मोड़कर उसे 'कामाध्यात्म' के परिसर में डाल दिया। प्रेम को 'अभिसार' या 'जारगमन' की परिभाषा में परिणत करना शत-प्रतिशत स्त्री-विरोधी रवैया था। इसके अनुकूल स्त्री यौनिकता का प्रतिपादन भी होता रहा। पर परवर्ती अध्ययनों में इसको प्रकृति शोषण का विक्टोरियन तरीका माना जाता है। इसमें औपनिवेशिक शक्तियाँ प्रजा संरक्षण की आड़ में उपनिवेश की स्त्रियों पर निगरानी रखेंगी और उसके सामाजिक संपर्क को नियंत्रित करेंगी। अफ्रीकी राज्यों में यह 'रेशियल मिक्सिंग' को रोकने का वर्चस्ववादी तरीका है। सत्ता और प्रशासन के माध्यमों से यह प्रचार किया जाता है कि स्त्री अपनी यौनता को मत दिखाएँ, यह शुचिता से युक्त स्त्रियों का लक्षण नहीं है। भारत में हिन्दू प्रचारकों के माध्यम से यह बात आज भी फैलायी जा रही है। उनके अनुसार स्त्रीत्व की परिभाषा शक्ति में नहीं, पवित्रता में है! क्योंकि उनके पास यह विवशता है कि 'कुलवनिता, परिणीता' के अभाव में कोई भी पुंस-यज्ञ पूरा नहीं होगा (निपुणिका का कथन : यज्ञ न होगा पूर्ण बिना कुलवनिता, परिणीता के)। पर राजपत्नी के सीमित दायरे में पलती हुई औशीनरी पुरुषत्व के इस अधूरे नाटक को समझती है। औशीनरी का वक्तव्य है :

*किंतु, बंध को तोड़ ज्वार नारी में जब जगता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है।
पुरुष चूमता हमें अर्द्ध-निद्रा में हमको पाकर,
पर, हो जाता विमुख प्रेम के जग में, हमें जगाकर।*

अपनी भीरुता व मौन पर खुद उसे शिकायत और शर्म आती है (औशीनरी कहती है : और हाय, तब भी मैं केवल त्रिया, भीरु नारी हूँ); फिर भी वह परंपरागत सामाजिक ढाँचे से ऊपर उठ नहीं पाती। दिनकर ने स्त्रीत्व की इस परंपरागत स्वरूप की स्थिति को सुकन्या के माध्यम से 'अति दुरन्त और दुस्सह' कहा है। उसे सांत्वना देने हेतु परंपरागत विनिर्मित कारणों को ही दुहराया है। पर अपने अनुभव के आधार पर औशीनरी उस पर व्यंग्य करती

है : नारी का स्वर्णिम भविष्य, जाने वह अभी कहाँ है! उर्वशी में स्टीरियोटाइप्ड राजा, राजपत्नी, महामात्य, ऋषिपत्नी आदि के उदाहरण हैं तो इन्हीं के पुराने मानकों पर सवाल करने वाली वेश्याएँ, सखियाँ, सेविकाएँ भी हैं। इन सबके समन्वय से ही उर्वशी की सच्चाई को देखना चाहिए। 'उर्वशी' की वेश्याएँ और सेविकाएँ अनपढ़ व 'अन्य' जरूर हैं; मगर अनुत्तर या अवाक् नहीं। जीवन, दर्शन, प्रेम, दांपत्य, राजत्व आदि सभी विषयों पर उनकी राय है, वे खुलकर इन्हें प्रकट भी करती हैं। पुरुरवा, महर्षि च्यवन, महामात्य, विश्वमना आदि वरेण्य पात्रों की तुलना में सहजन्त्या, रंभा, मेनका, चित्रलेखा, निपुणिका, मदनिका, अपाला आदि स्वतंत्र व भरोसेमंद रूप में बोलती हैं और इनकी आवाज में जीवन व जगत को जानने का आत्मविश्वास है। अपने चारों ओर के सभी विषयों पर इनके विचार हैं। इस तरह 'उर्वशी' पर 'वरेण्य' प्रेम की रचना होने का आरोप मिट सकता है। यौनिकता को लेकर भारत के मध्यवर्ग की कपटताओं के वाचन में और उनकी धारणाओं में सम्मिलित औपनिवेशी लीक को अभिहित करने में इस तरह 'उर्वशी' के विचार सहायक बन जाते हैं।

जनप्रिय संस्कृति में भाषा की भी अहमियत है, पर उसके साथ यह भी देखा जाता है कि विषय का प्रतिपादन किस दृष्टि से हुआ है। उर्वशी के आख्यान की एक महिमा यह भी है कि उसमें स्त्री पात्र अधिकाधिक बोलती हैं। यौनिकता हो या आध्यात्मिकता, स्त्री के बयानों का स्थान है। उसमें भी नौकरानियों व सखियों के संवादों का अहम स्थान है। अनेक पंक्तियाँ गद्ययुग के सुकुमार कथनों के अच्छे उदाहरण भी हैं। प्रचार-प्रसार के अनुरूप गद्य-भाषा का पद्यमय उपयोग 'उर्वशी' की लोकबद्धता का कारण बन गया है। खुली और प्रवाहमान भाषा में गाने की सुविधा है। खूबसूरत खड़ीबोली, काव्यपाठ की प्रवाहमयता व रेडियो प्रसारण की खूबियों ने इस रचना को जनता की रचना बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तो इसमें बौखलाने-असूया जताने की बातें स्वाभाविक ही बन जाती हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में बच्चन की रचनाओं के बाद जनता में खड़ीबोली काव्य-स्वरूप के प्रचार-प्रसार में दिनकर का योगदान प्रमुख है। प्रवाहमयता पर नजर डालने से यह तथ्य भी सामने आता है कि दिनकर उर्दू-काव्य से प्रभावित रहे थे (मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं कि दिनकर में हाली, चकबस्त और इकबाल की तेजस्विता और

ऐहिकता जगमगा उठती है)। रचना की प्रसिद्धि में भाषा की लोकरंजकता का तत्व आज भी महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए भारत की आजादी की साठवीं वर्षगाँठ पर किए गए सर्वेक्षण में यह पूछा गया कि भारत की जनता सबसे गौरवशाली फिल्म किसे मानती है? बुद्धिजीवी निर्णायकों ने 'पाथेर पांचाली' को बता दिया तो जनता ने वोट दिया 'मदर इंडिया' को। हो गया वर्डिक्ट। यह हमारी सच्चाई है कि जन-जन तक पहुँचने के लिए 'वैचारिकता' से बढ़ कर संवेदना के कार्यान्वयन और समन्वयात्मक मनोरंजन की जरूरत है।

'उर्वशी' की महानता के कारणों पर बोलते हुए हमें उस पर उत्पन्न 'वाद-विवादों' के ऐतिहासिक कारणों पर भी देखना चाहिए। वे विवाद समय, काल व जीवन के मानकों से व्युत्पन्न थे। इसे कालजयी रचना रखने के पीछे उन विवादों का बहुत बड़ा योगदान है। इसलिए उन्हें सकारात्मक मानना और कृति के साथ रखना मुनासिब लगता है। मध्ययुग की आजादी की परिकल्पना आधुनिक युग में आकर राजनीतिक तरीका बन गई है। मानें या नकारें, इस रचना की सच्चाइयाँ हमारे सामने हँसती हैं। प्रेम राजनीतिक कार्य है। यह देखना जरूरी है कि एक रचना के रूप में 'उर्वशी' किसको संबोधित करती है। रेडियो संप्रेषण के रूप में लिखे जाने से इसका उत्तर पहले ही साफ हो गया था। 'बहुजन' इसका लक्ष्य था। प्रेम के क्रान्तिकारी स्वरूप को जन-सामान्य की भाषा में प्रयुक्त करने के कारण 'उर्वशी' में भी दिनकर का कवित्व क्रान्तिकारी बन जाता है। वे हमें इसकी याद दिलाते रहते हैं कि आबोहवा के भिन्न होने पर प्रकृति नहीं मिटती। समय के आने पर, वह अपनी तीव्रता अलग-अलग ढंग से ही सही, दिखाती जरूर है।

जागरण गान है मेरा!

दीपक प्रकाश त्यागी

दिनकर जिस दौर के शब्द की दुनिया में आए उस समय हिन्दी कविता में जहाँ एक ओर छायावादी काव्यान्दोलन चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था और प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी जी की विशिष्ट पहचान साहित्य की प्रत्येक दिशा में चिर-परिचित हो गयी थी, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रवाद का विद्रोही स्वर माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान, राम नरेश त्रिपाठी, सोहन लाल द्विवेदी के माध्यम से हिन्दी क्षेत्र में फैल रहा था। एक ओर साम्राज्यवादी और फासिस्टिक नाजीवाद के विरुद्ध संग्राम का माहौल था तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद एवं जन-जागरण का स्वर भी था एवं नौकरी में बने रहने की विवशता भी थी। उनके ऊपर एक ओर घर की दरिद्रता की छाया थी तो दूसरी ओर क्रान्तिधर्मा मन भी था जो कर्तव्यबोध से भरा था। एक तरह से उनके व्यक्तित्व में एक द्वन्द्व दिखाई देता है जो कभी कोमल-कमनीय अनुभूतियों के गार की ओर ले जाता है, तो दूसरी तरफ समाज में व्याप्त शोषण, अत्याचार, आर्थिक विसंगतियों की क्रूरता के चित्रण की ओर। दर्शन के स्तर पर वे इकबाल, जोश, नज़रूल इस्लाम से प्रभावित हैं तो विवेकानन्द एवं तिलक से भी और रवीन्द्रनाथ टैगोर से भी। ऐसे दौर में दिनकर इन दोनों धाराओं के मध्य अपनी जातीय पहचान के साथ उपस्थित होते हैं, उस जातीय पहचान के साथ जो बिहार ही नहीं हिन्दी भाषा क्षेत्र की निर्मम सच्चाई है। उनमें एक ओर रसवंती की सरस-मधुर भाव बोध है तो दूसरी ओर रेणुका, हुंकार, प्रणभंग की थरथरा देने वाली बेचैन कर देने वाली आवाज़ भी है जो जितनी सम्प्रेषणीय है उतनी ही लोकप्रिय भी और यही दिनकर जी की ताकत भी है। महादेवी जी जब लिख रही थीं कि-मैं नीर भरी दुख की बदली परिचय मेरा इतिहास यही,

उमड़ी थी कल मिट आज चली। तो अपने साहित्य के देश-काल का परिचय दे रही थी, किन्तु इसी समय दिनकर ने अपना जो परिचय दिया वह दिनकर के देश-काल बोध की दिशाओं को समझने के लिए पर्याप्त है—

सुनूँ क्या सिंधु! मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयं युगधर्म की हुंकार हूँ मैं
कठिन निर्घोष हूँ, भीषण अशनि का
प्रलय गांडीव की टंकार हूँ मैं!

कृष्णदत्त पालीवाल ने दिनकर पर बहुत अच्छी टिप्पणी की है, जिसे उन आलोचकों को अवश्य पढ़ना चाहिए जो अपने सिर पर रखे वादों के धूल में ही लौटने को आलोचना की संस्कृति मानते हैं— ‘दिनकर के ‘पाठ’ का किसी भी तरह से तोड़-मरोड़कर कुपाठ कीजिए, रचना-सहचर को आप इस ध्वन्यर्थ की महिमा से वंचित नहीं कर सकते हैं कि वे देशभक्ति भाव से भरे उत्सर्ग भाव के आकाश धर्मा रचनाकार हैं। उनमें भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी की परम्परा का रक्त बोलता है।’ (इसी अंक के लेख से)। विजयदेव नारायण साही ने इसीलिए ‘लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस’ लेख में दिनकर को जवानी का कवि माना है, क्योंकि दिनकर उस धारा के कवि हैं जो देश प्रेम के लिए, स्वाधीनता के लिए अंगारों पर भी चलने की शक्ति रखता है। साही का कथन है, ‘बच्चन, दिनकर, भगवती चरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि सभी एक खास अर्थ में जवानी के कवि हैं। यह एक विशिष्ट सी बात है। जवान तो अपने समय में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पंत सभी रहे होंगे और मेरा अनुमान है कि मैथिलीशरण गुप्त भी— लेकिन इनमें से कोई भी खास अर्थ में जवानी का कवि कभी नहीं रहा। इस अर्थ में यूरोपीय रोमांटिसिज्म भी खास तौर पर जवानी का काव्य बनकर नहीं आया। यह सही है कि हिन्दुस्तान एक क्रान्ति की अवस्था से गुजर रहा था और देशभर में गाँधीवाद, मार्क्सवाद का द्वन्द्व भी चल रहा था। लेकिन खुद मार्क्स के लेखन में विशेषतः जवानी की क्रान्ति से कोई रिश्ता हो, ऐसा नहीं लगता। (छठवाँ दशक, पृष्ठ 299)।

यह सही है कि दिनकर के यहाँ तनाव भी है द्वन्द्व है और यह भी सही है कि यह द्वन्द्व एवं तनाव ही उन्हें अपने समय एवं समाज की विषमता को देखने की शक्ति देता है। उनमें जहाँ एक ओर तिलक का आक्रोश दिखाई देता

है तो गाँधी की चेतना भी, किन्तु हैं वे पूरी तरह अपने समय के साथ। उनके यहाँ समय का सच बोलता है जो कभी हिमालय, परशुराम की प्रतीक्षा जैसा काव्य लिखवाता है तो दिल्ली जैसी कविता भी और कलिंग विजय भी, संस्कृति के चार अध्याय जैसा ग्रन्थ भी जो भारतीय सभ्यता की पहचान को बहुत नजदीक से रेखांकित करता है, किन्तु इन सबके मूल में है— देश प्रेम, देश भक्ति। कृष्णदत्त पालीवाल जी ने लिखा है कि देशभक्ति दिनकर के लिए न कोरी भावुकता है, न कोरा आवेग, न कोरा काव्यालंकार। सच्चे अर्थों में वह उनकी काव्यानुभूति का केन्द्रीय सिद्धान्त है।’ (इसी अंक के लेख से)। ऐसे में उन लोगों पर तरस आता है जो दिनकर के राष्ट्रवाद में अराजकता देखते हैं। खगेन्द्र ठाकुर ने इधर दिनकर पर तद्भव में एक लेख लिखा है, जिसमें उनका कथन है कि— ‘उग्र राष्ट्रवाद में एक प्रकार की अराजकता होती है, जो किसी प्रकार के विधान को मानकर नहीं चलती। दिनकर कविता में कहते हैं—पूछेगा बूढ़ा विधाता तो मैं कहुँगा/ हाँ तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया। सृष्टि को मिटाने की बात तो है लेकिन उसका कोई विकल्प रचने की बात दिनकर की कविताओं में नहीं मिलती। वे मनुष्य के शोषण उत्पीड़न से दुःखी हैं, इस अन्याय के खिलाफ जोर से बोलते हैं, लेकिन अन्याय का दृश्य चित्रण यानी सन्दर्भ नहीं के बराबर मिलता है और अन्याय के खिलाफ संघर्ष में जनता की भूमिका तो इन कविताओं में कहीं नहीं है।’ ऐसे लोगों को दिनकर जी के कुरुक्षेत्र की उन पंक्तियों को पढ़ना चाहिए,

श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान
स्नेह सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण

दिनकर के उग्र राष्ट्रवाद में अराजकता देखने वाले आलोचकों का लोकतंत्र नहीं है, आलोचना की सामाजिकता भी नहीं है, विवेक के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। याद करें भक्ति आन्दोलन एवं कबीर को। कबीर के आक्रोश में भी कुछ श्रेष्ठतावादी, वर्णवाद के दंभी अराजकता देख रहे थे। कबीर ने भी ‘घर जलाने’ की बात की थी, दिनकर ने भी ‘सृष्टि मिटाने’ की बात की है, किन्तु उस सृष्टि को जो अत्याचार, अनाचार, असमानता, जातिगत-धर्मगत विभेद की सृष्टि है, उस सृष्टि को जो साम्राज्यवाद के गर्भ से पैदा हुई है, उपनिवेशवाद की शक्ति से संचालित है। दिनकर जी जिस समाज का निर्माण चाहते हैं, उसकी रूपरेखा भी प्रस्तुत करते हैं, उनकी कविताएँ इसका प्रमाण हैं—

शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।
वैषम्य घोर जब तक यह शेष रहेगा
दुर्बल का दुर्बल ही यह देश रहेगा।

दिनकर न्याय एवं समता जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित सृष्टि रचना चाहते।

धर्म का दीप, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान

इसीलिए वे उपनिवेशवाद एवं सामंतवाद की कारा को तोड़ना चाहते हैं। वे साम्राज्यवादी शक्ति की क्रूर मानसिकता को अच्छी तरह पहचानते थे। 'दिल्ली' एवं 'हाहाकार' जैसी कविता इसका प्रमाण है—

तू न ऐठ मदमाती दिल्ली
मत फिर यों इतराती दिल्ली।
वैभव की दीवानी दिल्ली
कृषक मेघ की रानी दिल्ली
अनाचार, अपमान व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली।

विजेन्द्र नारायण सिंह ने यह सही रेखांकित किया है कि 'दिल्ली' भारत की पराधीनता और विवशता की कविता है। उपनिवेशवाद का सबसे पीड़ादायक पक्ष होता है— देश के स्वाभिमान और अस्मिता का अंत। हिमालय इसी अस्मिता के तलाश की कविता है। बाजारवाद के दौर में जब संस्कृतियाँ अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं, तब 'अस्मिता' का तत्त्व ही मनुष्य को बचा सकता है, उसकी संस्कृति को बचा सकता है। कवि को हिमालय में जातीय स्वाभिमान और अस्मिता का प्रतिरूप दिखाई देता है—

तू मौन त्याग कर सिंहनाद
रे तपी, आज तप का न काल
नवयुग-शंख-ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी शक्तियों से वे स्वतंत्रता के पहले भी लड़ रहे थे और स्वतंत्रता के बाद भी। स्वराज्य का स्वागत तो करते हैं, किन्तु आगे में बहकते नहीं हैं, बल्कि उसकी उपलब्धियों की भी समीक्षा करते हैं।

दिनकर के कवि व्यक्तित्व के निर्माण में बिहार ही नहीं पूर्वी भारत के गाँवों की पृष्ठभूमि भी है, जहाँ गरीबी, अशिक्षा, भूख के साथ-साथ शोषण का अंतहीन चक्र भी है। वे भारत की सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों को भी देख रहे थे, जहाँ एक ओर मठों में ऐसे अकर्मण्य लोगों की जमात है जो मुफ्त की मलाई काट रही है, तो दूसरी ओर मिट्टी में जीवन खोजते किसान एवं श्रमिक हैं। दिनकर किसान एवं श्रमिक के पक्ष में खड़े हैं, बिना किसी अतिरंजित नारे के साथ,

देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे, खेतों में, खलिहानों में।

दिल्ली में रहते हुए भी दिनकर जी गाँव के साथ है और उनके मन में भी गाँव की ही समस्या है— तभी तो वे 'भारत का रेशमी नगर' कविता में लिखते हैं—

चल रहे ग्राम कुंजों में पछुआ के झकोर
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।

आज भी भारतीय किसानों की दशा में सुधार नहीं है। सिंगूर जैसी स्थितियाँ तो हैं ही किसानों की आत्महत्याएं भी हैं, जो आजाद भारत के विकास की कहानी कहने के लिए काफी हैं।

दिनकर की स्वाधीनता केवल राजनैतिक नहीं है, बल्कि वह सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक भी है। दिनकर जी के यहाँ राष्ट्रवाद न तो पश्चिमी पागलपन का नस्लवाद है और न घृणा एवं आतंक पर केन्द्रित राष्ट्रवाद है। वह पराधीन भारत में साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद के शोषण का क्रूर यथार्थ है, जो एक ओर अंग्रेजी उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद के प्रति उस आक्रोश एवं हुंकार से उपजा है तो दूसरी ओर उसमें सामंतवादी देशी सत्ता के प्रति विद्रोह के तत्त्व भी हैं।

तड़प रहा आँखों के आगे भूखा हिन्दुस्तान।
फूलों की रंगीन लहर पर ओ इतराने वाले।
ओ रेशमी नगर के वासी! ओ छवि के मतवाले।

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

सकल देश में हालाहाल है, दिल्ली में हाला है,
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में आँधियाला है।

इसीलिए दिनकर जी ने निर्धनता का जो वर्णन किया है उसे पढ़कर प्रेमचन्द एवं रेणु की याद आती है। उन्होंने अपने राष्ट्रवाद को गरीब किसान, भूख से चीखते बच्चे की पीड़ा-त्रासदी तक पहुँचाया है। (खगेन्द्र जी ने कहा है कि केवल आवेग है)।

शिशु मचलेंगे, दूध देख, जननी उनको बहलाएगी
मैं फाड़ूँगी, लाज से आँख नहीं रो पाएगी।

उपनिवेशवाद के दौर में कृषकों के शोषण पर प्रेमचन्द ने भी लिखा है तो रेणु के यहाँ भी सामंतवाद की त्रासदी है, तो दिनकर जी के यहाँ भी—

मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है?

कहना न होगा कि दिनकर प्रगतिवादी आन्दोलन के अंग नहीं थे, किन्तु उनमें प्रगतिशील चेतना है, इसीलिए उनके राष्ट्रवाद में सामाजिक विषमता के लिए चिन्ता है। उनके लिए राष्ट्रीय होने का अर्थ सिर्फ देशभक्त होना नहीं है, बल्कि जनतांत्रिक होना भी है। उपनिवेश से राष्ट्र में बदलने के लिए बेचैन भारत का यथार्थ यह था—

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।

दिनकर ने आजादी को सिर्फ अंग्रेजों की विदाई के रूप में नहीं देखा, ठीक प्रेमचन्द्र की तरह, बल्कि एक ऐसे स्वाधीन देश की कल्पना की थी, जहाँ कोई किसी के पसीने पर अपना महल न बनाए। उन्होंने लिखा है 'जहाँ तक दासता, साम्राज्यवाद, शोषण और विषमता के विरोध का प्रश्न है, मैंने खुलकर इनके विरोध में भाग लिया और मैं उन सभी लोगों का प्रशंसक हूँ जो दासता, विषमता, साम्राज्यवाद और सामाजिक न्याय के बारे में लिखते हैं और अपने को प्रगतिवादी कहते हैं' दिनकर देश की जमीनी सच्चाइयों से भली-भाँति परिचित थे और उनके राष्ट्रवाद में उनके लिए भी जगह थी—

सकल देश में हालाहल है, दिल्ली में हाला है
दिल्ली में रोशनी, शेष भारत में आँधियाला है।

दिल्ली यह केवल शहर नहीं है, बल्कि वह सत्ता के वर्चस्व एवं बाजार

उपभोक्तावाद के वर्चस्व का प्रतीक है और दिनकर इससे सीधे-सीधे मुठभेड़ करने वाले कवि हैं जो राष्ट्रवाद को नया तेवर देता है। दिनकर का राष्ट्रवाद दरअसल मानवतावाद से होकर गुजरता है। इसीलिए वे 'विज्ञान और मनुष्य' के रिश्ते पर भी विचार करते हैं और यह मानते हैं कि वैज्ञानिक एवं भौतिक समृद्धि का मॉडल विकास का अधूरा मॉडल है। बुद्धि एवं हृदय का साहचर्य ही मनुष्य एवं मनुष्यता के लिए आवश्यक है—

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश।
किन्तु है, बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश,
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

बाजारवाद के सर्वग्रासी दौर में दिनकर की कविता का पाठ एक नई चेतना भर सकता है। मनुष्य का उद्देश्य प्रेम, सेवा आदि उदात्त भावनाओं द्वारा मानव मात्र से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है, क्योंकि इसी से लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास सम्भव है।

दिनकर का राष्ट्रवाद में दलित मुक्ति चेतना का भी स्वर है, रश्मि रथी इसका प्रमाण है। रश्मि रथी की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'यह युग दलितों और उपेक्षितों के उद्धार का युग है। अतः बहुत स्वाभाविक है राष्ट्र भारती के जागरूक कवियों का ध्यान उस चरित्र की ओर जाए, जो करोड़ों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बनकर खड़ा है।' रश्मि रथी का कर्ण अतीत के विरुद्ध वर्तमान की लड़ाई का काव्य नायक है। एक तरफ बड़ी ताकतें हैं, दूसरी तरफ अकेला कर्ण। वह पाण्डव और कौरव दोनों के बीच महान कहे जाने वालों के अत्याचारों से पीड़ित लघु मानव का ऐसा रूप था, जो अपने उदात्त जुझारू व्यक्तित्व की वजह से अंततः महानों के बीच महानतम हो गया। दिनकर जी के कर्ण की अंतर्पीड़या का मार्मिक चित्र सारी रूढ़ियों एवं जड़ताओं को तोड़ने की सामर्थ्य रखता है—

जाति-जाति रहते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदंड
मस्तक ऊँचा किए जाति का नाम लिये चलते हो

पर अर्धममय शोषण के बल से पतले हो
अधम जातियों से घर-घर कांपते तुम्हारे प्राण
छल से मांग लिया करते हो अंगूठे का दान।

यह कर्ण मनुष्यता और समाज की क्रूर शक्तियों को उद्घाटित करना चाहता है। वह उच्च आसन पर बैठे सांस्कृतिक प्रभुओं एवं मठाधीशों को चुनौती देते हुए मनुष्यता का सच्चा आदर्श रखता है, केवल आक्रोश नहीं व्यक्त करता। उसके सामने समूची मनुष्य जाति के आत्म गौरव का भाव है, इसीलिए वह सिर्फ दलित के नाम पर स्वयं की लड़ाई नहीं लड़ता, बल्कि सम्पूर्ण शोषित-पददलित मनुष्यता की लड़ाई लड़ना चाहता है।

जग में जो भी निर्दलित प्रताड़ित जन हैं
जो भी निहीन है, निर्दित हैं, निर्धन हैं,
यह कर्ण उन्हीं का सखा बंधु सहचर है
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

इस कर्ण के विरुद्ध पूरी सत्ता ही है। गुरु द्रोणचार्य हैं, पितामह भीष्म हैं, देवराज इंद्र हैं, माता कुन्ती हैं, तो 16 कलाओं के अवतार कृष्ण भी हैं, किन्तु वह पराजित नहीं होता। उस युद्धभूमि में भी जहाँ उसका तब वध किया जाता है, जब वह निहत्था है और कृष्ण के निर्देश पर। वह रश्मिरी में शोषित एवं छली जाने वाली मनुष्यता के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित है। शम्भुनाथ सिंह ने लिखा है कि कर्ण एक नई सामाजिक शक्ति के उदय का प्रतीक बनकर साबित कर देता है कि हुनर या गुणों पर केवल सवणों का अधिकार नहीं है। वह मनुष्य मात्र की गरिमा, स्वतंत्रता और समता के लिए चिंतित है। (प्रगतिशील वसुधा, अंक 77 पृष्ठ 77) ऐसा कर्ण ही राजसत्ता एवं धर्मसत्ता दोनों को चुनौती देने की सामर्थ्य रखता है। उसके अन्दर एक तेज है—

कर्ण भले ही सूत-पुत्र हो अथवा श्वपच चमार
मलिन मगर इसके आगे हैं सारे राजकुमार

सत्ता का चरित्र क्रान्ति कृष्ण के यहाँ दिखाई देता है, जो कर्ण को पाण्डवों के पक्ष में करना चाहते हैं और इसके लिए प्रलोभन भी देते हैं—

कुरू राज्य समर्पण करता हूँ, साम्राज्य समर्पण करता हूँ।
यश मुकुटमान सिंहासन ले, बस एक भीख मुझको दे दे।

कर्ण के यहाँ चेतना है—

मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब उसे तोल सकता है धन?
धरती की तो है क्या विसात? आ जाय अगर बैकुंठ हाथ
उसको भी न्योछावर कर दूँ, कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।
कृष्ण भी कर्ण से प्रभावित होते हैं—

तू कुरुपति का ही नहीं प्राण,
नरता का है भूषण महान

किन्तु अर्जुन के मोह में वे धर्म को छोड़कर छल से कर्ण को मारने के लिए अर्जुन को संकेत देते हैं और धर्म युद्ध छलयुद्ध बन जाता है, जो आज भी दलित एवं श्रमिक जातियाँ झेल रही हैं। कभी धर्मोन्माद में तो कभी क्षेत्रवाद में, कभी सामंतशाही की शान में—

शरों से वेधने तन को, वदन को
दिखाने वीरता निःशस्त्र जन को
खड़े निर्वाक सब जन देखते थे
अनोखे धर्म का रण देखते थे।

दिनकर उन कवियों की कड़ी में हैं, जिनके यहाँ राष्ट्रवाद की परियोजना मानवतावाद के साथ आगे बढ़ती है, इसीलिए जहाँ उसमें एक ओर राष्ट्रीय जागरण का विप्लवकारी स्वर है तो नये मनुष्य, नये समाज का निर्माण का भी और ऐसे समाज के निर्माण का जहाँ समता है, स्नेह, न्याय है, संवेदन का संसार है, स्थायी संसार है, तात्कालिक नहीं।

कुरुक्षेत्र का जीवन-दर्शन : रामधारी सिंह 'दिनकर' के लिए 1930 ई. का समय विशेष महत्वपूर्ण है। यहीं से साहित्य व संस्कृति के माध्यम से राष्ट्र निर्माण का स्वप्न मूर्त रूप लेता हुआ दिखाई देता है। साहित्य की दृष्टि से छायावाद की वृहद्त्रयी के प्रतिष्ठित होने का समय है और इस समय तक पंत का 'पल्लव' और 'वीणा', प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' और 'आँसू' तथा निराला की 'अनामिका' छप चुकी थी, जिसका संस्कार दिनकर में दिखाई देता है। राजनीतिक दृष्टि से इस समय तक आते-आते उपनिवेशवाद-सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष तीव्र से तीव्रतर हो रहा था और गांधी जी का नेतृत्व स्थापित हो चुका था। यहीं से दिनकर की काव्य-यात्रा में विद्रोह का भैरव हुंकार सुनाई देने लगता है। 1933 में 'नई दिल्ली' एवं 'हिमालय' नामक कविताओं के

माध्यम से उन्होंने साहित्य को स्वाधीनता के सिंहनाद का तेवर दे दिया था। इन्हें गांधी जी के सत्याग्रह ने जितना प्रभावित किया उससे कहीं अधिक चंद्रशेखर आजाद तथा भगत सिंह के क्रांतिकारी विचारों ने। हिमालय कविता में दिनकर का आक्रोश है-

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दो उनको स्वर्गधीर
पर फिरा हमें गाँडीव गदा, लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।

गांधीवाद से प्रभावित होकर 'कलिंग-विजय' लिखने वाला कवि 'कुरुक्षेत्र' में द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व की उन्माद भरी अराजक स्थितियों की चीड़-फाड़ करते हैं। साथ ही, उसके कारणों की खोज करते हुए शांति के लिए युद्ध के औचित्य पर विचार करते हैं। 'कुरुक्षेत्र' उनके उपनिवेश विरोधी तापमान को व्यक्त करने वाली कविता है, जिसकी पृष्ठभूमि 'नई दिल्ली', 'हाहाकार', 'अनल-किरीट', 'हिमालय', 'विपथगा' और 'जवानियाँ' जैसी उपनिवेशवाद विरोधी कविताओं से निर्मित होती है। डॉ. विजेंद्र नारायण सिंह ने लिखा है, 'कुरुक्षेत्र' उपनिवेशवाद के तहत कवि के आत्मसंघर्ष की काव्यात्मक परिणति है। सरकार ने उन्हें युद्ध प्रचार विभाग में पदस्थापित कर दिया था और उन्हें उस सरकार के युद्ध उपक्रम का समर्थन करना पड़ रहा था, जिस सरकार के विरोध में उन्होंने देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी थीं। उनके भीतर 1945 ई. तक पर्याप्त मनस्ताप भर गया था और आत्मग्लानि की बूंद-बूंद कविता के द्रव्य के रूप में बरसने लगी। उनका रचनात्मक मन अभिव्यक्ति के लिए कसमसा रहा था। उनका सर्जनात्मक मन धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व का, अपनी विवशता का प्रतिरूप 'महाभारत' के भीष्म में देखने लगता है और कुरुक्षेत्र का मिथक उनकी उपनिवेशवाद विरोधी चेतना में उभरने लगता है। 'दिनकर' का राष्ट्रवादी कवि व्यक्तित्व 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म में अपने ही व्यक्तित्व का प्रक्षेपण कर मनुष्यता के निर्माण का एक नया पथ सृजित करता है-

धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह, दूसरे, को दे दिया हृदय था
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का, डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था, जिसको मिला हृदय का।
उत्तर छायावादी काव्यान्दोलन में भगवतीचरण वर्मा, हरिवंश राय

बच्चन के बीच दिनकर महत्वपूर्ण हैं। दिनकर के विषय में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'कल्पना की ऊँची उड़ान, विषम परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की उमंग और सामाजिक चेतना की तीव्रता के कारण 'दिनकर' प्रथम दो कवियों से एकदम भिन्न श्रेणी के हैं। दिनकर की उमंग और मस्ती में सामाजिक मंगलाकांक्षा का प्राधान्य है।' कहना न होगा कि दिनकर की मंगलाकांक्षा का विराट रूप 'कुरुक्षेत्र' में मिलता है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का समय था, लेकिन जैसे स्वयं दिनकर ने स्पष्ट किया है, 'कुरुक्षेत्र में विश्वशांति की स्थापना की चिंता कम, अपने देश-वासियों की विचार-दिशा बदलने की भावना ज्यादा है। यह इस विचार से प्रेरित था कि 'अहिंसा अगर परम धर्म है, तो हिंसा को आपद धर्म मानना ही पड़ेगा।' हिंसा और अहिंसा, युद्ध और शांति का द्वंद्व इसमें महाभारत की कथा के सहारे व्यक्त किया गया है। भीष्म का यह प्रश्न दिनकर का भी प्रश्न है-

समर निन्द्य है धर्मराज, पर कहां, शांति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर बनी हुई सरला है?

युद्ध जिसमें हिंसा अनिवार्य है, तभी होता है जब अन्याय पर आधरित शांति, न्याय की मांग को अस्वीकार कर देती है-

शांति नहीं तब तक जब तक सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।

शांति, न्याय, समता की स्थापना के बहाने मनुष्य को उसकी मनुष्यता से जोड़ना 'कुरुक्षेत्र' के अनेक उद्देश्यों में से एक है। बुद्धि एवं हृदय के समन्वय का राग 'कामायनी' में भी है और 'दिनकर' में भी। ऐसा लगता है कि 'दिनकर' के समक्ष आज की पूरी मानवता का वर्तमान और भविष्य है।

'कुरुक्षेत्र' की कथा सात सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर के पश्चाताप और आत्मग्लानि की कथा वर्णित है। महाभारत समाप्त हो चुका है। इस भयानक युद्ध में असंख्य जनों का जो भयानक संहार हुआ था, उससे कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि, कर्मभूमि अभी तक रक्तारंजित है। एक ओर पांडवों का विजयोल्लास के वातावरण में हर्ष निनाद है, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर का पश्चाताप एवं आत्मग्लानि में डूबा मन द्वंद्वग्रस्त है कि वह महासमर क्यों हुआ? और उसका परिणाम क्या हुआ? इन दो प्रश्नों से टकराते हुए आत्म मूल्यांकन में डूबे हुए हैं। उनकी दृष्टि में पांडवों की असहिष्णुता, स्वार्थपूर्ति कामना और

द्रौपदी की प्रतिज्ञा ने इस नरसंहार को जन्म दिया, फिर भी शांति नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में पथ प्रदर्शन के लिए वे भीष्म के पास जाते हैं।

दूसरे सर्ग में व्यथित युधिष्ठिर बाणों की शय्या पर लेटे भीष्म के समक्ष आते हैं। उनका मन चीत्कार उठता है कि इस महान विजय के उपरांत भी वे अपने को पराजित महसूस करते हैं। यदि मैं जानता कि महाभारत के युद्ध का इतना भयानक रूप होगा, तो कभी भी युद्ध के लिए तत्पर नहीं होता और अपने भाइयों को लेकर युद्ध की सीमा से दूर निकल जाता किंतु मुझे भीम की गदा पर, अर्जुन के गांडीव धनुष पर और अपनी तलवार पर अभिमान था। इस अभिमान ने ही मुझे बेचैन कर अशांति के गहरे गर्त में गिरा दिया है। भीष्म, युधिष्ठिर की दुखद एवं त्रासद स्मृतियों, चिंताओं को दूर करने के लिए युद्ध की आवश्यकता के तार्किक, सांस्कृतिक, मूल्यधर्मी पक्षों की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं और यह व्यवस्था देते हैं कि तुम्हारा यह भ्रम है कि महाभारत पांडवों की असहिष्णुता का प्रतिफल है। हिंसा पाप है, पर जब इसके द्वारा स्वत्व की रक्षा की जाती है तो यह पुण्य है।

तीसरे सर्ग में भीष्म ने युधिष्ठिर की दो शंकाओं का समाधान किया है—युद्ध एवं शांति। युधिष्ठिर की धारणा है कि युद्ध होने के पीछे वे स्वयं जिम्मेदार हैं, जिससे समग्र देश की शांति नष्ट हो गयी। लेकिन भीष्म उनकी इस बात का खंडन करते हैं और समझाते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर, युद्ध तुम्हारे कारण नहीं हुआ बल्कि इसके पीछे धर्म एवं नीति की स्थापना है -

पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला?

या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला?

चतुर्थ सर्ग में दिनकर जी का प्रतिपाद्य है—महाभारत के आविर्भाव के कारण। इन कारणों का उन्होंने बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत विश्लेषण किया है। साथ ही इसमें हृदयवाद एवं मस्तिष्कवाद की समीक्षा भी है, जो कामायनी के इडा एवं श्रद्धा के द्वंद्व की याद दिलाता है। भीष्म की धारणा है कि महाभारत में जितने भी अनर्थ हुए, वे सब उनके अतिशय बुद्धिवाद से हुए—

बुद्धि शासिका थी जीवन की, अनुचर मात्र हृदय था,

मुझसे कुछ खुलकर कहने में, लगता उसको भय था।

इस सर्ग में भीष्म ने भी अपनी भूमिका का मूल्यांकन किया है।

इस पाँचवें सर्ग में गत युग का चित्रण है, जिसमें एक तरफ तो युद्ध की

भयावहता का कारण है, तो दूसरी तरफ युधिष्ठिर के शंकाकुल, व्यथित, द्वंद्वग्रस्त हृदय एवं मस्तिष्क का चित्रण है। अंत में दिनकर के आशावादी मन की कल्पना है कि 'कुरुक्षेत्र' का नरसंहार मानवता की इतिश्री नहीं, बल्कि यह मानवता के नवधर्म को प्रज्वलित करेगा—

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की, मानव ऊपर और चलेगा।

मनु का यह पुत्र निराश नहीं, नवधर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।

'कुरुक्षेत्र' का छठा सर्ग विचार प्रधान है, अन्य सर्गों की भाँति इस सर्ग में कोई कथा नहीं है, इसलिए स्वयं कवि के शब्दों में पूरा छठा सर्ग ऐसा क्षेपक है, जो इस काव्य से टूटकर अलग भी जा सकता है। इस सर्ग में दिनकर की मूल चिंता मनुष्य एवं उसकी मनुष्यता के विघटन व अवमूल्यन के कारणों की खोज करना है। यह मानवतावाद ही 'कुरुक्षेत्र' एवं इस सर्ग का मूल प्रतिपाद्य है, क्योंकि इसी से बंधुत्व एवं मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा। मनुष्य का हृदय संकुचित हो गया है, चारों तरफ अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार एवं भोगलिप्सा का युद्ध मचा हुआ है, इसलिए कवि छठे सर्ग के माध्यम से समाधान खोजना चाहता है और इसीलिए कवि की आकांक्षा है, उनकी चिंता भी—

धर्म का दीपक, दया का दीप

कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान?

इस पृथ्वी पर अनेक महापुरुष आए, उन्होंने अपने उपदेशों के माध्यम से मनुष्यता को ज्ञान की ज्योति का दर्शन कराया किंतु मनुष्य उन्हें अपने आचरण में नहीं उतार पाया, इसीलिए वह आज भी अन्याय और अत्याचार के कुत्सित अभियान में लगा है। आज भी वह हिंसा से ही प्रेम करता है उसका हृदय क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष से भरा हुआ है। मनुष्य भौतिक उपलब्धियों के चरम शिखर पर है, उसने संसार के गूढ़ रहस्यों को जान लिया है, प्रकृति के बहुत से रहस्यों को समझ लिया है। उसके चरणों के नीचे सम्पूर्ण धरती है तथा मुट्ठी में सम्पूर्ण आकाश बंद है, किंतु इन उपलब्धियों के बीच उसका हृदय प्रदेश शुष्क हो गया है चूँकि अब कोमल भावनाओं, स्नेह, बलिदान जैसे तत्व भी उसके भाव जगत् में नहीं आते, इसलिए मनुष्य का विकास एकांगी है। सम्पूर्ण विश्व वासना के पीछे पागल बना भटक रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के जीवन में मस्तिष्क एवं हृदय दोनों का समन्वय हो। इसी समन्वय

से मनुष्यता की दिव्य ज्योति का प्रकाश फैलेगा अतएव मनुष्य का श्रेय है-

श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु।

मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।

इसी से समता, न्याय पर आधारित नये मनुष्य समाज का निर्माण होगा, जहाँ किसी भी प्रकार का शोषण नहीं होगा; धर्म से अनुप्राणित मनुष्य का एक नया, पवित्र इतिहास बनेगा, जिसमें आनंद, उल्लास, संतोष जैसे तत्व सभी मनुष्यों के हृदय में भरे होंगे। मनुष्य एक-दूसरे के साथ परस्पर प्रेम के बंधन में बंध जाँएँगे।

सौम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार

कब खिलेगी, कब खिलेगी, विश्व में भगवान।

कहना न होगा कि जैसे तुलसीदास ने रामराज्य की परिकल्पना के माध्यम से एक नये समाज, मूल्य व्यवस्था का स्वप्न दिखलाया था। ठीक उसी तरह से दिनकर ने भी आधुनिक युग में मनुष्य को समता, न्याय, प्रेम एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज का स्वप्न दिखलाकर मानवता, सभ्यता और संस्कृति का नया अध्याय लिखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। दिनकर का अदम्य विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार के युद्ध के भय से वसुधा मुक्त होगी। स्नेह एवं समता की नींव पर ही नवविश्व का निर्माण होगा और यही 'कुरुक्षेत्र' में उनकी कामना भी है।

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल

आशुतोष शुक्ल

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय और सबसे बढ़कर मानवीय भावनाओं एवं कृत्यों से ओत-प्रोत गद्य और पद्य लिखकर न केवल साहित्य को समृद्ध बनाया बल्कि अपने साहित्य के माध्यम से मानवता के प्रति मानव के कर्तव्य को भी चित्रित किया। परिणामस्वरूप 'दिनकर' ने छायावादोत्तर युग के साहित्येतिहास में एक गौरवपूर्व अध्याय जोड़ दिया। जब छायावादी कवि अलौकिक जगत् में विचरण कर रहे थे तो दिनकर लौकिक जगत् की सच्चाइयों से सराबोर साहित्य के सृजन में जुटे थे।

'दिनकर' का साहित्य हताश, बेसहारा, कुण्ठित, क्षुधित, दमित, पीढ़ी में ऊर्जा का संचार कर उन्हें राष्ट्र व प्राणिमात्र के प्रति उनके दायित्वों के निर्वहन की चेतना भी प्रदान करता रहा। निश्चित रूप से साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद से पीड़ित देश के लिए 'दिनकर' का साहित्य नवजागरण का प्रतीक साबित हुआ और यह नवजागरण सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक; लगभग हर क्षेत्र में दिखायी भी पड़ता है।

'दिनकर' की कविताओं में दुःख, व्यंजना, करुणा, पीड़ा, लगभग सभी तत्वों का समावेश है। वह आमजन के दुःख से दुःखी दिखायी पड़ते हैं। करुणा का सागर भी उन्हीं के लिए है जो दो वक्त की रोटी भी नहीं जुटा पाते। ऐसे में कवि हृदय की संवेदनशीलता भला कैसे चुप रह सकती है। आखिर सृजनशीलता तभी सार्थक होती है जब उसका क्षितिज अत्यंत व्यापक हो और वह प्राणि-मात्र के हित में उपजी हो! 'दिनकर' के साहित्य में भारतीय संस्कृति का औदात्य और उत्कृष्टता के साथ-साथ गौरवशाली अतीत भी प्रतिबिंबित होता है। 'दिनकर' की रचनाओं की कथावस्तु में इनका दर्शन किया जा सकता

है। चाहे वह 'कुरुक्षेत्र' हो या फिर 'उर्वशी' और 'रश्मि'। ये सभी रचनाएँ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तो रची गयी हैं लेकिन इनका उद्देश्य और विचार वर्तमान से भी अनुप्राणित है।

'दिनकर' के गद्य और पद्य साहित्य की शृंखला बड़ी लम्बी है। काव्य साहित्य में 'प्रणभंग' से प्रारंभ होकर 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवती', 'द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मि', 'नील कुसुम', 'चक्रवाल', 'कविश्री', 'सीपी और शंख' और 'नये सुभाषित' जैसी रचनाएँ उनके काव्य सृजन की समृद्धि की परिचायक हैं तो गद्य लेखन में 'मिट्टी की ओर', 'हे राम', 'संस्कृति के चार अध्याय', 'उजली आग', 'वेणु वन', 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' आदि उनके गद्य के प्रति समर्पण के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन सभी कृतियों के माध्यम से 'दिनकर' ने अनेकानेक समस्याओं से लोगों को रू-ब-रू कराया। लेकिन साथ ही वे द्वंद्व में भी उलझे नजर आते हैं। यदि 'हुंकार' में विद्रोह और विरोध का ओजस्वी स्वर मुखरित होता है तो 'कुरुक्षेत्र' में 'दिनकर' राष्ट्र और क्षेत्र की सीमा से परे जाकर युद्ध को सम्पूर्ण मानवता के लिए अभिशाप घोषित करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध से, जब पूरा विश्व दहल उठा, निर्दोष मारे गए, बच्चे अनाथ हो गए और नवयुवतियाँ विधवा, तो 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' के रण को याद करते हुए युद्ध जैसी भीषण विपत्ति के दुष्परिणामों के प्रति लोगों को चेताया। 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका में वे प्रश्न करते हैं कि- 'युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु, उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है?' शील, करुणा और प्रेम-व्यवहार की बलि चढ़ाकर मानव जिस कदर स्वार्थ साधने में तल्लीन है उससे भी दिनकर का कवि हृदय छलनी हो चुका है। कुछ पंक्तियाँ देखिए -

अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरो के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।

'उर्वशी' और 'रश्मि' में 'दिनकर' के अंतर्द्वंद्व लेखनी के माध्यम से यथार्थ के धरातल पर उतर आते हैं। 'उर्वशी' में जहाँ प्रेम और अध्यात्म में से किसी एक का चुनाव मुश्किल हो रहा है तो 'रश्मि' में मनुष्यों द्वारा बनायी

गयी आपसी द्वेष, ईर्ष्या व भेदभावपरक व्यवस्था से दिनकर का कविमन घायल दिखता है।

दरअसल, 'दिनकर' की दृष्टि वंचना, पीड़ा और शोषण को तो देखती ही है, किसी भी राष्ट्र की संस्कृति और एकता की वाहक भाषा पर भी उनकी पैनी नजर है। जब 'दिनकर' अपने रचना कर्म में तल्लीन थे तो हिंदी में नए-नए प्रयोग भी हो रहे थे। हिंदी कविताओं में छंदबद्धता से इतर काव्य-लेखन भी हो रहा था। चूंकि 'दिनकर' का दृष्टिकोण किसी काल या दशक तक सीमित नहीं था, फिर कविता उनको विशेष प्रिय थी, इसलिए वे इस बात की फिक्र में रहते थे कि भविष्य की कविताओं का स्वरूप क्या होगा। नयी कविता जो गद्य-शैली में लिखी जा रही थी, को लेकर 'दिनकर' काफी उलझन में रहे और बड़ी जद्दोजहद के बाद नयी कविता को स्वीकारोक्ति दी। वे लिखते हैं- 'नयी कविता से मेरे घबराने का कारण यह था कि वह मेरी समझ में नहीं आती थी। दूसरे, उसने छन्द की राह छोड़ दी थी। किन्तु जब मैंने देखा कि चित्रकारी बालू और कोलतार से तथा मूर्तिकारी लोहे के तारों से की जा रही है, तब मैंने भी यह मान लिया, कि कविता का गद्य में लिखा जाना कोई अनुचित बात नहीं है।' इतना ही नहीं, राष्ट्रकवि दिनकर कविता लिखने के पीछे के उद्देश्य को भी टटोलते हैं- 'जीवन भर मैं इस विचिकित्सा में पड़ा रहा हूँ कि कविता का वास्तविक प्रयोजन क्या है। क्या वह मनुष्य को जगाने, सुधारने और उन्नत बनाने के लिए है या उसका काम आदमी को रिझाना और प्रसन्न करना है। या इनमें से कोई भी ध्येय कविता का ध्येय नहीं है?...मेरी दृढ़ धारणा है कि कविता व्यक्ति द्वारा सम्पादित सामाजिक कार्य है और शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है।'

किसी भी साहित्यकार का अपनी भाषा के प्रति प्रेम और आदर बहुत सामान्य-सी बात है। और लगभग हर साहित्यकार यह भी चाहता है कि जिस भाषा में वह साहित्य रचना करता है, उसका प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो। हिंदी भाषा-साहित्य के बारे में भी न केवल साहित्यकारों का बल्कि आम जन-मानस का भी यही सोचना है कि उसकी भाषा को देश-विदेश में प्रतिष्ठा मिले। पराधीन भारत में हिंदी ने सबको जोड़ा था और आजादी में बड़ा योगदान दिया था, जिससे यह उम्मीद जगी थी कि स्वाधीन भारत में हिंदी अपना समुचित स्थान पा सकेगी। अफसोस, गुलाम भारत में 'बाबू' निर्मित करने वाली

अंग्रेजी का मोह-संवरण अभी भी भारत का 'एलीट क्लास' नहीं कर सका है। 'दिनकर' भी भाषा के इन्हीं प्रश्नों पर विचार करते दिखायी पड़ते हैं- ज्ञान का साहित्य मनुष्य किसी भी भाषा में लिख सकता है, जिसे उसने भली-भाँति सीख लिया हो, किन्तु रस का साहित्य वह केवल अपनी भाषा में रच सकता है। प्रत्येक ऐसे देश की आत्मा जिसका कोई इतिहास है, उस देश की भाषा बोलती है। ..अपनी भाषा की उन्नति करना और उन्नत देशों की भाषाएँ सीखना; ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य नहीं हैं। किन्तु, भारत को यदि मौलिक राष्ट्र बनना है, तो उसको अपनी भाषाओं को सर्वाधिक महत्व देना ही पड़ेगा। 'दिनकर' के ये विचार तब और भी प्रासंगिक हो जाते हैं, जब हम देखते हैं कि कैसे की होड़ और भूमंडलीकरण के पूँजीवादी मकड़जाल में फँसकर आज हिंदी दुर्दशा की शिकार हो चली है। यहाँ तक कि भाषा की रूप-रेखा व दशा-दिशा बाजार तय करने लगा है और सबसे दुःखद बात यह है कि 'निज भाषा उन्नति अहै' का ढोल पीटने वाले लगभग सभी प्रयास रंगारंग आयोजन व छलावा मात्र रह गए हैं।

'दिनकर' ने पराधीन भारत से लेकर स्वाधीन भारत तक की यात्रा की थी। हर वो लम्हा, जो 'दिनकर' के साथ बीता, बड़ी ही जिंदादिली के साथ उन्होंने उसे अपनी रचनाओं में पिरोया। वह अनुभव, वह वेदना, वह कसक सब-की-सब 'दिनकर' की लेखनी में उतर आयी है। 'दिनकर' ने देखा कि हमारे देश को तो आजादी मिल गयी है लेकिन अभी हम वास्तविक आजादी से मीलों दूर हैं। समाज विभाजित है, महिलाओं व बच्चों की दशा दयनीय है, व्यवस्था में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। इन विसंगतियों के पीछे 'दिनकर' स्वघोषित जननायकों को भी उत्तरदायी मानते हैं। 'दिनकर' ने अपने जीवन के अनेक वर्ष दिल्ली में बिताये थे लेकिन दिल्ली में रहकर भी वे गाँवों की बदहाल दशा के प्रति हमेशा चिंतित रहे। ग्रामीण जीवन के लिए उनका मोह और समर्पण बार-बार उन्हें इस बात की याद दिलाता रहा कि भारत वैसा नहीं है जैसा दिल्ली में दिखायी पड़ता है बल्कि भ्रष्टाचार व स्वार्थपरकता उसे खोखला बनाए दे रहे हैं। विक्षुब्ध होकर उनकी कलम बदहाल भारत की कुछ ऐसी तस्वीर पेश करती है -

*समझाये उनको कौन, नहीं भारत वैसा
दिल्ली के दर्पण में, जैसा वह लगता है?*

*...भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्तियों के घेरे में।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।*

सादा जीवन, सरल स्वभाव, उच्च विचार और त्याग की प्रतिमूर्ति दिनकर माल-असबाब की आकांक्षा को कलह का एक बड़ा कारण मानते हैं। 'दिनकर' ने जब देखा कि हर तरफ संपत्ति अर्जन की हाय-हाय मची है, भाई-भाई का दुश्मन बन बैठा है, मानवीय मूल्य अधर में जा चुके हैं, तो इन सब से आजिज आकर वे लिखते हैं -

*मुझ को न कहीं कुछ पाना है, केवल ऋण मात्र चुकाना है;
जीवन का मूल समझता हूँ, धन को मैं धूल समझता हूँ।*

इन विसंगतियों की भयावहता के बावजूद 'दिनकर' हार मानने को तैयार नहीं हैं। वे एक बेहतर विश्व की तलाश में संधान करते हैं। जीवन को आशा की प्रतिलिपि मानते हुए विपत्तियों की आँधी में भी अपनी आशा का दीपक जलाए रखते हैं -

*वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।*

सच है, 'दिनकर' ने समाज को मानवता की सच्ची तस्वीर दिखाने का साहसी कार्य किया, वे न तो किसी वाद से बँधे और न ही किसी विशेष रंग में रंगे थे बल्कि उनका व्यक्तित्व और कृतित्व देश और काल निरपेक्ष था।

अरे उर्वशीकार!

कविता की गरदन पर धरकर पाँव खड़ा हो।

हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,

अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बड़ा हो।

कच्चा पानी ठीक नहीं,

ज्वार ग्रसित देश है।

उबला हुआ समुष्ण सलिल है पथ्य,

वही परिशोधित जल दे।

जाड़े की है रात, गीत को गरमाहट दे,

तप्त अनल दे।

मैं दिनकर को हजारीबाग से जानता हूँ

मन्मथनाथ गुप्त

किसी जीवित व्यक्ति पर मैं लिखना पसन्द नहीं करता क्योंकि मैं इस फारसी कहावत में विश्वास करता हूँ- “तब तक किसी पर कुछ मत कह जब तक कि वह मर न जाए”, फिर भी मैंने ‘आज के लोकप्रिय कविमाला के लिए दिनकर पर एक पुस्तक लिखी क्योंकि दिनकरजी का मामला ऐसा था जिसमें मेरे बीच में पड़ने की जरूरत थी। यों उनका जीवन स्फटिक की तरह स्वच्छ है, पर उन्होंने ब्रिटिश सरकार की जो नौकरी की थी, उसी के इर्दगिर्द उनके प्रतिद्वंदी और निन्दक वर्षों तक उनकी नींद हराम किए रहे। इस प्रचार के कारण भीतर ही भीतर उनमें बहुत सालों तक एक हीनताबोध था, जो संसद के प्राथमिक सालों में भी चलता रहा। मैं उनकी इस पीड़ा से परिचित था, इसी के लिए मुझे अपने सारे नियमों को तोड़कर वह पुस्तक लिखनी पड़ी। मैंने उनको सरिता के जनवरी अंकों में 13 साल तक लगातार प्रकाशित होने वाली वार्षिक-समीक्षा में राष्ट्रकवि कहके सम्बोधित किया, जिस पर दिल्ली के किसी-किसी साहित्य-चक्र में पीठ पीछे मेरी काफी हँसी उड़ाई गयी। ऐसे लोग मैथिलीशरण को एकमात्र राष्ट्रकवि मानते थे, मेरा कहना था दोनों हैं तथा और भी हैं।

हम 1923 में क्रान्तिकारी प्रचार कर रहे थे, तो हमने अन्य पुस्तकों जैसे ‘देश की बात’, ‘एशिया निवासियों के प्रति योरोपियनों का बर्ताव’ के साथ ‘भारत भारती’ का उपयोग किया। उस समय हमने दिनकर का नाम काशी में सुना भी नहीं था। पर मजा तो मुझे तब आया जब वही लोग जो मैथिलीशरण के घर पर दिनकर का ‘राष्ट्रकवित्व’ लेकर मजाक उड़ाकर उनसे अपनी रीडरबाजी टाइप का काम निकालते थे, वे मैथिलीशरण की मृत्यु के बाद

दिनकर को अटक-अटक कर राष्ट्रकवि कहने लगे और अब इधर कुछ सालों से सभी उन्हें राष्ट्रकवि कहते रहे।

सच बात तो यह है कि इन दोनों में से कोई उस अर्थ में राष्ट्रकवि नहीं थे, जिस अर्थ में इंग्लैंड के कवि लारिएट होते हैं। भारत बहुभाषी देश है, हिन्दी का कवि ही पोएट लारिएट होगा ऐसी कोई गारंटी नहीं।

मैंने इस अर्थ में दिनकर को राष्ट्रकवि कहा कि वह सरकारी नौकर होते हुए भी राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार के बहुत बड़े सशक्त माध्यम बने। बकिंमचन्द्र भी सरकारी नौकर थे, रमेशचन्द्र दत्त, डी.एल. राय, आशुतोष मुखर्जी सरकारी नौकर थे, बंगाल में सब कुछ कहा गया, पर इस नाते किसी ने उनका कभी अवमूल्यन नहीं करना चाहा कि वे सरकारी फाइल में क्या कहते थे। मैंने बिहार के किसी पत्र में दिनकर के विरुद्ध यह पढ़ा था कि युद्ध के दौरान उन्होंने कुछ राजभक्ति मूलक कविता प्रचार विभाग के लिए प्रस्तुत की थी। मेरा एक ख्याल यह है कि यदि दिनकर सरकार में बड़े नौकर होते जैसे रानाडे हों तो ये निन्दक मुखर न होते। इससे इनका ज्ञापन और खुलता है। मैथिलीशरण के इन्हीं रीडरबाज खुशामदियों में एक आई.सी.एस. स्कूल वाले थे। कभी ब्यौरा लिखूँगा।

दिनकर पर आगे शोध होंगे। मैंने उस पुस्तक में यह नहीं लिखा, पर मैं अब लिखता हूँ कि यदि यह प्रमाणित भी हो जाए कि दिनकर ने वैसे एकाध गीत लिखे (जैसा कि उन्होंने न लिखा होगा) तो इससे कुछ आता जाता नहीं। उनका प्रमुख स्वर देशभक्ति मूलक था। समसामयिक साक्षी भी यही कहते हैं। 'जनता' साप्ताहिक का एक विशेषांक 1940 में भाई बेनीपुरी और मथुराप्रसाद मिश्र के संपादकत्व में निकल रहा था, दिनकर को तार दिया गया कि वह जल्दी से एक कविता भेजें। दिनकर ने गांधी की हैमलेटीय द्विधा पर एक कविता लिखी और उन्हें आन्दोलन छेड़ने को प्रेरित किया जिसका शीर्षक था 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल'। अब पूछा जाए कि क्या बेनीपुरी और मथुरा प्रसाद मिश्र दिनकर को अधिक जानते थे या ये खुशामदी रीडरबाज।

मैं दिनकर को हजारीबाग से जानता हूँ। मैं 1948 में दिल्ली आ गया, वह संसद सदस्य होकर बाद को आए। तब से सैकड़ों बार भेंट हुई, पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। मैंने उनको रवीन्द्रकाव्य के अनुवाद में सहायता दी; भौतिकवाद, अध्यात्मवाद पर बहस की। उन पत्रों को कभी प्रकाशित करूँगा।

मैंने उनकी हर प्रधान कृति की लम्बी आलोचना लिखी। उन्होंने मेरे एक निबन्ध-संग्रह की दीर्घ भूमिका लिखी। 1961 में प्रकाशित 'वट पीपल' नामक निबन्ध संग्रह को उन्होंने मुझे समर्पित किया, जो बहुत बड़ा सम्मान रहा। दिनकर पर सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होंगी, न केवल इस कारण कि वे महाकवि थे, चिन्तक थे, बल्कि 'उर्वशी' के रूप में वह एक कृति दे गए जो उच्चकोटि का महाकाव्य होने के साथ-साथ एक आदर्श पाठ्यपुस्तक भी है, जिसकी अलग-अलग लोग अलग-अलग व्याख्या करेंगे। अलग-अलग युग में अलग-अलग कारणों से उसकी सराहना होगी।

उनके साथ मेरे मतभेद बहुत गहरे थे। मैं समझता था कि हिन्दी के क्षेत्र में वही एक व्यक्ति हैं, जो यदि वस्तुवादी चिंतन करें तो वह बहुत उपयोगी हो सकते हैं। सुमित्रानन्दन पंत पहले ही प्रगतिवादी से अध्यात्मवादी होकर मुझे निराश कर चुके थे। हमारे साथ के कई कट्टर क्रान्तिकारी जैसे बटुकेश्वरदत्त अध्यात्मवाद में लौट चुके थे। राजकुमार सिंह भी निश्चित रूप से इसी तरफ जा रहे थे जबकि मौत ने उन्हें उठा लिया। वह स्थायी मूल्यों की बात बहुत अधिक करने लगे थे।

दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' की इसी दृष्टि से मैंने लम्बी आलोचना लिखी थी, जिससे वह संतुष्ट नहीं थे। वहीं से कुछ कटाव पैदा हुआ, पर यह बराबर उच्च स्तर पर रहा। पन्त की तरह उनकी अरविन्द और माँ की भक्ति मुझे अखरी। अभी सुना मृत्यु के दिन वह तीन बार तिरूपति (श्रीपति) के दर्शन कर चुके थे। इन्हीं से मिलते-जुलते विषयों पर पत्राचार रहा। मैं शायद कुछ अधिक कड़वा हो गया, उन्होंने पीड़ा व्यक्त की। मैंने पत्राचार बन्द कर दिया। जब ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद श्रीमती रमा जैन के घर पर पार्टी हुई, तो उन्होंने बातचीत के दौरान एकाएक कहा-“मेरा आपका कोई इकट्ठा फोटो नहीं है”-कहकर फोटोग्राफर को बुलाया। फोटो हुआ। पर वह फोटो मेरे कब्जे में नहीं है।

इसके बाद कई बार मिले, पर इधर वह मछली-भात खाने वर्षों से नहीं आए थे जैसा वह खैबरपास हॉस्टल में आते थे। एक दिन एकाएक टेलीफोन आया-“भगतसिंह की फांसी की तारीख क्या है? चन्द्रशेखर आजाद कब शहीद हुए।” मैंने पूरा ब्यौरा दे दिया।

पता नहीं इसका उन्होंने क्या उपयोग किया। मृत्यु से चार या पाँच दिन

पहले 'स्टार' के दयानन्द वर्मा, अमरनाथ वर्मा ने उनके साथ-साथ मुझे भी सम्मानित किया। वहीं अन्तिम दर्शन हुआ। उस दिन जो ट्राफी मिली थी, काफी भारी थी। उन्होंने कहा- भारी है, मैंने कहा-मुद्गर के रूप में भाँजिए। वह मुस्कराए। इस प्रकार मुस्कराहट में अन्तिम दर्शन हुआ।

कहाँ फँसे हम सब...

बनारसीदास चतुर्वेदी

सितम्बर 1932 के आस-पास एक कविता 'विशाल भारत' में छपने के लिये प्राप्त हुई थी। कविता का शीर्षक था 'जीवन का संगीत' और कवि का नाम था रामधारी सिंह 'दिनकर'। पढ़कर तबीयत फड़क गई और अपने सहयोगियों-वर्माजी, धन्यकुमारजी तथा श्रीपति पाण्डे को भी इसे पढ़ने के लिए दिया। किसी अच्छी रचना के आने पर हमारा कार्यालय उत्सव मनाता था और चाय के प्याले ऑर्डर किए जाते थे। न जाने कितनी बार हम लोगों ने तब दिनकरजी की कविताओं पर हर्ष मनाया। जब उनकी प्रथम पुस्तक 'रेणुका' प्रकाशित हुई थी तब मैंने 'विशाल भारत' में एक नोट लिखा था कि ऐसी सुंदर पुस्तक के प्रकाशन पर हिंदी जगत को उत्सव मनाना चाहिए।

कविवर दिनकरजी की एक रचना सन् 1929 में हमारे यहाँ से वापस जा चुकी थी जिसका शीर्षक था 'वायसराय की घोषणा'। यह कविता दिनकरजी के किसी संग्रह में भी नहीं छपी, पर काशी के भारत कला भवन में वह सुरक्षित है।

दिनकरजी के वैराग्य का, जो शुरू में था, 'मूड' बहुत दिन तक कायम नहीं रहा और वे पराधीनता के विपक्ष में और स्वाधीनता के पक्ष में तेजस्वितापूर्ण रचनाएँ एक के बाद एक लिखने लगे। मैंने बन्धुवर दिनकरजी को तभी लिखा था कि आप दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकते। सरकारी नौकरी तथा राष्ट्रीय कविताएँ।

किसी परमार्थ की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से मैं दिनकरजी की रचनाओं का प्रचारक बन गया। अपने पत्र के लिए मैं उनकी बढ़िया रचनाएँ चाहता था। वर्धा में मैंने दिनकरजी की पुस्तक 'रेणुका' बाबूजी

को पढ़ने को दी थी और राजेंद्र बाबू जी से तभी उनकी चर्चा की थी। राजेंद्र बाबू ने भी यही कहा था कि दिनकर जी दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकेंगे। मैंने बाबूजी की यह उक्ति 'विशाल भारत' में छाप दी! उसे पढ़कर दिनकरजी के एक भक्त ने, जिनका नाम शायद श्री धनराज था, मुझे लिखा था-“क्या आप दिनकरजी की नौकरी छोड़ना चाहते हैं?” उनका भ्रम सर्वथा उचित ही था और दिनकरजी मेरे हृदय की इस आंतरिक इच्छा को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा भी था-“चतुर्वेदीजी के कथन का सारांश मैं खूब समझता था, किंतु मैं अपनी परिस्थितियों का दास था। न तो मैं नौकरी छोड़ सकता था और न क्रांतिकारी कविताओं से मुँह मोड़ने को तैयार था।” आखिर देश के आजाद होने पर दिनकरजी ने नौकरी छोड़ दी थी।

सन 1952 में हम दोनों साथ-साथ राज्यसभा के सदस्य बने और तब दिनकरजी अक्सर मुझसे मजाक में कहा करते थे, “आपने सन 1935 से रट लगा रक्खी थी कि नौकरी छोड़ दो, तो नौकरी मैंने आपकी ही प्रेरणा से छोड़ी है और संसद की सदस्यता से मेरी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। आपने मुझे एक लाख रुपये के घाटे में डाला है। मैं जब भी चाहूँ, आप पर एक लाख का दावा दायर कर सकता हूँ।”

दिनकरजी सब हिसाब लगाकर मुझे एक लाख का घाटा समझा देते थे, पर मैं पचहत्तर हजार से अधिक के लिए राजी नहीं होता था। मेरा दावा था कि नौकरी छोड़ने के बाद आपने जो साहित्य-सृष्टि की है, उसके पच्चीस हजार रुपये इस रकम में से काट दो। और हम लोगों का यह मजाक बराबर कायम रहा।

पर इससे भी अधिक गंभीर अपराध मुझसे और भी बन पड़ा। मैं तो पार्लियामेंट में बहुत ही कम जाता था, पर जब भी जाता तो दिनकरजी वहाँ दीख पड़ते। मैंने उनसे कहना शुरू किया, “आप भी रेगिस्तान में खेती करते हैं? दोपहरी को विश्राम क्यों नहीं करते?” यह बात मैंने इतनी बार दुहराई कि दिनकरजी ने उसे लिपिबद्ध कर दिया-

कहाँ फँसे हम सब बनारसीदास सदा कहते हैं,
जंगल छोड़ कभी योगी क्या शहरों में रहते हैं।
अगर आन ही फँसे तो समय नहीं खोओ रे।
जैसे मैं सोया रहता, तुम भी सुख से सोओ रे।

यही नहीं, दिनकरजी भी मेरा अनुकरण करने लगे और संसद में बहुत कम आने लगे। कुछ महीनों बाद जब मुलाकात हुई तो बोले, ‘आपने मेरी नौकरी तो छोड़वा ही दी थी, अब मंत्रित्व तथा उपमंत्रित्व भी मेरे हाथ से निकल गया। भला गैरहाजिर सदस्य को पद कैसे मिल सकता है? मुझे तो आपकी तरह राज्यसभा भवन में प्रवेश करने में डर लगने लगा है।’

दरअसल एक बार उनके मंत्री बनाए जाने की अफवाह जोरों से उठी थी, पर दिनकरजी मंत्री बनाए नहीं गए। अपनी डायरी में इस बात का जिक्र उन्होंने किया था। पर व्यक्तिगत तौर पर भले ही इससे दिनकरजी को घाटा हुआ हो, हिंदी जगत के लिए यह सौभाग्य की बात ही थी कि दिनकर जैसे प्रतिभाशाली कवि तथा लेखक का सम्पूर्ण समय साहित्य को ही अर्पित हो गया।

मैं न तो कोई काव्य मर्मज्ञ हूँ और न मुझमें इतनी योग्यता है कि उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन कर सकूँ। पर मानव चरित्र का अध्ययन मेरा प्रिय विषय रहा है और मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि दिनकरजी को जैसा संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा वैसा हिंदी जगत में उनके जैसे प्रतिभाशाली किसी भी लेखक या कवि को शायद ही व्यतीत करना पड़ा हो। जब वे बहुत छोटी उम्र के बालक ही थे, उनके पिता जी का स्वर्गवास हो गया और जीवन के अंतिम दिनों पर उन पर वज्रपात हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो गया। अपने 28.08.1971 के पत्र में दिनकरजी ने मुझे लिखा था-

“आपने निन्यानबे के फेर में पड़ने से मुझे रोका था, पर वह तो और तेज हो गया। जिस परिस्थिति में पड़ गया हूँ, उसमें धन के बिना निस्तार नहीं है। अनाथ पोतियों का भार केदार पर डालकर मुक्त साँड बनकर घूमूँ, यह कायरता होगी। 24 साल की उम्र में जुए को अपनी गर्दन पर लिया था और 74 तक बचा तो गर्दन पर वही जुआ मौजूद रहेगा।’

हम लोगों का-समस्त हिंदी जगत का- यह दुर्भाग्य ही है कि दिनकरजी पैसठ ही वर्ष की उम्र में चले गये। मेरा भानजा चिरंजीव मिथिलेश, जब उनसे आगरे में पिछली बार मिला था तो उन्होंने अपनी अस्वस्थता का उल्लेख करते हुए कहा था-मैं सत्तर तक नहीं चल सकता।’ अत्यंत निर्बल होते हुए भी उन्होंने अपनी एक कविता मिथिलेश को टेप पर रेकार्ड करा दी थी। उनका यह अंतिम अहसान मुझ पर था।

दिनकरजी की मुझ पर जो श्रद्धा थी उसका अधिकारी मैं अपने को नहीं

मानता। पिछले 40-45 वर्ष के निकट सम्बंध के बाद उनकी महायात्रा के अवसर पर जो हृदयवेधक स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क में उमड़ रही हैं, उनको लिपिबद्ध कर देना मेरे लिए अत्यंत ही कठिन है। मैंने उनसे बहुत सी आशाएँ बाँध रखी थीं और उन्होंने उनमें से कितनों ही की पूर्ति भी की थी।

सन् 1935 में पटने के प्रांतीय सम्मेलन के अवसर पर जब दिनकरजी प्रथम दिन अत्यंत वर्षा के कारण नहीं पधार सके थे, मैंने कहा था, 'यदि दिनकरजी अफ्रीका में उत्पन्न हुए होते तो मैं उनसे मिलने के लिए अफ्रीका पहुँचता।' सौभाग्य से दिनकरजी वहाँ पहुँच गए और मुझे बहुत खुशी हुई। पर मेरे उस कथन ने जहाँ उनके प्रशंसकों में कुछ वृद्धि की, उनके विरोधियों की भी संख्या बढ़ गयी।

दिनकरजी के काव्यपाठ पर मैं ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी जगत मुग्ध था। सबसे पहले जब वे 1935 में जापान के कवि नौगूची के स्वागत के अवसर पर कलकत्ता पधारे थे, तो मेरे निवास-स्थान पर अपनी 'हिमालय' नामक कविता उन्होंने सुनाई थी। उनकी वह मनोहर छटा अब भी मेरी आँखों के सामने है और उनकी बुलंद आवाज अब भी मेरे कानों में गूँज रही है।

एक स्मरणीय घटना का जिक्र दिनकरजी ने स्वयं ही किया है। वे लिखते हैं- एक बार चतुर्वेदी जी और मैं मोटर से मथुरा जा रहे थे। संयोग ऐसा हुआ कि रास्ते में मोटर खराब हो गयी। अतएव हम दोनों एक हलवाई की दुकान में बैठ गये और समय काटने को उन्हें मैं अपना 'रश्मिस्थी' काव्य कोई दो घंटों तक सुनाता रहा। उस समय एक कुत्ता कहीं से आ गया और वह भी दो घंटों तक हमारे साथ बैठा रहा। तब से चतुर्वेदी जी को एक मसाला मिल गया। लोग जब भी मुझसे कविता पढ़ने को कहते, चतुर्वेदी जी कह उठते, 'भाई हम और तुम काफी नहीं, श्रोता के रूप में एक कुत्ते का भी हाजिर रहना जरूरी है, तभी दिनकरजी मूड में आते हैं।'

जब हम दोनों मई सन् 1952 में पार्लियामेंट में पहुँचे तो सितम्बर में मैंने डॉक्टर केसकर साहब को एक पत्र में लिखा था, 'क्या ही अच्छा हो यदि हिंदी के सुकवियों की कविताओं को टेप पर रेकार्ड करा दिया जाए। उदाहरण के लिए कविवर दिनकर तो एक अद्भुत करिश्मा हैं। अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताओं को इतने मधुर स्वर तथा बुलंद आवाज में सुनाने वाला शायद ही कोई दूसरा हो।' उस पत्र की नकल मेरे पास अब भी मौजूद है। खेद है कि सरकार ने

तब मेरी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया था। आगे चलकर जब रेडियो विभाग श्री जे.सी.माथुर साहब के अधीन आया तो उन्होंने मेरी प्रार्थना पर कितने ही क्रांतिकारियों के अनुभव टेप पर रेकार्ड करवा लिये थे। हमें पता नहीं कि दिनकरजी की कितनी कविताएँ रेकार्ड की जा सकीं। जितनी भी की गई हों, उनके स्थायित्व का प्रबंध शीघ्रताशीघ्र हो जाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि मॉरीशस तथा रूस के हिंदी प्रेमी भी उनके टेप रेकार्डों की प्रतियाँ सुरक्षित रखना पसंद करेंगे।

एक बात और। दिनकरजी ने गद्य तथा पद्य में इतनी महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं कि वे उनकी कीर्ति को चिरस्थायी बनाने में समर्थ होंगी। पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की स्मृति रक्षा के लिए उनका एक विस्तृत जीवन चरित्र नितांत आवश्यक है। यद्यपि दिनकरजी का व्यक्तित्व अखिल भारतीय था, तथापि बिहार राज्य का उनके प्रति विशेष कर्तव्य है। वह दिनकरजी की स्मृति रक्षा के लिए पाँच हजार रुपये प्रतिवर्ष का एक पुरस्कार घोषित कर सकती है और उनके जीवन चरित्र लिखवाने के लिए दस पंद्रह हजार रुपये की व्यवस्था भी कर सकती है। ज्ञानपीठ काशी के लिए राष्ट्रकवि दिनकर स्मृतिग्रंथ निकाल देना कोई मुश्किल काम नहीं। वैसे मुझे आश्चर्य है कि मेरा यह कथन अरण्यरोदन ही सिद्ध होगा। क्योंकि जो हिंदी जगत अमरशहीद गणेशशंकर जी विद्यार्थी की स्मृति रक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर सका और जो अपने सेवकों को विस्मृति के गड्ढे में धकेलेने में ही गौरव का अनुभव करता है, उससे अधिक आशा क्यों की जाय?

समर के बीच कहाँ विश्राम रामवृक्ष बेनीपुरी

राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा भारतेन्दु से प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति हुई है दिनकर में।

जबकि चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, दरबार के विषाक्त वायुमण्डल ने बेचारी कविता को बहू-बेटियों के नग्न-सौन्दर्य-वर्णन की बेहयाई मात्र बना रखा था, दूज के चाँद की तरह, एक पतली-सी प्रकाश-रेखा पश्चिम क्षितिज पर दीख पड़ी। पहली बार लोगों ने सुना: 'आवहु सब मिलि के रोवहु भारत-भाई'। 'भारत-दुर्दशा' पर प्रकट की गई इस रुदन-ध्वनि का उत्तर दिया भारत पर अपनी जवानी और जिन्दगी कुर्बान कर देने वाली महारानी लक्ष्मीबाई की प्यारी झाँसी के एक चिरगाँव ने। चिरगाँव ने अपनी पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करके आकांक्षा की - 'भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती'। निस्संदेह, उसकी भारती गूँजी, समूचे हिन्दी-भारत में गूँजी। नर्मदा-तट की एक कुटी में जलती हुई साधना की धूनी की लपटों में ज्वार आया। रुदन-क्रन्दन, गूँज-गायन नहीं, एक ललकार देश के तरुणों के प्रति, जिसकी टेक थी :

बलिदान, बलिदान। बलिदान भी कैसा?
सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञात? दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार?
नहीं, केवल अपना बलिदान।

भारतीय आत्मा का यह आह्वान और देश में सचमुच बलिदानों का एक ताँता लग गया। सूलियों की सेज, उछलती लाशें। माँ की बलिवेदी लाल हो

रही थी। इस लाल वेदी से एक लाल देवी का आविर्भाव हुआ। क्या आपकी आँखें उसे देख पाती हैं? यदि वैसे आप देख नहीं पाते, तो दिनकर के प्रकाश में देखें उसे।

जो पश्चिमी क्षितिज पर शान्त-स्निग्ध इन्दु था, वह पूरब में दिनकर होकर अभी-अभी उगा है। उसके प्रकाश में अरुणिमा है, तरुणाई की सूचना, या उस देवी की प्रतिच्छाया?

हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय, दिनकर कर रहा है। क्रान्तिवादी को जिन-जिन हृदय-मन्थनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सच्ची तस्वीर रखती है। क्रान्तिकारी के पास भी दिल होता है। लेकिन, वह करे तो क्या? उसी समय उसके कानों में कुछ दूसरी ही रागिनी बज उठती है, उसकी आँखें कुछ दूसरे ही दृश्य देखने लगती हैं :

रणित विषम रागिनी मरण की
आज विकट हिंसा-उत्सव में,
दबे हुए अभिशाप मनुज के
लगे उदित होने फिर भव में;
शोणित से रँग रही शुभ्र पट
संस्कृति निटुर लिये करवाले,
जला रही निज सिंह-पौर पर
दलित-दीन की अस्थि-मशालें।

और उसे मालूम होता है, कोई शक्ति उसे बुला रही है - जगा रही है। यह कौन? यह तो वही है। वह झिझक उठता है :

यह कैसा आह्वान!
समय-असमय का तनिक न ध्यान।
तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय?
सुधा-मधु का अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय?
उठो, सुन उठूँ, हुई क्या देवि,
नींद भी अनुचर का अपराध?

मरौ, सुन मरूँ, नहीं क्या शेष
अभी दो-दिन जीने की साध?
दूसरे ही क्षण, वह प्रकृतिस्थ होता है। अरे, उसका जीवन तो समर्पित है।
उस पर उसका क्या अधिकार? और, मानो वह गरज उठता है -

फँकता हूँ लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव-हुंकार।
नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व पे झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।

गरल, गरल, गरल! क्रांतिकारी की जिन्दगी में अमृत का स्थान कहाँ?
और, हिन्दुस्तान की क्रांति आज जो नया रूप ले रही है, उससे भी वह
अपरिचित नहीं। मालूम होता है, मानो अब तो उसकी कविता की वही प्रमुख
प्रेरक है :

जेठ हो कि हो पूस, हमारे
कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल से संग, कभी
जीवन में ऐसा दाम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी
मिलती दोनों शाम नहीं है।

यही नहीं, वह उस दिन नई दिल्ली को देखकर भी कह उठा था :

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प, पुकारें;
अरी, गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें!

नई दिल्ली को उसने एक नवीन विशेषण भी दिया है -कृषक मेध की

रानी दिल्ली।

कभी हमारे राजे अश्वमेध करते; नई दिल्ली कृषक मेध करती है, वह
उसकी रानी है।

सबसे बढ़कर हमारे आज के समाज में स्त्रियों की नग्नता और बच्चों की
भूख-ये दो चीजें ऐसी हैं, जो दिनकर के भावुक हृदय को क्रान्ति के लिए
सबसे अधिक प्रेरित करती हैं। 'हाहाकार' में बच्चों की भूख और दूध के लिए
उनकी चिल्लाहट का उसने ऐसा वर्णन किया है, जो पत्थर के दिल को भी
पिघला सकता है -

कब्र-कब्र में अबुध बालकों
की भूखी हड्डी रोती है,
'दूध-दूध की कदम-कदम पर,
सारी रात सदा होती है।
'दूध-दूध ओ वत्स, मन्दिरों में
बहरे पाषाण यहीं हैं!
'दूध-दूध', तारे, बोलो इन
बच्चों के भगवान कहाँ हैं।

भगवान बहरे हों, तारे न बोलें - लेकिन, कवि चुप बैठने वाला नहीं। वह
कहता है :

हटो व्योम के मेघ, पंथ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध' ओ वत्स, तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।

मालूम होता है, दिनकर ने क्रांति को निकट से देखा है और उसने उसे एक
अच्छा-सा नाम भी दे दिया है - विपथगा। इस विपथगा को कवि ने भारतीय
रूप दिया है। यह सिर पर छत्र-मुकुट रखती है; कुमारी है, तो भी सिन्दूर
लगाती है; आँखों में अंजन देती है और रंगीन चीर पहनकर नाचती है।
लेकिन, इसके मुकुट, सिन्दूर, अंजन और चीर, सब असाधारण हैं। कैसे?
ऐसे :

मेरे मस्तक का छत्र-मुकुट
बसु-काल-सर्पिणी के शत फन;

मुक्त चिर-कुमारिका के ललाट
पर नित्य नवीन रुधिर-चन्दन;
आँजा करती हूँ चिता-धूम का
दृग में अंध-तिमिर अंजन;
संहार-लपट का चीर पहन
नाचा करती मैं छूम छनन।

और नाचना शुरू किया कि एक अजीब दृश्य -
पायल की पहली झमक,
सृष्टि में कोलाहल छा जाता है;
पड़ते जिस ओर चरण मेरे,
भूगोल उधर दब जाता है।

‘भूगोल उधर दब जाता है’- आप इसे अत्युक्ति कहेंगे; लेकिन दुनिया का इतिहास इसका साक्षी है। विश्व-साहित्य में क्रान्ति पर जितनी कविताएँ हैं, ‘दिनकर’ की ‘विपथगा’ उनमें से किसी के भी समकक्ष आदर का स्थान पाने की योग्यता रखती है।

क्रान्ति-सम्बन्धी उनकी दूसरी कविता ‘दिगम्बरि’ भी हिन्दी-संसार में जोड़ नहीं रखती। मालूम होता है, कवि आँखों देखी, कानों सुनी बात कह रहा है-

धरातल को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई,
दिशा के बंध से झंझा विकल है छूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।

और, इस क्रान्ति के वाहन कौन होंगे? युवक ही तो? अतः, ‘दिनकर’ एक मौका भी ऐसा नहीं जाने देता, जब वह इन युवकों से दो-दो बातें न कर ले। कभी वह उन्हें उलाहना देता है-

खेल रहे हिलमिल घाटी में कौन शिखर का ध्यान करे?
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह फूलों का मधु-पान करे?

कभी उन्हें वह चेतावनी देता है-

लेना अनल-किरीट भाल पर
ओ आशिक होने वाले,

कालकूट पहले पी लेना,
सुधा-बीज बोनने वाले।
दोस्तो, याद रखो :

धरकर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
पनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।

उन्हें ‘जय-यात्रा’ के लिए उत्तेजित करते हुए, मानो, आखिरी बार कवि कहे देता है-

चल यौवन उद्दाम;
चल, चल बिना विराम,
विजय-मरण, दो घाट,
समर के बीच कहाँ विश्राम?

अन्त में एक बात। जब मैंने राष्ट्रीय कविता के विकास के सिलसिले में भारतेन्दु, मैथिलीशरण, भारतीय आत्मा और दिनकर को लिया है, तो इसका मतलब यह नहीं कि इनके अतिरिक्त किसी ने देशमाता के चरणों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई नहीं।

नहीं, यह कहना गुस्ताखी होगी- अक्षम्य अपराध होगा।

ये तो ‘मील के पत्थर’ मात्र हैं- खास दूरी के सूचक। बीच में और भी कितनी ही प्रणम्य, नमस्य, देव-मूर्तियाँ हैं; किन्तु बीच में ही। ‘दिनकर’ के आगे का मैदान अभी उसी का है। यह मेरा आज का दावा है। कल की बात मैं नहीं कहता।

पुराने और नए के सेतु सदृश अज्ञेय

छायावाद के बाद के युग में जिन दो-तीन कवि-व्यक्तियों की छाप हिन्दी-जगत पर पड़ी, दिनकर उनमें प्रमुख थे। युवतर कवि-समुदाय पर वह छाप उतनी स्पष्ट कदाचित न हो पर हिन्दी केवल कवि-जगत नहीं है। पाठक समुदाय भी है और साधारण समाज भी है। दिनकर काव्य छोटे स्कूली दर्जों से लेकर विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं तक पढ़ाया जाता है- 'पढ़ाने के लिए चुना जाता है' - ही सही, इस बात का महत्व कम नहीं है, न इसी बात का कि उनके पढ़ने वालों और प्रशंसकों में सभी वर्गों और स्तरों के लोग भी रहे और हैं।

कविता को व्यापकतर सामाजिक प्रतिष्ठा ही सही, दिलाने का जो काम दिनकर ने किया, वह उन अन्य दो-तीन कवि-व्यक्तित्वों ने नहीं किया जिनकी छाप का उल्लेख हमने किया है। वहाँ दिनकर अकेले थे। उनकी राष्ट्रीय चेतना और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि, उनकी वाणी का ओज और काव्य भाषा के तत्वों पर बल, उनका सात्विक मूल्यों का आग्रह उन्हें पारम्परिक रीति से जोड़े रखता था, परिवर्तन के लिए उनका अधैर्य, बुराइयों के प्रति उनका आक्रोश और हाँ, जीवन की नेमतों के प्रति उनका आकर्षण उन्हें नई रीति से जोड़ता था।

इस प्रकार उनका काव्य पुराने और नये के बीच एक सेतु था, उनके उठ जाने से वह सेतु टूट गया है। यह भी कहा जा सकता है कि वैसा दूसरा व्यक्तित्व सामने आने की सम्भावना नहीं है। यह बात जितनी उनके व्यक्तित्व की स्तुति है, उतनी ही समकालीन समाज परिस्थिति पर टिप्पणी भी।

अस्तंगत का उदय भवानीप्रसाद मिश्र

24 की रात को या कहिए जब 25 अप्रैल शुरू हो चुकी थी, एक बजे रेडियो पर खबर आ गयी थी कि दिनकरजी मद्रास के किसी नर्सिंगहोम में दिल के दौरों से हम सबको छोड़कर चले गये। मैंने यह खबर एक बजे रात को नहीं सुनी। जिस दोस्त ने सुनी उसका जी उसी समय मुझे आकर बताने का हुआ। मगर वह जानता था कि मेरा और दिनकरजी का ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि मैं खबर सुनकर फिर रात को सो रहूँ। मुझे दिल का बीमार जान वह मेरे पास रात को नहीं आया। सुबह एक बचपन के दोस्त ने, जो मध्य प्रदेश में शिक्षक हैं और राष्ट्रपति पुरस्कार लेने दिल्ली आये थे, 6 बजे घंटी बजा दी। उन्हें देखकर जी इतना खुश हुआ कि आये हुए अखबार पढ़े रहे, मैंने उन्हें छुआ तक नहीं और चाय के साथ-साथ परिवार के सारे लोग उनसे बातचीत में जुट गये। तभी जैनेन्द्रजी का फोन आया, उन्होंने कहा 'भवानी। तुमने पढ़ा?' जी सशकित हो उठा। मैंने डरी हुई-सी आवाज में पूछा-'क्या?' उन्होंने कहा-'दिनकर नहीं रहे।' अखबार में तो ज्यादा खबर थी नहीं। जगह-जगह फोन करना शुरू किया। भाई बच्चू प्रसाद सिंह ने बताया कि दिनकर जी का शव नौ बजकर पचपन मिनट पर हवाई जहाज से पालम पहुँचेगा और कोई पौन घंटे के बाद पटना ले जाया जायेगा। संस्कार वहीं शाम को होगा। जितने दोस्तों को फोन पर खबर दी जा सकती थी, खबर देना शुरू किया। आठ बजे रेडियो ने भी यही सब सूचना दी। हम सब लोग पालम पहुँचे।

पालम का दृश्य जहाज के आने के पहले भी बहुत करुण था। लोग आँखों में पानी भरे, एक-दूसरे से आँख चुराते-से घूम रहे थे। आपस में बातचीत करने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। इतने अचानक और ऐसी दारुण खबर बर्दाश्त कर

सकना शायद किसी से बन नहीं पाया। परिवार के लोग, साहित्यिक दुनिया के लोग, मित्रों का दल, राजनेता, प्रकाशक और जनसेवक सभी पालम पर परेशान घूम जहाज का रास्ता देख रहे थे। जब जहाज आया, तब भी हम सबके शव तक पहुँचने में कोई बीस-पच्चीस मिनट लग गए। जहाज के कर्मचारियों का बर्ताव अत्यंत सौजन्यपूर्ण था। हम सब लोगों को जहाँ जहाज रुका था, वहाँ तक जाने दिया गया। दिनकरजी का शव एक टेले पर हमारे सामने लाया गया। शव लकड़ी की पेटी में बंद था, यानी हम, जो उन्हें देखने के लिए तरस रहे थे, लकड़ी की पेटी को देखते रहे। ज्यादातर लोग फूलमालाएँ लेकर आये थे। फूलमालाएँ शव पेटिका पर चढ़ाई गईं। जिनके पास फूल-मालाएँ थीं और जिनके पास नहीं थीं, उन सबके आँसू तो उस पर गिरे ही।

किंतु आँसू टपकाते हुए भी मन में कहीं यह एक आश्वासन झाँक रहा था कि दिनकर अस्त होकर भी अस्त नहीं हुए हैं। इस 'दिनकर' का एक शाश्वत उदयाचल भी है, जिस पर से यह कभी ओझल नहीं होगा। कविता और अपने हर लेखन के द्वारा दिनकर 'हुंकार' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक तथा कहिए, 'संस्कृति के चार अध्याय' से लेकर 'आधुनिक बोध' तक अनादि काल से अब तक के जीवन प्रवाह और उसमें उसके चढ़ावों तथा उसके उतारों को प्रकारान्तर से जानते-पहचानते रहे हैं। उनके भीतर जो चीज घनी थी वह थी आशा या ओज या इनसे मिलते-जुलते तत्वों के साथ-साथ वह गहरी उदासी, जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'मनुष्य की मूल पूँजी' कहा है। उदासी जब जितनी घनी होती थी तब वे उसे उतने ही ज्यादा जोर से ललकारते थे। उनके लेखन से इतना स्पष्ट होते बहुत देर नहीं लगती कि ये कविता में थोड़ी वक्रता और गद्य में सरलता, शालीनता और दृढ़ता के साथ प्रायः यही कहते जान पड़ते हैं कि प्रारंभ से अब तक का जमाना युद्धों का और इसलिए निष्कर्ष आप निकालिए कि व्यर्थता का रहा है। इससे भिन्न परिस्थिति कैसे बन सकती थी सो मैं नहीं जानता। आदमी के खिलाफ की शक्तियाँ अब तक मानवीय नहीं, दानवीय रही हैं; अहं और लोभ-लालच के रेले औचित्य संगति और पारस्परिकता के अनति दृढ़ तटों से आ-आकर टकराते रहे हैं और इस टकराहट ने तटों को ढँक देने वाले, कई बार तोड़ देने वाले ऊँचे-ऊँचे तूफान उठाये हैं-बेचारा आदमी अब तक उनमें सिर्फ मारा-मारा फिरा है। किंतु उनकी यह उदास मुद्रा फिर दर्शन में बदल जाती थी और वे अरविंद के साथ अतिमानवता

की कल्पना को काव्य में साकार करने का प्रयत्न करने लगते थे।

दिनकर के 'रश्मिर्श्री', 'कुरुक्षेत्र' या 'परशुराम की प्रतीक्षा' अगर दानवीय-ज्वर के चढ़ाव के चरम बिंदु है तो उनका 'हारे को हरिनाम' महाज्वर के उतर जाने के बाद का वह लागरपन है जो शरीर और मन और आत्मा तक को केवल तोड़ ही नहीं देता, चूसकर एक तरफ पड़े रहने पर विवश कर देता है। यों कहा जा सकता है कि 'हारे को हरिनाम' में दिनकर ने कवित्व की हद तक जीवन की जीर्णता, शीर्णता और लाचारी का अधिक स्पष्ट अनुभव करके एक अर्द्ध-प्रतीकवादी तरीके से सामने यह रखा है कि वे दुनिया को किस तरह देखते हैं और दुनिया उनको किस तरह देखती है। यहाँ वे नित्य-प्रति भीतर बढ़ती जाने वाली उदासी को ओज, रोष या ललकार से ढाँकने की बजाय जैसी वह है, उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे उसमें एकदम व्यक्तिगत मुहावरा अपनाये हुए हैं जबकि अन्य कृतियों में उन्होंने चरित्र कहिये, प्रतीक कहिए चुने हैं- फिर चाहे चरित्र कर्ण का हो, चाहे पुरूरवा का, चाहे परशुराम का।

इस अंतिम काव्य संग्रह में दिनकर ने अपनी वाग्मिता का कदाचित् ही कहीं सहारा लिया है। इस संग्रह की कविताओं में दर्शन, ध्यान, समाधि, भक्ति, देशकाल और किसी अज्ञेय के हाथों में मानवीय इतिहास की बागडोर के थमे होने का अहसास आदि के विचार उभर-उभर कर सामने आते हैं। साथ ही नजर आती है दिनकर की एक नितांत अनजानी सोच में डूबी हुई अशरण के चरणों में अर्पित तस्वीर। यह तस्वीर उनकी पूर्ववर्ती कविताओं में उभरने वाली कविताओं को सच कहें तो नकारती नहीं, उसको समझने की चाबी देती है।

अब दिनकर हमारे बीच नहीं हैं। हम उनके पूरे व्यक्तित्व को उनकी रचनाओं में अधिक अवकाश और गहराई के साथ खोज सकते हैं।

कवि के बारे में दिनकर की क्या दृष्टि थी उसे नीचे दी गई कविता के हिसाब से देखकर पढ़ें तो दिनकर को समझने में बड़ी मदद मिलेगी। दिनकर विरोधी भावों के नहीं, विरोधों के पुंज थे-इसीलिए वे भीतरी और बाहरी का अनोखा सामंजस्य साधकर लिख सके हैं। वे अपनी कविता में ठीक कलाकार के उस दोहरे रूप में प्रकट हुए हैं जिसमें एक तरफ वह निर्माता होता है अपनी कृति का; और दूसरी तरफ अपनी कृति से निर्मित होता है। 'कवि' शीर्षक इस तथ्य को खोलने वाली कविता पूरी की पूरी इस तरह है :

प्राप्त है इनको सखे, कुछ ज्ञान भी, अज्ञान भी।

वायु हैं ये,
 विश्व के मन को बहाकर
 सत्य-सुषमा की दिशा की ओर करते हैं।
 मानवों में देवता जो सो रहे, उनको जगाते हैं।
 रात्रि के ये क्रोध हैं,
 हुंकार भरते हैं तिमिर में
 और हाहाकार करके भोर करते हैं
 आँख के हैं अश्रु कोई भी न जिनको जानता है।
 सिंधु तट की वह मधुरता है
 न जो मिटती कभी है
 बालुका पर मनुज के पद चिन्ह जो पड़ते,
 ये जुगा उनको भविष्यत् के लिए धरते ।

यह कविता उनके समूचे काव्य से उठने वाली इस ध्वनि को व्यक्त करती है कि दिनकर व्यक्ति से पार देख पाने वाली एक दृष्टि का नाम था। यह कविता एक दर्पण है जो उन्हें जैसा का तैसा नहीं, उदात्त (ट्रान्सफार्मर्ड) रूप में दिखाती है- यह उदात्त रूप उनका पार्थिव रूप कदापि नहीं है। उन्हें जो पार्थिव रूप मिला था, वह हर सच्चे कलाकार को निमित्त रूप में मिलने वाली देह थी, जिसके बल पर वह पार्थिवातीत और इसलिए सदा उदयोन्मुख; एक प्रतीक की तरह सामने रहता है।

जिंदगी की किताब खाली की खाली रह जाती है प्रभाकर माचवे

आधुनिक हिंदी कविता के अंतिम ओजस्वी और आशावादी 'दिनकर' जी का नाम सबसे पहले मैंने सन 1935 में खंडवा में माखनलाल जी चतुर्वेदी के यहाँ सुना। रामवृक्ष बेनीपुरी उस समय 'कर्मवीर' के सह संपादक थे और उन्होंने मेरी प्रारंभिक रचनाएँ-कविताएँ, रेखाचित्र, कहानियाँ, 'कर्मवीर' साप्ताहिक में छपायी थीं। तब 'रेणुका' की भूमिका 'दादा'(एक भारतीय आत्मा) ने लिखी थी, जिसके कारण दिनकर जी साहित्यक्षेत्र में आगे आये। खेद है कि 'रेणुका' के दूसरे संस्करण में वह भूमिका हटा दी गई। तब 'दिनकर' जी की कविताएँ बिहार के पत्रों के अलावा 'विशाल भारत' में बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने छपायीं। और 'कर्मवीर' में गत महायुद्ध के दौरान अबीसीनिया के युद्ध पर छपी उनकी प्रगतिशील कविता की पंक्तियाँ मुझे याद हैं जिसका आरंभ हुआ था 'मेघरंध' में बजी रागिणी' से और 'ईसाई दुनिया ने बर्छी तानी' उसमें एक सटीक पंक्ति थी। दिनकर जी ने लेनिन की और रूस की क्रांति की प्रशंसा में अपनी आरंभिक कविताओं में लिखा- शायद 'हुंकार' में वह कविता है।

क्रांति की 'झन झन झन झन, झनन झनन' अगवानी बंदी भारत माता की बेड़ियों की झनकार में सुनने वाले दिनकर हिंदी के राष्ट्रीय कवियों की परंपरा में आते थे, जिनमें से मैथिलीशरण गुप्त, 'नवीन' जी, सुभद्राकुमारी पहले ही स्वर्गवासी हो गये। दिनकर जी से प्रत्यक्ष परिचय का लाभ इलाहाबाद में सन् 50 में जब साहित्यकार संसद के तत्त्वावधान में रसूलाबाद में महादेवी जी ने उनके सम्मान में उत्सव किया था और 'कुरुक्षेत्र' पर पुरस्कार दिया था, तब मिला। इससे पहले मैं 'कर्मवीर' में कृष्णायन के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र' की समीक्षा लिख चुका था। यह लेख मेरी एक पुस्तक में सन् 1952 में प्रकाशित

हुआ है।

बाद में सन् 1954 में साहित्य अकादमी दिल्ली में आ जाने पर संसद-सदस्य के नाते दिनकर जी से अक्सर भेंट होती थी- मामा वरेरकर के घर पर, मैथिलीशरण जी के निवास-स्थान पर बनारसीदास जी के यहाँ या सभा-सम्मेलनों में। सन् 1957 में जब वे चीन गये, या सन् 1961 में सोवियत रूस या बाद में मारीशस में उनके संस्मरण में, उनके श्रीमुख से सुनने का अवसर मिलता था। वे ओजस्वी वक्ता थे। पं. जवाहरलाल नेहरू जब 70 वर्ष के हुए उन्होंने एक काव्य-संकलन 'शांतिदूत नेहरू' प्रकाशित कराया जिसमें मैंने उन्हें अनुवादादि कार्य से सहयोग दिया था। बाद में नेहरू के स्वर्गारोहण के बाद दिनकर जी ने 'लोकदेव नेहरू' पुस्तक लिखी।

दिनकर जी नई पीढ़ी की रचनाएँ पढ़ते ही नहीं थे; उन्हें प्रोत्साहन भी देते थे। उनकी सुनते भी थे, वाद-विवाद भी करते थे। नवीनतम पुस्तकें पढ़ने का उन्हें चाव था। साहित्य अकादमी के लिए उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुवाद किया, अरविंद घोष पर उन्होंने एक सेमिनार के लिए विशेष निबंध लिखा। 'वॉइस आफ हिमालयाज' उनकी कविताओं का एक अंग्रेजी अनुवाद छपा है- कुछ अनुवाद उसमें मेरे किए हुए हैं, कुछ आर. के. कपूर के और कुछ श्रीमती कमला रत्ना के। उनके निबंधों-विचारों की एक और पुस्तक अंग्रेजी में छपी है जिसमें कुछ अनुवाद श्रीमती कपिला वात्स्यायन के भी हैं। इस्पाहानी में उनकी कविताओं का अनुवाद श्रीमती रत्नम ने किया। रूसी में श्रीमती स्वेतलाना त्रबिनकोवा ने। वैसे हिंदी की कई पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले थे जैसे 'अध्येय' और 'गंतव्य' आदि ने। पद्मा सचदेव की डोगरी कविताओं का जो हिंदी अनुवाद अकादमी ने प्रकाशित किया था, उसकी भूमिका दिनकर जी द्वारा लिखी गई थी। सारे हिंदी संसार में, और बाहर भी, उनके प्रशंसक हजारों में हैं। सैकड़ों नये लेखकों-पत्रकारों को उन्होंने प्रेरणा दी और जीवन में बड़ी सहायता की। 'कोयला और कवित्व', 'आत्मा की आँखें' उनकी आधुनिकतावादी रचनाएँ हैं।

ऐसे कवि के अंतिम दिन अध्यात्मोन्मुख हो गये थे। 'हारे को हरिनाम' इसका उदाहरण है। अरविंद, रमण महर्षि, माता आनंदमयी, शारदामाता (यह उनका अंतिम प्रकाशित लेख था) आदि पर रचनाएँ हैं। 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' पर काफी वाद-विवाद हिंदी में मचा। उन्हें यह आभास

था कि वे न रवींद्र बन सके न इकबाल। हिंदी में सम्मान, सर्वश्रेष्ठ पुरस्कारादि मिलने पर भी वे अंतिम कवि सम्मेलन (सप्रू हाउस 21 अप्रैल रात्रि) को कह गये- 'कागज कितना भी चिकना लगाओ/ जिंदगी की किताब खाली की खाली रह जाती है।'

कुछ समय पहले मुझे एक सज्जन ने कलकत्ता से पत्र लिखा कि दिनकर को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना कितना उपयुक्त है? मैंने उन्हें उत्तर में लिखा था कि- यदि चार ज्ञानपीठ पुरस्कार उन्हें मिलते, तो उनका उचित सम्मान होता- गद्य, पद्य, भाषणों और हिन्दी प्रचार के लिए।

चार ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलते तो उनका उचित सम्मान होता हरिवंश राय बच्चन

दिनकर से मेरी पहली मुलाकात दिसम्बर, 1935 में हुई थी, जब जापानी कवि योन नोमूची के स्वागत में आयोजित उत्सव में मैं कलकत्ता गया था। उन दिनों 'योगी' में मेरी कविताओं का उपहास भी होता था। और दिनकर को वे ज्यादा प्रश्रय देते थे पर हम लोगों में ईर्ष्या या मुकाबले की भावना बिल्कुल नहीं थी। साथ-साथ कविता पढ़ते थे, मिलते थे, मिलते-जुलते थे, बातें करते थे। मुझे याद है कि किसी कवि के कविता पाठ के समय, हम दोनों ने बात करने पर डाँट खाई थी। हम लोगों ने कितने ही स्थानों की साथ-साथ यात्रा की, कवि सम्मेलनों में गये।

दिनकर की वाणी का ओज उनके व्यक्तित्व में भी था। पहले वे कवि सम्मेलनों में गाकर सस्वर पाठ भी करते थे। पर जल्दी ही उन्हें महसूस हो गया कि उनका स्वर गाने के लिए नहीं, गरजने के लिए है। पर मैं अपनी कविता गाकर, किसी राग में पढ़ता था। श्रोताओं को 'वैरायटी' मिलती थी। इसमें एक सामंजस्य ही था, प्रतिद्वन्द्विता नहीं। 1956 में जब मैं दिल्ली में आ गया, हम लोगों की अनौपचारिक और आत्मीय ढंग से बातें हुआ करती थीं। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो मैं दिनकर से ही कर सकता था। हम खुलकर बातें करते थे। हमारी बातें साहित्यिक भाषा में न होकर, धरती की भाषा में होती थी। अब शायद कोई दूसरा आदमी नहीं है, जिससे इस तरह की बातें मैं कर सकूँगा। दिनकर की 'हारे को हरिनाम' में एक कविता भी है कि, 'मैं याद तो बेनीपुरी की करता हूँ। पर मैं बैठना चाहूँगा बच्चन के साथ।'

दिनकरजी ने श्रमसाध्य जीवन जिया। उनकी साहित्य साधना अपूर्व थी।

ऊर्मिकाव्यात्मकता

उमाशंकर जोशी

दिनकरजी का प्रथम दर्शन स्वराज मिलने के बाद बम्बई में दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) और रायकृष्णदास के साथ हुआ था। दद्दा के सम्मान के प्रसंग पर हम सब उपस्थित थे। दिनकरजी की ऊँची गौर आकृति, दाँत के बीच स्वभाव के भोलेपन की सूचक जगह, आँखों में कुछ ढीठताभरी चमक - उनके व्यक्तित्व से तुरन्त मैं आकर्षित हुआ।

सुनने का मौका मिला अहमदाबाद में। कॉलेज के छात्रों के समक्ष उन्होंने 'रश्मि' के बड़े हिस्से का पाठ किया। उस समय उनकी कविता की लाक्षणिक, ओजस्विनी और ओजवती शैली का परिचय हुआ।

हम घर पर बैठे थे। उनकी कालीयमर्दन विषयक कृति में कृष्ण कालीय को 'तू तान-तान...' कहकर फणामण्डल को कितना ही फैलाने को आह्वान देते हैं। कुछ साल पहले बंगलौर में कन्नड़ कवि पुट्टप्पा के घर पर सुने हुए उनके गीत की बात मैं कर रहा था। पुट्टप्पा का कालीय बोलता है, 'कृष्ण नृत्य करो, और नृत्य करो, पदघात से मेरी अहंता को विगलित करो।' भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में कई एक से विषय पाए जाते हैं, लेकिन प्रस्तुतीकरण में जोर देने के ढंग में रुचिकर वैभिन्न्य पाया जाता है।

कई गोष्ठियों में, खास करके साहित्य अकादमी की, दिनकर जी से मिलने का अवसर मिलता था। उनसे ज्यादा परिचय हुआ, कहने में संकोच होता है, विदेश में। 1961 के अक्टूबर में पाँच भारतीय लेखक सोवियत रूस के अतिथि बने। उसमें हम दोनों थे। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। विदेश में भी प्रभात में अपनी पूजा वगैरह नियमित करते रहते थे। उन तीन सप्ताह का खास

स्मरण चित्त में रह गया है। मोटर से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने-आने के समय में दिनकर जी के मुँह से सैकड़ों उर्दू कविता की पंक्तियाँ मुझे सुनने को मिलीं। हिन्दी के एक अग्रिम कवि के माध्यम से उर्दू के समृद्ध काव्य-भंडार का कुछ आत्मीय-सा परिचय मिला। दिनकर जी स्पष्ट वक्ता थे और बातचीत में कभी-कभी राष्ट्र की घटनाओं की आलोचना तीक्ष्ण दृष्टि से करते रहते थे। दिनकर जी अपनी ऊँचाई पर मगरूर नहीं थे। वे इतिहास की विभूतियों का स्मरण कराने लगते थे- नेपोलियन देखो, पंडित जवाहर लाल देखो। (मैंने सुर मिलाया, कन्हैयालाल मुंशी देखो।)

बातचीत की अनिर्बन्ध आत्मीयता में उनके व्यक्तित्व के मुख्य पहलू आलोचित हो जाते थे। एक बार कुटुम्ब के बारे में बात निकली। अपने एक बड़े पुत्र के बारे में उनके मुँह से जो सरल उद्गार निकले, बहुत हृदयस्पर्शी थे- 'हमारा ठीक नहीं जम पाया। लेकिन आखिर वह मेरे पास आया।' उस क्षण उनके चेहरे पर जो यातना और सन्तोष से मिश्रित प्रेमदीप्ति थी, मैं कभी भूल नहीं सकता। दिनकर जी का अन्तिम पत्र मेरे पास पौत्री के विवाह के अवसर पर शुभेच्छा -संदेश के रूप में लिखा हुआ है। आधुनिक हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न छायावादी कवियों के बाद आने पर भी दिनकर जी ने अपनी लाक्षणिक शक्ति से अपना अनोखापन दिखा दिया। कथनात्मक और नाट्यात्मक कविता का क्षेत्र अपनाते हुए भी उनकी सिद्धि के मूल में उनकी एक विशिष्ट ऊर्मिकाव्यात्मकता दिखाई देती है, जो हिन्दी भाषा के, बल्कि भारतीय कविता के कीर्तिमंदिर में उनके लिए हमेशा का एक अपना स्थान बनाये रखेगी।

दिनकर : अंत मता सो गता

सेठ गोविन्ददास

दिनकर जी ने प्रसाद गुणों से परिपूर्ण विपुल परिमाण में साहित्य रचना की है। उनके साहित्य का समादर हुआ है और वे उच्चकोटि के सृजनकर्ता माने जाते हैं। उनके साहित्य में क्या कैसा है, यह प्रबुद्ध पाठकों और मर्मज्ञ समीक्षकों का विषय है, किंतु यदि दिनकर जी के साहित्य के विषय में मुझे कुछ भी कहना अनिवार्य हो तो केवल इतना कहूँगा कि उन्होंने इस तथ्य को सामने रखकर कि दिनकर रूपी भौतिक अस्तित्व का तो एक न एक दिन अवसान होना है, पर दिनकर के नाम और उसके सार्थक प्रकाश का अस्तित्व बना रहे, अपने साहित्य का सृजन किया है। अपने इस उद्देश्य में वे पूर्ण सफल रहे हैं। दिनकर आज अस्त हो चुके हैं पर आज और आइन्दा उनका साहित्य कालजयी रूप में, काल की सीमा, काल की परिधि से बाहर अक्षय और प्रकाशित रहने वाला है।

दिनकर जी के व्यक्तित्व के जिस सर्वाधिक प्रबल पक्ष ने मुझे प्रभावित किया वह था उनका निष्ठावान, तेजस्वी रूप जिनके व्यक्तित्व की तेजस्विता न केवल उनके आचार-विचार, व्यक्तिगत व्यवहार तक सीमित थी अपितु उनका सारा साहित्य इस तेजस्विता से परिपूर्ण था। उनके व्यक्तित्व के इसी पक्ष ने सम्भवतः हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेंद्र को प्रभावित किया और इसीलिए नगेंद्र जी ने दिनकर जी के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए नीचे लिखे कुछ वाक्यों में उनके मेधावी और विराट व्यक्तित्व की विवेचना की। नगेंद्र जी के शब्दों में :

“हिंदी साहित्य में कोमल और मधुर भावना के अमर कवि अनेक हैं, परंतु विराट भाव को अपने पौरुष दीप्त स्वरों में बाँधने वाले कवि प्रसाद और निराला

के बाद मुश्किल से नजर आते हैं। दिनकर का गौरव यह था कि उनको विराट और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त हुआ।”

हिंदी साहित्य में जिन नौ रसों की कल्पना की गई है उनमें कोमल (करुणा) रस के बिना कवि की कल्पना ही संभव नहीं है। अतः मानना होगा कि कोमल भाव से प्रेरित और अनुप्राणित होकर ही कवि अपने काव्य सृजन में प्रेरित और तत्पर होता है। किंतु जिस कवि में महत् अथवा विराट भाव की अनुभूति हो जाय फिर तो उसके काव्य, उसकी रचना का कहना ही क्या! अणु और विराट, इन दो धुरियों पर ही तो इस जगती का चक्र चल रहा है। जिसके चिंतन में सूक्ष्म और स्थूल, अणु और विराट आ जाता है वह ब्रह्म-साक्षात्कार की क्षमता से भर उठता है और फिर यदि ऐसा व्यक्ति लेखक हो, कलाकार हो, कवि हो तो वह अपनी लेखनी, अपनी कला और काव्य के माध्यम से अपनी अनुभूति को अपनी कृति द्वारा सर्व साधारण को अनुभूत कराने में सक्षम हो जाता है। श्री दिनकर जी ऐसे ही लेखक, ऐसे ही कलाकार और कवि थे जिन्होंने अपने विभिन्न काव्य-ग्रंथों में जीवन सत्य के विभिन्न रूपों का उद्घाटन कर उसका सर्वसाधारण को साक्षात्कार कराने का यत्न किया है।

दिनकर जी से मेरे पुराने और व्यक्तिगत सम्बंध थे। वे साहित्य क्षेत्र के कर्मी और मैं भी। वे हिंदी के उपासक और मैं भी। हिंदी और साहित्य की साधना में एक अर्पित जीवन के रूप में मैंने सदा उन्हें देखा। वर्षों वे राज्यसभा के सदस्य रहे। उसके बाद हिंदी सलाहकार समिति में हम लोगों के साथ-साथ काम कर हिंदी के प्रचार-प्रसार के काम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस कालावधि में मैंने हिंदी के प्रति उनकी लगन और समर्पित जीवन को निकट से देखा।

साहित्य के क्षेत्र में हम लोगों का सदा सहपाठी-सा सम्पर्क-सम्बंध बना रहता। जब उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ ‘उर्वशी’ की रचना की तो अनेक दिनों निरंतर मेरे निवास स्थान पर आकर वे सस्वर उर्वशी के महत्वपूर्ण अंश मुझे और मेरी पत्नी को सुनाते। इसी प्रकार मेरे साहित्य के प्रति भी उनका सदा बड़ा उत्सुक रुझान रहा। जब मेरी कविताओं का ग्रंथावली के अंतर्गत एक खंड में प्रकाशन आरंभ हुआ तो दिनकर जी ने उन कविताओं को स्वयं पढ़ा और कृपाकर उसकी भूमिका भी लिखी।

अपना कोई स्वजन, कोई आत्मीय जब हमसे बिछुड़ता है तो दुख, पीड़ा

और वेदना से मन भर उठे, यह अस्वाभाविक नहीं। फिर चिरवियोग की पीड़ा तो कभी-कभी असह्य हो जाती है। श्री दिनकर जी के चिरवियोग से ऐसा ही कुछ उनके स्वजन अनुभव कर रहे हैं। पर मैं, जो स्वयं चिरगमन के सन्निकट पहुँच रहा हूँ, दिनकर जी के इस वियोग की पीड़ा के साथ उनके जीवन के इस पक्ष से सर्वथा संतुष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि उन्होंने एक कर्मठ और तेजस्वी जीवन जिया और अपने जाने के साथ अपने पीछे रहने वाली पीढ़ी और पीढ़ियों के लिए वे ऐसा साहित्य, ऐसा संदेश दे गये जिस पर वे पीढ़ियाँ गर्व करेंगी। श्री दिनकर जी ने एक प्रसंग पर लिखा है :

“इतिहास को रोशनी उस व्यक्ति से नहीं मिलती जो विजयी या सफल रहा हो, इतिहास को रोशनी सदा उस व्यक्ति से मिलती है जो पुण्य की राह पर हार गया हो।”

जिंदगी के मोर्चे पर दिनकर जी कहाँ जीते, कहाँ हारे, यह हम लोगों, जो उनके निकट साथी रहे, के विचार विवेचन का विषय नहीं है। कुछ लोगों का कथन है और शायद स्वयं दिनकर जी के अंतर्मन की व्यथा से ही प्रेरित जिन कुछ लोगों ने कहा और लिखा है कि दिनकर जी पिछले कुछ वर्षों से खिन्न-मन और दुखी रहे हैं। यह सही भी हो, तो मैं इसे अनुचित नहीं मानता; उल्टे साहित्यकार, कलाकार और कवि का संतुष्ट रहना तो मैं अशुभ मानता हूँ। संभव है दिनकर जी के इस असंतोष, उनके मन की रिक्तता और खिन्नता में समाज, साहित्य और देश का कोई अशुभ चित्र हो क्योंकि मैं ऐसे साधक, साहित्यकार और कवि के जीवन के किसी व्यक्तिगत असंतोष की बात करना भी अप्रिय, अनुचित और अशुभ मानता हूँ।

दिनकर जी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और परम आस्तिक व्यक्ति थे। उनकी आस्तिकता का इससे अधिक उज्ज्वल और ज्वलंत प्रमाण और क्या हो सकता है कि उन्होंने अपने जीवन के अंतिम समय में भगवान वेंकटेश्वर बालाजी के दर्शन के लिए तिरुपति की ओर प्रयाण किया और तिरुपति दर्शन के बाद मद्रास में ही महाप्रयाण कर दिया। स्पष्ट है उनके अंतर्मन में उनके भौतिक अवसान के समय श्री तिरुपति बाला जी की छवि छटा होगी। वही उनके गंतव्य थे, वही उनके लक्ष्य।

एक अगर लाइट हो तो तीन पेट्रोमेक्स ही सही जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

दिनकरजी 'विशाल भारत' में चमक रहे थे। बस समझिये तभी से दिनकरजी से मुलाकात हो गई। यद्यपि वास्तविक मिलना 1944 में पटने में हुआ। उन दिनों मैं टीकमगढ़ में बनारसीदास जी के साथ काम कर रहा था और जब हिंदी पत्रकार संघ की ओर से कुछ जानकारी एकत्र करने के लिए पटना गया तो दिनकरजी से भी मिला। उस समय दिनकरजी ने वही आत्मीयता दिखाई, जो एक गुरुभाई में होनी चाहिए। यह आत्मीयता 19 अप्रैल, 1974 तक कायम रही, जबकि मैं उनसे मिलने उनके तात्कालिक निवास स्थान; 116, मालचा मार्ग; पर गया था और उनसे कसकर दो घंटे बातचीत की थी।

दिनकरजी ने बहुत लिखा है लेकिन उनका 'हिमालय' और 'कस्मै देवाय' 'विशाल भारत' में छपते ही मन में बैठ गए थे। मैं मुख्यतया उनकी वीरतापूर्ण कविताओं का भक्त रहा हूँ और यह भक्ति बहुत पुरानी है। जिन दिनों दिनकर को 'विशाल भारत' हिंदी जगत के समक्ष उपस्थित कर रहा था, छायावाद का दौर-दौर था। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा साहित्य गगन पर छाये हुए थे। उस छाया से दूर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश टिमटिमा रहा था, जिसके प्रतीक थे-माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी। मैथिलीशरण गुप्त को मैंने इस सूची में नहीं लिखा है, क्योंकि उन्होंने अपना स्थान बना लिया था और उनकी किसी कवि से टकराहट नहीं थी। यह बात दूसरी है कि बाज-बाज काशी प्रयाग वाले, दूसरे स्थानों पर जन्मे लोगों को कवि या लेखक मानें ही नहीं और शायद यह परंपरा अभी समाप्त नहीं हुई है।

सन 1952 में जब दिनकरजी राज्यसभा के सदस्य होकर आए तो उन दिनों

राज्यसभा में चमकना आसान काम नहीं था। दिनकर जी साहित्यकार थे, इसलिए लोग समझते हैं कि वे राष्ट्रपति द्वारा नामांकित होकर आए थे। पर ऐसी बात नहीं थी, वे बिहार विधानमंडल द्वारा कांग्रेस के कोटे से निर्वाचित सदस्य होकर आए थे। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी विन्ध्यप्रदेश से निर्वाचित हुए थे। उन दिनों राज्यसभा में श्री मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य नरेंद्र देव, पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे हिंदी के विद्वान थे। बाद में तो श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राज्यसभा के सदस्य हो गए थे। दूसरी तरफ प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, प्रसिद्ध नर्तकी रुक्मिणी अरुंडेल तथा देश के अत्यंत वरिष्ठ समाजसेवक, राजनीतिज्ञ और वक्ता सदस्य थे। सभापति थे श्री राधाकृष्णन। उस समय राज्यसभा भारत की विद्वज्जन मंडली का सही प्रतिनिधित्व करती थी। मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर, सिंधी नेता श्री एन.आर.मलकानी जैसे एक से एक धुरंधर राज्यसभा में विद्यमान थे। फिर भी, जब दिनकरजी बोलते थे तो उनको सारा सदन दत्तचित्त होकर सुनता था और अंग्रेजी पत्रों के संवाददाता भी उनके भाषण के नोट लेने की कोशिश करते थे।

अप्रैल का महीना था। उन दिनों सूर-जयंती की तिथि आ पड़ी थी। श्री गोपाल प्रसाद व्यास ब्रज साहित्य मंडल के मंत्री थे। वे दिनकरजी को महाकवि सूरदास के जन्मस्थान सीही ले गए। वहाँ दिनकरजी ने जो भाषण दिया, उसकी मैंने दैनिक 'हिंदुस्तान' में रिपोर्ट की थी। वैसे भी राज्यसभा के लिए, जो उन दिनों राज्यपरिषद कही जाती थी, मैं दैनिक 'हिंदुस्तान' के लिए रिपोर्ट करता था और यह क्रम चार साल चला। उस रिपोर्ट में मैंने दिनकरजी के नाम के पहले 'राष्ट्रकवि' लिख दिया था। दूसरे दिन जब राज्यसभा में उनसे भेंट हुई तो स्वयं उन्होंने कहा कि यह क्या लिख दिया 'राष्ट्रकवि तो दद्दा हैं'। तो मैंने कहा कि हैं तो आप उपराष्ट्रकवि, लेकिन साहित्य-क्षेत्र में कोई सत्ता का सवाल नहीं है, दो राष्ट्रकवि भी हो सकते हैं। फिर वह शब्द कुछ चल गया। उन दिनों संसदीय हिंदी परिषद के जलसों में दिनकरजी कविता पढ़ते थे। लालकिले के कवि सम्मेलनों में कविता पढ़ते थे और चाहे संसद सदस्यों का समूह हो, या लालकिले की साधारण जनता, सभी में समान रूप से प्रभावशाली सिद्ध होते थे। परंतु इस काल में वे कवि से अधिक हिंदी नेता हो गए थे। राष्ट्रपति ने 7 जून, 1955 को एक राजभाषा आयोग की स्थापना की। इस

आयोग में इक्कीस सदस्य थे, जिनमें राज्यसभा के कई वरिष्ठ सदस्य, जैसे डॉ. पी. सुब्बाराय, प्रसिद्ध हिंदी प्रचारक श्री एम. सत्यनारायण, लोकसभा के उपाध्यक्ष श्री एम. अनन्तशयनम् आर्यंगर, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री जयनारायण व्यास जैसे लोग थे। इस आयोग की नियुक्ति के कुछ दिनों बाद 2 सितम्बर, 1955 को उसके एक सदस्य डॉ. अमरनाथ झा की मृत्यु हो गई और 25 नवम्बर, 1955 को राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उनके स्थान पर रामधारी सिंह दिनकर को आयोग का सदस्य नियुक्त कर दिया। श्री बी.जी.खेर के नेतृत्व में इस आयोग ने 31 जुलाई 1956 को अपनी रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट पर डॉ. सुब्बारायन और डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपना विमति पत्र दिया और इस प्रकार हिंदी के प्रचार के विरुद्ध जो वातावरण बना, उसका सूत्रपात हुआ। इस कारण आयोग के सदस्यों पर बहुत ही जिम्मेदारी का काम था। इस दौरान दिनकरजी हिंदी आंदोलन के एक ऐसे नेता के रूप में उदित हुए जो सभी प्रांतों और भाषाओं के लोगों को साथ लेकर चलना चाहते थे।

जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो दिनकर की रचनाएँ 'परशुराम की प्रतीक्षा' संग्रह के रूप में आईं। ये कविताएँ 1962 के दो-तीन महीनों में ही लिखी गई थीं और जब 9 जनवरी, 1963 को दिनकर जी ने इसकी भूमिका लिखी, तो लिखा था, 'तांडवी तेज फिर से हुंकार उठा है, लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है।'

इस संग्रह की एक कविता में उन्होंने लिखा, जो स्वयं उनके लिए उद्बोध न था :

अरे उर्वशीकार!

कविता की गरदन पर धरकर पाँव खड़ा हो।

हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,

अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बड़ा हो।

कच्चा पानी ठीक नहीं,

ज्वार ग्रसित देश है।

उबला हुआ समुष्ण सलिल है पथ्य,

वही परिशोधित जल दे।

जाड़े की है रात, गीत को गरमाहट दे,

तप्त अनल दे।'

कवि सम्मेलनों में यही कविताएँ जमती थीं। दिनकरजी को पहले साहित्य-अकादमी का और बाद में 'उर्वशी' पर ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिला। लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि इन रचनाओं, 'परशुराम की प्रतीक्षा', के कारण दिनकरजी को राज्यसभा में नहीं नामांकित किया गया। सन 1964 में उन्हें राज्यसभा में बारह वर्ष हो जाते, परंतु उन्होंने 1963 में ही भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति का दायित्व सँभालने के लिए राज्यसभा से त्यागपत्र दे दिया। भागलपुर वे अधिक दिन नहीं रह सके। पर जब उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ा, तब तक उनके स्थान पर दूसरे सदस्य निर्वाचित किए जा चुके थे। कुछ समय बाद ही उन्हें भारत सरकार का हिंदी सलाहकार नियुक्त कर दिया गया और वे 1971 तक इस पर बने रहे।

श्री दिनकर हिंदी सलाहकार क्यों नहीं रहे, इसकी भी कथा विचित्र है। दिनकरजी ने एक प्रस्ताव किया कि मंत्रियों के नाम हिंदी रूप में लिखे जाएँ, यानी अगर 'मिनिस्टर ऑफ एग्रीकल्चर' लिखना हो तो अंग्रेजी में रोमन अक्षरों में 'कृषि मंत्री' लिखा जाए। इस प्रस्ताव को प्रधानमंत्री की स्वीकृति मिल गई थी, लेकिन इसके परिपालन में एक गलती हो गई। वह यह कि लोकसभा और राज्यसभा में सदस्य जो प्रश्न भेजते हैं, उसमें भी उनके प्रश्नों में मंत्रियों के पदनाम हिंदी वाले कर दिए गए और लिखावट अंग्रेजी की रही। इस पर लोकसभा में द्रविड़ मुन्नेत्र कडगम के सदस्यों ने यह आपत्ति उठाई कि वे समझ ही नहीं सकते हैं कि कौन-सा मंत्री उन्हें उत्तर देगा। काफी शोर शराबा हुआ, जिसके बाद यह संशोधन हुआ कि उसके नीचे हिंदी में पदनाम दिया जाने लगा। जिस उद्देश्य से यह प्रथा चालू की गई थी कि लोगों को 'प्राइम मिनिस्टर' की बजाय 'प्रधानमंत्री' और 'रक्षामंत्री' का अभ्यास पड़े, वह पूरा नहीं हुआ। दिनकरजी की कोई मंशा नहीं थी कि संसद में भी यह शब्दावली चले, वे तो सरकारी कामकाज में इसे चलाना चाहते थे। परंतु किसी संयुक्त सचिव के अति उत्साह से ऐसा हो गया। यह घटना तब हुई जब दिनकरजी का कार्यकाल समाप्त हो रहा था और यह प्रश्न विचाराधीन था कि उनका कार्यकाल बढ़ाया जाए या नहीं। यह वह समय भी था, जब उनके बड़े पुत्र रामसेवक सिंह की मृत्यु हो गई थी और दिनकरजी पर उनके परिवार का पूरा दायित्व आ गया था। इसी बीच लोकसभा के नए सदस्यों ने एक वरिष्ठ नेता के आदेश पर एक ज्ञापन पर हस्ताक्षर कराये, जिसमें बहुत-से विभागों के

बारे में यह शिकायत की गई थी कि उनमें हिंदी का काम नहीं हुआ। उधर दिनकरजी कई बार प्रधानमंत्री से कह चुके थे कि उनकी तबीयत खराब है और प्रधानमंत्री ने भी उनसे कहा था कि आप इलाज कराने यूरोप चले जाइये। इन सारे उपक्रमों का परिणाम यह हुआ कि प्रधानमंत्री ने तय किया कि अब वे ऐसे पद पर किसी राजनीतिज्ञ के स्थान पर सरकारी अफसर रखें, जिससे कि कोई पार्टीबंदी बने ही नहीं और श्री जगदीश चंद्र माथुर उनके स्थान पर हिंदी सलाहकार नियुक्त किए गए।

दिनकरजी की मुझ पर व्यक्तिगत कृपा रहती थी और बहुत-सी समस्याओं पर विचार-विनिमय भी होता था। जब मैं समाचार भारती में पहुँचा तो उन्होंने मुझे आशीर्वाद का एक पत्र भेजा था फिर वे मिले और उन्होंने कहा कि मेरे मित्र एक दैनिक निकालना चाहते हैं, अगर तुम उसका सम्पादक होना स्वीकार करो तो। श्रीरामनाथ गोयनका 'जनसत्ता' को दिल्ली में फिर से निकालना चाहते थे, परंतु मुझे समाचार भारती में आये दो महीने भी नहीं हुए थे, इसलिए मैंने क्षमा माँग ली और कहा कि यह अच्छा नहीं लगता। तब उन्होंने अशोकजी से कहा, उनको भी छुट्टी नहीं मिली और न ही वह पत्र दिल्ली से निकला।

दिनकरजी की पौत्री के विवाह के अवसर पर उनके बड़े-बड़े मित्र, प्रशंसक दूर-दूर से आए थे। उसके बाद दिनकरजी दिल्ली में ही रह रहे थे। एक दफा उनसे मिला भी था। एक दिन संसद के केंद्रीय कक्ष में भेंट हो गई। वे जा रहे थे कि बैठ गए और लगभग दो घंटे तक बातें होती रहीं। उस दिन उन्होंने एक बात कही जिससे लगा कि वे वास्तव में अपने को खोखला महसूस करते हैं। उन्होंने कहा कि अब सब पौरुष समाप्त हो गया है। उन्होंने अपनी डायरी में मेरा दो-तीन बार जिक्र किया था, मैंने उनसे कहा कि आप आत्मकथा क्यों नहीं लिख देते, तो वे बोले कि सच्ची आत्मकथा कोई नहीं लिख सकता, सब अपनी मूर्ति बना-सँवारकर दिखाना चाहते हैं। हाँ, मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ- मेरे समकालीन, उसमें कुछ लोगों के चरित्र आ जाएँगे। दूसरे दिन, यानी 18 अप्रैल को स्टार (पब्लिकेशन) वालों के यहाँ उन्होंने जैसे ही मुझे देखा, दौड़कर मेरे पास आए और बोले-कि तुम नाम दो तो मैं एक पत्र निकालूँ। मैंने उनसे कहा, कल मिलूँगा। दूसरे दिन सवेरे उनसे मिलने गया तो उन्होंने योजना बताई कि वे एक साप्ताहिक पत्र निकालना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा कि अब 'लोकराज' निकाल दिया है, दूसरे पत्र में जाना तो आसान नहीं है।

आप इसी में जो लिखना चाहें, लिख दें। तब वे बोले कि नहीं, नई दिल्ली में ठहरने के लिए कोई प्रबंध होना चाहिए। तुम चार आदमी बताओ, एक अगर लाइट हो तो तीन पेट्रोमेक्स ही सही, काम तो करें। मैंने उन्हें पत्र-संचालन की कठिनाइयाँ बताई तो उन्होंने कहा कि लाभ-हानि तो एक दूसरे सज्जन की होगी। बाद में पता लगा कि श्री रामनाथ गोयनका के सहयोग से वे पत्र निकालने वाले थे। पर साथ-साथ यह भी कहते जाते थे कि यह न बना तो मैं संन्यास ले लूंगा। क्या मालूम था कि यह आखिरी मुलाकात होगी। वह ठहाका, वह जोश के साथ बातें...।

मेरे गुरु बच्चू प्रसाद सिंह

मैं लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर का छात्र था। कॉलेज की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी। समारोह के लिए तरह-तरह की तैयारियाँ हो रही थीं। उनमें एक प्रमुख आकर्षण यह था कि उक्त अवसर पर विद्यार्थियों के बीच राष्ट्रकवि दिनकर समारोह में पधारने वाले थे। छात्रों की ओर से दिनकर की रचना 'मगध आपेरा' को मंच पर प्रस्तुत किया जा रहा था। दिनकर उस समारोह में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह आये। छात्र समुदाय ने अपने प्रिय कवि का हार्दिक स्वागत किया और फिर उसके कुछ ही दिनों के बाद यह समाचार कॉलेज में फैलने लगा कि राष्ट्रकवि दिनकर यहाँ हिन्दी विभागाध्यक्ष का कार्यभार संभालेंगे। इस समाचार के मिलते ही पूरे कॉलेज के वातावरण में उत्साह की एक लहर-सी दौड़ गयी। विद्यार्थियों के मन में एक आकुल उत्कंठा उत्पन्न होने लगी कि कब हमारे बीच दिनकर पधारेंगे और वह दिन कितना महत्त्वपूर्ण होगा जब दिनकर की ओजस्वी वाणी के माध्यम से हम सभी हिन्दी साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। मेरे विचार से इस आकुल उत्कंठा के दो प्रमुख कारण थे। पहला कारण तो यह था कि कॉलेज में जब तक कोई बड़ा साहित्यिक समारोह आयोजित न हो तब तक दिनकर का हम लोगों के बीच आने का प्रश्न ही नहीं उठता था और यह घड़ी साल दो साल की प्रतीक्षा के बाद ही आ पाती थी। दूसरा जो उससे भी प्रबल कारण था- वह हम लोगों के मन की यह भावना थी कि जिन महान साहित्यकारों की रचनाएँ हम अपने पाठ्यक्रम में पढ़ा करते हैं और जिन्हें हमारे अध्यापक परम्परागत शैली में पढ़ाते हैं, उनकी खूबियाँ और खामियाँ अपने ढंग से बताते हैं, उस संदर्भ में यह बात कितनी महत्त्वपूर्ण होगी जब दिनकर स्वयं ही हम लोगों को अपनी प्रसिद्ध

रचना पढ़ायेंगे और उनके मुँह से 'कुरुक्षेत्र' का वर्णन कितना अभूतपूर्व होगा। यह स्वाभाविक है कि उस दिन हम अपने को देश भर के उन तमाम विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों से अधिक भाग्यवान समझेंगे चूँकि यह सुअवसर सभी छात्रों को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। कभी-कभी हम लोगों को ऐसा भी लगता कि जब दिनकर स्वयं अपनी रचनाओं का विश्लेषण करने लगेंगे तो यह ब्रह्मा से सृष्टि की कहानी सुनने जैसा आह्लादकारी अनुभव होगा। साथ ही हमारी इस गौरव-भावना के पीछे शायद यह बात भी काम कर रही थी कि हमारे कुछ अध्यापक अपनी बातचीत के दौरान इस बात का उल्लेख किया करते थे कि जब वे हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में छात्र थे तब हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और 'प्रियप्रवास' के प्रणेता हरिऔध तथा स्वनामधन्य गद्यकार बाबू श्यामसुन्दर दास उनके अध्यापक थे। इन बातों को सुन-सुनकर हम लोगों के मन में ईर्ष्या होती थी कि हमारे इन शिक्षकों का कैसा सौभाग्य था कि इन्होंने उन महापुरुषों के मुख से साहित्य की विवेचना सुनी है, जो स्वयं आलोचना के क्षेत्र में मानदंड बन गए हैं। हमारे तत्कालीन अनेक अध्यापक बड़े गुणी और विद्वान थे, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उनकी वह धाक नहीं थी जो सुयश और गौरव उपरोक्त महान विभूतियों को प्राप्त था। दिनकर के हमारे कॉलेज में प्रोफेसर होकर आने की चर्चा से जैसे हम लोगों का बहुत पुराना स्वप्न साकार होने जा रहा था और हम सब कुछ इस तरह आह्लादित हो रहे थे जैसे किसी रामभक्त को स्वयं तुलसीदास के मुख से रामचरितमानस सुनने का सुअवसर प्राप्त होने वाला हो। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद दिनकर हमारे कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर और अध्यक्ष बनकर आये और उनके आगमन से पूरे नगर का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। चारों ओर इस बात की चर्चा होने लगी कि दिनकर हमारे बीच हैं। उनकी उपस्थिति से नौजवानों की साहित्यिक चेतना को बड़ी स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। दिनकर ने कॉलेज को ही नहीं बल्कि उस क्षेत्र की तमाम साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को अपनी उपस्थिति से आगे बढ़ने में सहयोग दिया। मुझे याद है कि जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर कॉलेज के प्रोफेसर थे उन्हीं दिनों 'भूमिका' के कवि श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, 'जवानी और जमाना' के गायक डा. श्याम नन्दन किशोर, प्रयोगवादी कवि राजेन्द्र किशोर और गीतकार रमेश किरण साहित्यिक जगत में अपनी रचनाओं को लेकर आगे

आ रहे थे। उन सबको दिनकर का आशीष और मार्ग-दर्शन सहज ही सुलभ हुआ। दिनकर की प्रेरणा से ही इन कवियों ने हिन्दी कविता की श्रीवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर में प्रोफेसर होकर आए उन्हीं दिनों उन्हें समीप से जानने का मुझे अवसर मिला और मैं अपने जीवन के उस क्षण को बड़ा महत्वपूर्ण और गौरवशाली समझता हूँ। दिनकर जैसे हिन्दी के सर्वाधिक समर्थ कवि और सहृदय व्यक्ति को जब हम लोगों ने अपने बीच पाया तो 'साकार, दिव्य गौरव विराट' की अनुभूति कुछ हम लोगों के मन में भी उतरने लगी। समग्र छात्र-समुदाय ने अपने को अब कुछ अधिक समर्थ और तेजस्वी महसूस करना शुरू किया। संभवतः दिनकर के महान व्यक्तित्व की हमारे कॉलेज पर यह पहली छाप थी। हमारे कॉलेज का वातावरण बड़ा ही विशाल और उन्मुक्त था। उसकी बड़ी-बड़ी परम्पराएँ थीं। वहाँ स्वर्गीय डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और आचार्य जे.बी. कृपलानी जैसे लोग प्रोफेसर रह चुके थे। फिर भी उस कालेज की गरिमा और उसकी व्यापकता दिनकर के विराट व्यक्तित्व के सामने कुछ छोटी दिखाई पड़ने लगी। कारण, दिनकर में जो अपूर्व ओजस्विता, विद्वता, महानता और सरलता के साथ विशिष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा का समन्वय था, वह सब अद्भुत था। हमारे कॉलेज के तमाम लोगों को दिनकर के कॉलेज में आने के बाद ही इस बात का अहसास हुआ कि किसी प्रोफेसर का व्यक्तित्व भी इतना ऊँचा हो सकता है जिसके सामने सारा कुछ हल्का मालूम पड़ने लगे। दिनकर जब अपने आवास से कॉलेज की ओर आने लगते तो कुछ ऐसा आभास होता कि एक गरिमापूर्ण ज्योतिपुंज हम लोगों के मध्य तीव्रगति से बढ़ता चला जा रहा है। हम सभी उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते जब वे प्राध्यापक कक्ष से कक्षाओं में आकर अपने ऊँचे सधे स्वर में हम लोगों को यह बताते कि साहित्य क्या है? जीवन क्या है? कविता क्या है और कवि क्या है? दिनकर के भाषणों को सुनने से पहले हम लोगों को कभी यह जानने का अवसर नहीं मिला था कि किसी रचना की प्रक्रिया में कवि का मन किन-किन स्थितियों से गुजरता है? कवि-मन कहाँ-कहाँ विचरण कर किन-किन बिन्दुओं पर रम जाता है और जहाँ कवि का मन रम गया वहीं से कविता का सौरभ कैसे फूट पड़ता है। उन्हीं दिनों अपने एक भाषण में कविता की व्याख्या करते हुए दिनकर ने कहा था- "कलेजे में जो लग जाए, उसी को तीर कहते हैं"।

उनकी इस परिभाषा ने कविता की तमाम शास्त्रीय परिभाषाओं को हम लोगों की दृष्टि में कान्तिहीन बना दिया था। दिनकर के भाषण इतने प्रभावशाली हुआ करते थे कि पूरे चार-पाँच सौ विद्यार्थियों की कक्षा में सदैव स्तब्धता छाई रहती थी। वे छात्र भी, जिनका विषय हिन्दी नहीं था, इन कक्षाओं में आते और दिनकर के मुख से कविता की पृष्ठभूमि सुनकर आह्लादित हुआ करते थे। दिनकर अपनी कक्षाओं में किसी एक कविता को लेकर उस युग का पूरा इतिहास, उसकी सांस्कृतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि और रचना प्रक्रिया की विशेषताओं का सरल, सुगम शब्दों में इस प्रकार वर्णन करते थे कि छात्रों के समक्ष कविता का पूरा चित्र जीवंत रूप में सामने आ जाता था। दिनकर हम लोगों की कक्षा में पंत की रचना 'गुंजन' पढ़ाया करते थे और उस पुस्तक की पहली कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' के बारे में उन्होंने जो विद्वतापूर्ण व्याख्या दी उससे अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में तप की विशेषताओं के साथ-साथ भारतीय दर्शन की अनेक गुत्थियाँ हम लोगों के लिए सुबोध हो गयीं।

दिनकर महान कवि के साथ-साथ महान् विचारक भी हैं और चिंतन के द्वारा वे किसी भी रचना की अतल गहराई तक पहुँचकर सत्य को खोज निकालने में अपना सानी नहीं रखते। दिनकर ने कभी एक कविता उठाई और उसके माध्यम से उन्होंने बौद्ध, जैन, ईसाई और हिन्दू-दर्शनों का विश्लेषण सुरुचिपूर्ण ढंग से छात्रों के सामने प्रस्तुत कर दिया। फिर उन बिन्दुओं की ओर संकेत भी कर दिया जो उस कविता के मर्म थे और जिनको जाने बिना कविता को हृदय के धरातल पर उतारना कठिन था।

दिनकर की एक विशेषता यह भी थी कि उनको पढ़ने का व्यसन था। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी। जब हम लोग कक्षाओं में उनके भाषण सुना करते थे तो मुझे याद है कि वे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की सौ-सौ पंक्तियाँ एक स्वर में और उपयुक्त संदर्भ के अनुसार सुना दिया करते थे। बीच-बीच में मुझे भी टोक दिया करते थे चूँकि मैं अंग्रेजी साहित्य का छात्र था। मैं उनकी स्मरण शक्ति से बड़ा चमत्कृत हुआ करता था। मुझे अपने ऊपर इस बात की ग्लानि हुआ करती थी कि अंग्रेजी का छात्र होकर भी मुझे उतनी पंक्तियाँ याद नहीं थीं जितनी दिनकर को। सिर्फ अंग्रेजी की ही बात नहीं, दिनकर बांग्ला के रवीन्द्रनाथ टैगोर और नजरूल इस्लाम तथा उर्दू के इकबाल की अनेक कविताएँ अबाध गति से सुनाया करते थे। उन दिनों हम लोग यह

सोचा करते थे कि दिनकर में अवश्य ही कोई दिव्यशक्ति है जिसके कारण वे अपनी हजारों कविताएँ तो याद रखते ही हैं; दूसरे कवियों की भी अनेक रचनाएँ उन्हें इस तरह याद रहती हैं कि उनको कहीं रुकना नहीं पड़ता। दिनकर उन दिनों 'रश्मि रथी' की रचना कर रहे थे। बीच-बीच में अपने घर पर बुलाकर उसके कुछ अंश हम लोगों को सुनाया करते थे। कविता सुनाने की उनकी शैली और उनकी ओजभरी वाणी अद्वितीय थी। जब वे कर्ण की वीरता का प्रसंग बखानते तो बरबस सबकी भुजाएँ फड़क उठतीं। यही उनकी वाणी का दिव्य प्रभाव था जो अब सर्वथा दुर्लभ है। यों तो दिनकर का अपना परिवार भी काफी बड़ा था लेकिन हम छात्रों की छोटी-बड़ी मंडली उनके घर प्रायः नित्य ही जमा करती थी। हम लोगों की आवभगत की जिम्मेदारी उनके ज्येष्ठ पुत्र रामसेवक पर हुआ करती थी। दिनकर के घर जाकर हम लोगों को अपने घर से दूर होने का दुःख बहुत हद तक दूर हो जाया करता था।

जैसा कि पहले ही निवेदन कर चुका हूँ- दिनकर के हमारे कॉलेज में आ जाने से हमारे कॉलेज की साहित्यिक गतिविधि बहुत तेज हो गयी। हमारे यहाँ उनकी उपस्थिति के कारण बड़े-बड़े साहित्यकार हमारे समारोहों में आने लगे। कॉलेज की हिन्दी-साहित्य परिषद् अपने साहित्यिक कार्यक्रमों के कारण बहुत अधिक लोकप्रिय बन गई और कुछ दिनों तक मुझे भी कालेज की हिन्दी परिषद के सचिव का कार्यभार संभालना पड़ा जब दिनकर इस परिषद के अध्यक्ष थे। उन्हीं दिनों हमारे साहित्यिक उत्सवों के अवसर पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं. जनार्दन झा 'द्विज' छात्रों के बीच आए। पं. द्विज के भाषण में कुछ ऐसा तेज था, कुछ ऐसी गति थी और इतना प्रवाह था कि सब लोगों ने एक स्वर से यह माना था कि द्विज जैसे वक्ता हिन्दी में बहुत कम है। उनका भाषण सुनकर गंगोत्री में गंगा की याद आती थी। फिर जब आचार्य द्विवेदी बोले तो उनकी सरल सहज मुस्कान के साथ फूटने वाली मधुर वाणी ने प्रखर प्रतिभावान, तपोनिष्ठ भारतीय पंडित की समस्त विशेषताओं को श्रोताओं के सामने खड़ा कर दिया था।

दिनकर छात्रों के बीच ही नहीं अध्यापकों के बीच भी अत्यन्त लोकप्रिय थे। सभी लोग उनका समान रूप से सम्मान किया करते थे। दिनकर के जीवन की यह एक विशेषता थी कि वे किसी एक स्थान पर या एक पद पर बहुत दिन तक बंधकर नहीं रहे। संभवतः वे जिन पदों पर गए वे उनकी प्रतिभा और

प्रतिष्ठा के समक्ष छोटे पड़ते गये और दिनकर इन पदों का गौरव बढ़ाकर आगे बढ़ते गये। लगभग दो वर्ष तक मुजफ्फरपुर कॉलेज में अध्यापन के बाद दिनकर राज्यसभा के सदस्य होकर दिल्ली आए। दिल्ली जिस पर उन्होंने आजादी के पहले और आजादी के बाद बहुत कुछ लिखा था उसको बहुत समीप से निरखा, परखा और फिर इसे उन्होंने 'रेशमीनगर' की संज्ञा दी।

राज्यसभा में सदस्य होने के बाद मेरा संपर्क उनसे कुछ कम होता गया और बीच-बीच में कलकते में उनके दर्शन का मुझे सुअवसर मिलता रहा। एक बार जब दिनकर राज्यसभा के सदस्य होने के बाद कलकते आए और मैंने उनसे राज्यसभा के बारे में पूछा तो उन्होंने बड़ा ही दिलचस्प उत्तर दिया। उन्होंने कहा-“संक्षेप में यदि तुम राज्यसभा और लोकसभा के बारे में मुझसे जानना चाहते हो तो मैं इतना ही कहूंगा कि इन दोनों सदनों के हम सभी सदस्य गोपियां हैं और हम लोगों के बीच पंडितजी कृष्ण हैं। हम सभी इस बात की कोशिश में रहते हैं कि कृष्ण हम पर रीझ जाएँ।” दिनकर जिस समय इस स्थिति का वर्णन कर रहे थे, मेरे साथ मेरे और उनके बहुत-से मित्र थे। दिनकर की इस उक्ति से सभी के मुख पर मुस्कान बिखर दी। बाद में हम सभी सोचते रहे कि दिनकर ने इस एक उक्ति के माध्यम से देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का कितना सच्चा निरूपण प्रस्तुत किया है। इसीलिए सभी दिनकर की अभिव्यंजना शैली की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते हैं। सभी मानते हैं कि आप अपनी बात एक बार दिनकरजी को सुना दें और उसके बाद फिर उनसे वही सुन लें तो दोनों के प्रभाव का कुछ इतना अंतर होगा कि आप स्वयं यह मानने लगेंगे कि जो बात मैंने कही थी वह तो कुछ भी नहीं थी; दरअसल बात यही थी जो मैं कहना चाहता था।

दिनकर राष्ट्रकवि और महान चिंतक थे। दिनकर को समीप से जानने पर ही यह पता चलता था कि दिनकर में मात्र ज्वाला ही नहीं, हिम की शीतलता, हिमालय की विराटता और गंगा की गंभीरता एवं शुचिता भी थी। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने उनके चरणों में बैठकर कुछ सीखा और उनका विपुल स्नेहाशीष मुझे प्राप्त हुआ। उनकी यह विशेषता थी कि जहाँ भी उन्हें श्रद्धा और सम्मान मिलता था, जिस कोने में उन्हें भक्ति दिखाई देती थी; वहाँ उनके मन का कपाट सहज ही खुल जाता था। सारे अन्तर मिट जाते थे और एक निश्छल, दर्शनीय विराट व्यक्तित्व की झांकी अत्यंत सहज सुलभ हो जाती थी।

मन यह नहीं मानता कि 24 अप्रैल 1974 की अर्द्धरात्रि को राष्ट्रकवि दिनकर इस लोक से चले गये-‘जगती की सीमा शेष हुई’ और ‘नीचे की महफिल उजड़ गई’। मेरा मन तो उनके निम्नांकित स्वरूप का ही सदा स्मरण करता रहेगा-

पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक कमल सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना कोना,
जिसको मैंने छू दिया, हुआ वह सोना।
मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

हिन्दी के प्रबल समर्थक दिनकर अशोकजी

कलकत्ते के 'विशाल भारत' में, सन् 1932 के करीब हिन्दी के तीन ओजस्वी कवियों पर एक लेख निकला था। जहाँ तक याद पड़ता है; ये थे दिनकर, मिलिन्द और सोहनलाल द्विवेदी। द्विवेदीजी की प्रसिद्ध कविता 'राणा प्रताप', मिलिन्द की 'उगता हुआ राष्ट्र' और दिनकर की गांधी जी के ऊपर एक कविता लेख में उद्धृत की गयी थी, जिसकी प्रारंभिक पंक्ति थी- चक्रपाणिता तज धोने को पाप पंक के परनाले ...विप्लव के झाड़ूवाले। उस समय गांधी जी ने हरिजन उद्धार का आयोजन छेड़ रखा था, इसलिए उनके 'झाड़ूवाले' के रूप में अवतार की कल्पना मौजू थी, किन्तु सोहनलाल और मिलिन्द की कविताओं के मुकाबले उस समय मुझे दिनकर की कविता हलकी लगी।

किन्तु दिनकर की प्रतिभा दिन पर दिन चमकती गयी और कालक्रम में वे मिलिन्द और द्विवेदी से कहीं आगे निकल गए। कारणों में मैं न जाऊँगा, किन्तु मेरे मत से दिनकर की विशेषता यह थी कि हिन्दी के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भाँति वे बासी नहीं पड़े। शायद इसका कारण उनकी सतत साधना थी। दिनकर प्रायः अस्त होने तक मध्याह्न पर ही रहे। दिनकर जैसा पढ़ने वाला साहित्यकार मैंने कम ही देखा। वे हिन्दी के उन स्वनामधन्य साहित्यकारों में न थे जो पढ़ने से इस कारण कतराते हैं कि इससे उनकी मौलिकता पर जरब लगेगा।

दिनकर से मेरा परिचय बढ़ा, मेरे काशी के 'संसार' के संपादन काल में। उन दिनों (1940 से 50 तक) काशी की साहित्यिक गतिविधियाँ काफी तेजी पर थीं। रायकृष्ण दास उन दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सर्वेसर्वा थे और उन्होंने सभा में साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी बहा दी। काशी में कोई भी साहित्यकार व कलाकार आता तो राय साहब उसे सभा में अवश्य

बुलाते और गोष्ठी करते। अपने घर व भारतेन्दु भवन में भी वे इनकी पधारई करते। भारतेन्दु के कृति वंशज डॉ. मोतीचन्द्र और उनके अनुज काशी के प्रमुख राष्ट्रकर्मी चौधरी लक्ष्मीचन्द्र, भारतेन्दु की गुणग्राहकता और सहृदयता की परम्परा का निर्वाह कर रहे थे। चौधरी लक्ष्मीचन्द्र कर्मठता की मूर्ति थे और राय साहब के दाहिने हाथ थे।

राय साहब की विशेषता थी, और है, उदीयमान प्रतिभा को पूरा-पूरा प्रोत्साहन देना। दिनकर, यशपाल, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा उनकी सहृदयता के साक्षी हैं। राय साहब का घर दिनकर जी का काशी में स्थायी डेरा बन गया। उनके 'कुरुक्षेत्र' काव्य का अवतरण (विमोचन नहीं) कराने के लिए उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक के घर पर विशेष गोष्ठी की। यह भी उनकी छोटों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति का परिचायक था कि इस गोष्ठी के आयोजन के लिए उन्होंने मुझे चुना। हाँ, यह मैं कहना भूल गया कि इस समय काशी में एक और छोटी-सी संस्था साहित्य क्षेत्र में बड़ी सक्रिय थी - यह थी प्रसाद परिषद्। संस्था के सदस्य 30 से कम ही थे जिनमें अधिकांश युवा थे। इस पर रायकृष्ण दास, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश और नंददुलारे वाजपेयी आदि का भी वरदहस्त था। यह गोष्ठी इसी परिषद् की थी और इसमें जहाँ तक मुझे स्मरण है, सम्पादक-प्रवर पराङ्कर जी के अतिरिक्त आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द जी तथा श्रीप्रकाश जी मौजूद थे। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के ओजमय पाठ से पूरी गोष्ठी को मंत्र-मुग्ध कर लिया, विशेषकर युधिष्ठिर की ग्लानि का अंश बड़ा ही मार्मिक था। द्वितीय विश्वयुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था और संदर्भ में 'कुरुक्षेत्र' की रचना बड़ी सामयिक थी। इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल सामयिक थी, उसका स्थायी मूल्य है।

दिनकर की समय के साथ चलने की क्षमता चीन-युद्ध के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी व्यक्त हुई। कहना अत्युक्ति न होगी कि दिनकर राष्ट्र के मूड को पकड़ लेते थे और उनकी वाणी में राष्ट्र की भावना मुखर हो उठती थी।

दिनकर के व्यक्तित्व का एक और पहलू, उनके राज्य सभा की सदस्यता के समय प्रकट हुआ। जिस समय दिनकर दिल्ली आये, उस समय वहाँ मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, सेठ गोविन्ददास जैसे साहित्य महारथी मौजूद थे। अपने व्यक्तित्व के बल पर दिनकर इस मण्डली में सूर्य की भाँति चमकते थे। उनका निश्चल प्रेम और प्रोत्साहन उनको आगे बढ़ाने में सहायक हुआ। अपने

ओजस्वी व्यक्तित्व के कारण दिनकर ने बहुत शीघ्र जवाहर लाल नेहरू का ध्यान आकृष्ट कर लिया। इसके बाद पंडितजी ने दिनकर को पोलैंड भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में भेजा। दिनकर की पैनी दृष्टि का यह प्रमाण है कि पोलैंड में कम्युनिस्ट व्यवस्था की फौलादी जकड़ से छूटने के लिए छटपटाते विद्रोही स्वर को उन्होंने पहचाना और पोलैंड से लौटकर उन्होंने वहाँ की साहित्यिक और सांस्कृतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक स्थिति की नयी प्रवृत्तियों की भी चर्चा की। थोड़ी ही दिनों के बाद पोलैंड में व्यवस्था के विरुद्ध विस्फोट हुआ और दिनकर की पेशीनगोई सही उत्तरी।

कुछ लोगों ने दिनकर पर आक्षेप किया किंतु दिनकर की हिन्दी निष्ठा कितनी गहरी थी और हिन्दी पर अनुचित प्रहार के प्रतिरोध में वे कितने तत्पर थे, इसका प्रमाण शीघ्र ही मिला। इस प्रकरण से मेरा व्यक्तिगत संबंध है और पहली बार इससे सम्बन्धित बातों को मैं प्रकाश में ला रहा हूँ।

सन् 1962 के चुनाव में डा. केंसकर के हार जाने के बाद श्री गोपाल रेड्डी केन्द्रीय सूचना प्रसारण मंत्रालय के मंत्री नियुक्त हुए। इस नियुक्ति का अनुमोदन राजधानी के, विशेषकर संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों ने किया था। डा. केंसकर हिन्दी प्रेम के लिए प्रख्यात थे और नेहरू जी भी चाहते थे कि उनके स्थान पर हिन्दी का कोई हितैषी ही मंत्री नियुक्त हो, इसलिए उन्होंने इस नियुक्ति के विषय में संसद के हिन्दी नेताओं के मन की टोह ली थी। किंतु शीघ्र ही पता चल गया कि श्री गोपाल रेड्डी को पहचानने में हिन्दी वालों ने गहरी भूल की थी। मंत्री होते ही श्री रेड्डी ने हिन्दी-उर्दू को एक करने के नाम पर हिन्दी का उर्दूकरण आरंभ कर दिया। उनकी इस नीति का जिन अधिकारियों ने विरोध किया, वे उनके कोप के शिकार हुए। उन्होंने ठाकुर जयदेव सिंह और श्री रामचन्द्र टण्डन जैसे योग्य व्यक्तियों को निकाल बाहर किया। श्री नरेन्द्र शर्मा तथा मोहन सिंह सेंगर पर भी उनकी कुदृष्टि पड़ी। वह हिन्दी समर्थकों को 'हिन्दी-फैनेटिक' कहकर व्यंग्य किया करते थे।

इन पंक्तियों का लेखक उस समय केन्द्रीय सूचना विभाग का अधिकारी था। अधिकारियों की एक बैठक में श्री रेड्डी ने अपनी उर्दूकरण नीति का समर्थन करते हुए 'हिन्दी-फैनेटिक' लोगों पर आक्रोश व्यक्त किया। माननीय संसद सदस्यों को उनके पीठ पीछे गाली देने का प्रतिवाद इस जन ने किया और इस कारण उनके रोष का लक्ष्य हुआ। उस समय उनके उपमंत्री और

उर्दूकरण में सहायक दिल्ली के लाला श्यामनाथ थे, जो उर्दू और हासोन्मुख दिल्ली की मुगलिया कल्चर के हामी होने के कारण मुगलिया अग्रवाल कहे जाते थे। उस समय श्री रेड्डी की कुचेष्टा का डटकर विरोध करने वाले संसद सदस्यों में दिनकर जी अग्रणी थे। तर्क और तथ्य प्रस्तुत करने में उन्होंने मेरी सहायता ली, पर उनकी ओजस्वी वाणी के बिना तर्क और तथ्य व्यर्थ होते। दिनकर जी के नेतृत्व में संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों का जो प्रबल विरोध संगठित हुआ उससे नेहरू जी भी विचलित हुए और उन्होंने रेडियों की हिन्दी नीति की समीक्षा करने के लिए एक समिति नियुक्त की। हिन्दी के एक स्वनामधन्य कवि, जो श्री रेड्डी की हिन्दी-विरोधी नीति की खिल्ली उड़ाया करते थे, किस प्रकार बाद में सलाहकार नियुक्त होने पर पलटी खा गये, उसकी अलग कहानी है। किंतु श्री रेड्डी अधिक खुराफात कर सकें, इसके पूर्व ही कामराज योजना में उनका पत्ता कट गया और उनके स्थान पर हिन्दी के परम हितैषी श्री राजबहादुर नियुक्त हुए। इस परिणति का श्रेय सबसे अधिक यदि किसी को दिया जा सकता है तो दिनकर जी को; यद्यपि लोगों का ऐसा संदेह है कि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ही भाँति उनको भी हिन्दी के इस प्रबल समर्थन के कारण मंत्री पद से वंचित रहना पड़ा।

दिनकर जी से मेरा जो प्रगाढ़ प्रेम था, उसकी चर्चा करना यहाँ उचित न होगा। मैं कृतज्ञतापूर्वक इस बात को स्मरण करूँगा कि उन्होंने हिन्दी के एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक का पद मुझे ऑफर किया और इसके बाद देश के एक प्रमुख पत्र-प्रकाशक को सुझाया कि मैं उनके नये निकलने वाले पत्र का सम्पादक बनाया जाऊँ। भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार के रूप में दिनकर जी ने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में सरकारी कामकाज में हिन्दी को बढ़ाने की चेष्टा की। इस विषय में भी वे बराबर मुझे स्मरण करते रहे, यद्यपि परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि अन्त में उनको हार माननी पड़ी। इसी समय उनके ऊपर उनके ज्येष्ठ पुत्र की अकाल मृत्यु का वज्राघात हुआ, जिससे उनकी कच्ची गृहस्थी का भार उनके कंधों पर आ पड़ा। दिनकर का स्वर्णशैलाभ शरीर रोग के आक्रमण से अंदर से खोखला हो चुका था। मन भी उनका विषण्ण हो उठा था। इसी समय एक बार कुशल-क्षेम पूछने पर उन्होंने कहा कि 'मित्र मैं हारी हुई लड़ाई लड़ रहा हूँ। डाइबिटीज और एन्जाइना, दोनों ही मुझे मृत्यु की ओर ढकेल रहे हैं।' इसके बाद दिनकर बहुत दिन न जिये।

दहक उठे जो अंगारे बन गए,
कुसुम कोमल सपने थे,
... अधिक सबसे अपने थे,
अब चल उसके द्वार सहज जिसकी करुणा है।

दिनकर ने लाल स्याही वाले पेन से निशान लगाए थे पद्मा सचदेव

कुछ बरस पहले राष्ट्रकवि दिनकर जी के पोते अरविंद ने फोन पर कहा, 'इस बार बाबा की पुण्यतिथि पर आपको बुलाने के लिए सब कह रहे हैं। मेरे मित्र इस बार नालंदा में बाबा की पुण्यतिथि मनाना चाहते हैं।' मैंने झट 'हाँ' कर दी। मैंने सोचा, बच्चों का ज्यादा खर्च नहीं होना चाहिए। मैं ट्रेन से ही पटना गई। स्टेशन पर अरविंद और उसका बेटा खड़े थे। सुबह अभी पूरी तरह जागी न थी, पर दिनकर जी के पोते और परपोते के मुँह चमक रहे थे।

जब हम दिनकर जी के घर पहुँचे तो पूरब में जाफरानी रंग को चीरता सूर्य अपनी पूरी छटा के साथ आसमान की पगड़ी के ऊपर कलगी जैसा चमक रहा था। मैंने प्रणाम किया, मुझे लगा, दिनकरजी जान गए हैं, मैं आई हूँ।

सन् 1957 का वह दिन याद आया, जब मैं श्रीनगर कॉलेज में बारहवीं कक्षा में थी। हम निशात बाग गए थे। पिकनिक में लड़कियाँ जहाँ-तहाँ खुशबू की तरह मँडरा रही थीं। हम गिरते पानी के इस तरफ थीं। सामने बहुत ऊँचे चनार के तने से पीठ टिकाए एक भव्य पुरुष बैठे थे। देखा तो जाना, ये दिनकरजी हैं। शायद अपने जीवन में पहली बार मैंने इतने बड़े कवि को देखा था। अभिभूत हो गई। डोगरी में एक कवयित्री के तौर पर लोग मुझे जानने लगे थे। मन में आदर-भाव लेकर दोनों हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम किया, पर शायद उन्होंने उतनी दूर से मुझे नहीं देखा। मेरे पाँव तले हरी-हरी सुंदर दूब थी। सामने विशाल चनार से टेक लगाए जो बैठे थे, वे तो हिमालय थे। मैंने मन में संकल्प किया -ठीक है हिमालय, जब भी इस दूब का पहला कविता-संग्रह छपेगा, भूमिका आप ही लिखेंगे। सन् 1966 में मेरी नई-नई शादी हुई थी। एक दिन

पतिदेव ने कहा, अब आपकी पुस्तक आ जानी चाहिए। एकदम याद आया, भूमिका तो दिनकरजी से लिखवानी है। जम्मू में ही हिन्दी-संस्कृत की विद्वान डॉ. शांता शर्मा दिनकरजी की मित्र थीं। हम उन्हें 'दीदी' कहते थे। उन्हें पत्र लिखा तो उन्होंने दिनकरजी से समय ले लिया।

मैं अपने पति के साथ उनके घर गई। उस समय वे भोजन कर रहे थे। पतिदेव मुझे वहीं छोड़कर अपने दफ्तर चले गए। मैं जिस कमरे में बैठी थी वहाँ एक नवजात शिशु के रोने की अवाज आ रही थी। मन हो रहा था कि जाकर बच्चे को देखूँ, पर कहीं कोई नहीं था। थोड़ी देर में दाँत कुरेदते हुए दिनकरजी भीतर से निकले। मैंने झट उठकर उनके पाँव छुए तो बोले, 'अच्छा तुम्हीं पद्मा हो। शांता ने लिखा था, तुम कवयित्री हो। चलो देखें, क्या लिखा है।' अपने कमरे की तरफ जाते हुए वे बोले, पाँच मिनट का समय है। डर के मारे मेरा शरीर सुन्न हो गया। पाँच मिनट में क्या सुनेंगे। कमरे में उनकी चारपाई के पास मोटी-मोटी आँखों से मुझे देखता अरविंद खड़ा था। जान में जान आई। बच्चा मुझे हमेशा सुख देता है।

अभी बैठी भी न थी दिनकर जी ने कहा, 'सुनाओ, क्या लिखा है।' डर के मारे मेरी घिग्घी बँधी हुई थी, फिर 'राजा के महल' कविता का एक छंद हिन्दी में सुनाकर मैंने अनुवाद सुना दिया। कहने लगे, 'तुम्हारी डोगरी में लोकगीत भी होंगे। गाना जानती हो तो गाकर सुनाओ।'

मैंने डोगरी में 'चन्न' का एक टुकड़ा सुनाया। दिनकरजी प्रसन्न हो गए। मेरी पुस्तक की भूमिका में भी उन्होंने चन्न का जिक्र किया था।

'मेरा चाँद बेर के दरख्त के पीछे छुपा है। दरख्त कटवा दो, ताकि चाँद मुँह से बोलने लगे।' मैं अपनी कविताएँ और लोकगीत सुना रही थी। कई घंटे हो गए, दिनकर जी राज्यसभा में नहीं गए और कहा, 'अब तुम जाओ, हम आराम करेंगे। अपनी कविताएँ अनुवाद करके दे जाना, हम भूमिका लिख देंगे।'

वह रजिस्टर आज भी मेरे पास है, जिसमें दिनकर ने लाल स्याही वाले पेन से निशान लगाए थे। मेरी कविताओं के साथ दिनकर जी की लिखी भूमिका 'धर्मयुग' ने इस तरह छापी थी कि मुझे उस भूमिका ने लेखकों के आँगन में जाकर स्थापित कर दिया था।

फिर मैं मुंबई चली गई। मेरे गायक पति सुरेन्द्र सिंह जब भी दिनकरजी को फोन करते थे तो वे कहते, 'हाँ भई, मैं जैनियों की दाल खा-खाकर तंग

आ गया हूँ, तुम मुझे मछली खाने के लिए बुला रहे हो।' कभी-कभी मौज में आकर कहते, 'अब मन करता है, दो-चार चले हों, तुम्हारे सरदार की तरह दाढ़ी बढ़वाकर बैठे रहें। हाथ में खैनी मल-मलकर फाँके।'

मेरे पति आयकर विभाग में थे और हमें पैडर रोड पर घर मिला था। वहीं पास में स्वर-साम्राज्ञी लता मंगेशकर जी रहती थीं। मैं डोगरी गीत गवाने के चक्कर में उनके चक्कर काटने लगी तो गीत भी हो गए और मैं भी उन्हीं की हो गई। दिनकर जी चाहते थे, उनके कुछ प्रिय गीत बड़ी दीदी गाएँ। जयदेवजी संगीत दे रहे थे। वह दिन कैसे अतीत का सूर्य बनकर सामने खड़ा हो गया है। दीदी ने तभी ज्ञानेश्वरी की रिकॉर्डिंग की थी। हमारे घर दिनकर जी, पंडित नरेन्द्र शर्मा, जयदेवजी और बड़ी दीदी आए थे। बड़ी दीदी एक छोटी बच्ची की तरह शरमा रहीं थीं। ज्ञानेश्वरी सुनकर सब मुग्ध थे। दिनकर जी ने बड़ी दीदी से कहा, 'ज्ञानेश्वरी बहुत सुंदर बन पड़ी है। मन हो रहा है, आप मेरे गीत गाएँ।' बड़ी दीदी ने कहा, 'मैं जरूर गाऊँगी। जयदेव जी धुनें बना रहे थे। कितने अच्छे दिन थे वे!'

पीले रंग से दिनकर जी को बड़ा प्यार था। जलेबी बहुत पसंद। मधुमेह की वजह से जलेबी खाना मना था। चोरी से खाते थे। एक बार मैं उनके घर गई थी तो कहने लगे, 'हम चाँदनी चौक जलेबी खाने जा रहे हैं, राह में तुम्हें कहीं छोड़ देंगे।' जलेबी के चाव में वह सीधे चाँदनी चौक गए। मैं गाड़ी के पीछे थी, वे आगे। खूब जलेबी खा रहे थे। जब काफी खा चुके तो घूमकर पीछे देखा और कहा, 'क्या तुम जलेबी खाओगी?' एक जलेबी मुझे दी, फिर और खाने लगे। बेटियों, भतीजियों की शादियाँ हो गई तो फिर उनकी पोतियों की शादी की बारी आ गई। एक बार मद्रास गए थे तो ग्यारह पीली साड़ियाँ ले आए। शायद उनमें वे जलेबियाँ ही देख रहे होंगे। उनकी बड़ी बहू ने मुझसे कहा, 'पद्माजी, ग्यारह साड़ियाँ एक ही रंग की, क्या करूँ?' मैंने कहा, 'भाभीजी, आप अपनी सास को दे दीजिए। ननदों-फनदों में बाँट देंगी।'

दिनकर जी को जब ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला, हम दोनों मुंबई से आए थे। जब वे तिरुपति जाने वाले थे तब भी हम दिल्ली में ही थे। हम दोनों मिलने गए तो कहने लगे, 'बुलावा तो आ गया है, देखें अब कितनी अवधि देता है।' कुछ दिन पहले ही उन्हें पक्षाघात हुआ था। तिरुपति जाना था तो कहने लगे, 'तिरुपति चलोगी?' पतिदेव ने कहा - 'अप्रैल में आयकर विभाग का नौकर

कहीं नहीं जा सकता।' दिनकर जी खुलकर हँसे थे। फिर अप्रैल में तिरुपति जाने से पहले उनका बस मोटा पत्र आया था, जिसमें बड़ी दीदी से गवाने के लिए उन्होंने अपने चुनिंदा गीत भेजे थे। उनके जीवन का वह अंतिम पल था। तिरुपति के मंदिर में उनका कविता-पाठ हुआ। उन्होंने कहा, 'मैं तुमसे उद्धरण हो गया। मेरी बाकी की आयु जयप्रकाश को दे दो।'

उसी रात अक्षय तृतीया के पावन पलों में उन्होंने 'हे राम!' कहकर प्राण त्याग दिए। दूसरे दिन शाम पाँच बजे पटना में उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को अग्नि ने अपने पीले आँचल में लपेट लिया।

दिनकर की प्रासंगिकता

शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी

दिनकर की 'रश्मिर्थी' कभी पाठ्यक्रम में पढ़ने को मिली थी। 'संस्कृति के चार अध्याय', 'दिनकर की डायरी', 'उर्वशी' और कुछ विचार गद्य (आलोचना कम, विचार अधिक) भी पढ़ने को मिला। 'उर्वशी' की कुछ पंक्तियाँ आज भी याद हैं। 'रश्मिर्थी' का कुछ अंश भी अब तक याद है। 'दिनकर की डायरी' और 'संस्कृति के चार अध्याय' भी महत्व की पुस्तकें हैं। पर दिनकर आज की तारीख में प्रासंगिक हैं क्या? कबीर और तुलसी को भी हिन्दी के आलोचक अपने गणित के हिसाब से याद कर रहे हैं। कबीर और तुलसी हिन्दी के आलोचकों के भरोसे साहित्य में नहीं टिके हैं।

स्वार्थ का गणित साहित्य के लिए अंशकालिक सच की तरह दिख सकता है, पर होता नहीं। मुझे लगता है दिनकर इसे जानते थे इसीलिए उनकी महत्ता बनी रहेगी, वैचारिक असहमतियों के बावजूद। कुरुक्षेत्र की यह पंक्तियाँ मुझे बराबर कालजयी लगती हैं, जीवन के जयघोष की तरह-

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल, अबोध पुत्र की, पुरुष ज्योति संभव की।
हार मान हो गयी न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि संन्यासी।

गिरे हुए मानव, वह भी अंध के गहन गर्त में, की चिन्ता करने वाले दिनकर की कविता का विश्वास देखते बनता है। रक्त की भाषा लिखने-गढ़ने की तैयारी में लगे दिनकर यह भी जानते हैं कि आज आजादी के क्या मायने हैं। जिसे देखिए, जिधर देखिए, स्वतंत्र है। परिभाषा हम गढ़ रहे हैं, गढ़ते रहे हैं। दिल्ली पर दिनकर की प्रसिद्ध कविता का आस्वाद-धरातल देखें और समझें

कि दिनकर क्यों और किसलिए प्रासंगिक हैं- युगचारण की संज्ञा सायास या अनायास दी गयी थी राष्ट्रकवि को, पर थी यह ठीक ही। दिनकर की चेतना का रचनात्मक यंत्र पुराना होना नहीं जानता (यह बात उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त के लिए दूसरे शब्दों में की थी)। दिनकर जब यह लिख रहे थे तब देख रहे थे कि उनके ये नये सुभाषित भविष्य में और भी साफ दिखेंगे। साहित्य के साधारण विद्यार्थी को भी यह दिखना चाहिए कि आज हमारे जनप्रतिनिधियों का चरित्र इससे अलग तो नहीं है-

मंत्री के पावन पद की यह शान
नहीं दीखता दोष कहीं शासन में
भूतपूर्व मंत्री की यह पहिचान है,
कहता है सरकार बहुत पापी है।

यह वही दिनकर हैं जो आजादी से पहले के भारत को जगा रहे थे। विभाजन के परिदृश्य में इन्हीं दिनकर ने 'तकदीर का बँटवारा' जैसी मार्मिक कविता लिखी। सम्भवतः इसी कविता की पंक्तियाँ हैं-

बेबसी में काँपकर रोया हृदय,
शाप-सी आहें गरम आई मुझे;
माफ करना, जन्म लेकर गोद में,
हिन्द की मिट्टी, शरम आई मुझे।
बोलना आता नहीं तकदीर को,
हिन्द वाले आसमाँ पर बोलते।
खूँ बहाया जा रहा इन्सान का,
सींग वाले जानवर के प्यार में।
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही,
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

आजादी के बाद भी स्थिति बहुत बदल गयी हो, ऐसा कहना मेरी समझ से ठीक नहीं है। एक रचनाकार की दृष्टि और भाव-सम्पदा अगर साधारण विद्यार्थी या पाठक के भावजगत को ऊर्जस्वित कर दे तो इसे कविता की कम सफलता नहीं माननी चाहिए-

जड़ को उड़ने की पाँख दिए देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिए देता हूँ।

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरोँ के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।
लोहू को देता हूँ वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से तब अभय जवानी।

जीवन जगत के भाव को राष्ट्र के लिए सोचने-विचारने को खुला छोड़ रखा है दिनकर ने। यह कम महत्व की बात नहीं है कि दिन-प्रतिदिन कविता की गति से निराश पाठकों की एक दिशा इधर भी आती है। कम से कम मेरे जैसे पाठकों के लिए तो यह सच ही है। कोई युग चारण (वैसे इस समय 'चारण' कहना भी...) तेजस्वी कवि जब अपने स्वरूप का वर्णन करे, तो वह किस तरह से करेगा। दिनकर 'मूड' के कवि हैं। एक तरह से विशेष भाव-सम्पन्न और भाव-दशा के कवि हैं। कहीं पर वह आकर्षित करते हैं तो कहीं ललकारते हैं। व्यंग्य भी करते हैं तथा आक्रोश भी प्रकट करते हैं। यह 'कवि' मात्र का स्वरूप वर्णन है, दिनकर के यहाँ-

मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का
उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने,
आभा में उज्ज्वल गीत विभा के गाने
आलोक-विशिख से वेधा जगा जन-जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

'स्व' का विस्तार जन-जन के लिए है। वह जानते हैं कि सामाजिक समरसता को वायवीय कल्पना के माध्यम से नहीं स्थापित किया जा सकता। शायद इसीलिए दिनकर आज भी प्रासंगिक हैं-

जिनको न तटी से प्यार, उन्हें
अम्बर में कब आधार मिला?
यह कठिन साधना-भूमि, बन्धु!
मिट्टी को किए प्रणाम चलो।

दिनकर का साहित्य, दिनकर के विचार, समय की कसौटी पर कसे जाने के बाद कितने मूल्यवान होंगे, यह तो भविष्य बताएगा। पर एक बात तो तय है कि जिस कवि को परम्परा की थाती संस्कार के रूप में मिली, जिसने

जीवन संघर्ष से हार नहीं मानी, उसकी कविता में कुछ तत्व तो इस तरह के होंगे जिनसे जीवन का बोध होगा, जीने की प्रेरणा मिलेगी। अगर इस तरह का कुछ नहीं है तो 'कुरुक्षेत्र' की पंक्तियाँ सामने आती हैं-

जहाँ भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्व-ग्रस्त जीवन का
द्विधामूढ़, वह कर्मयोग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?

एक रचनाकार के लिए क्या आवश्यक है? सत्ता का चुस्त-दुरुस्त संयोग या जनसाधारण का संयोग! बहुत से प्रश्न हैं जिनके लिए न तो यहाँ समय है, न विस्तार की गुंजाइश, फिर भी इतना कहना पर्याप्त है कि दिनकर ने संस्कृति का अध्ययन किया था। यही कारण है कि वह भूत, भविष्य और वर्तमान को देखने की क्षमता रखते हैं। बहैसियत एक रचनाकार वह देख रहे थे-

महँगी आजादी की यह पहली सालगिरह,
रहने दो बापू की अर्थी अब दूर नहीं।
और धूमधाम से नहीं मनाओगे क्या तुम
कुछ ही वर्षों में दशक चोर बाजारी का?
छल छद्म, कपट का, राजनीति की तिकड़म का,
क्रम-क्रम से उत्सव इनका भी होना चाहिए।

अब तो आप मान सकते हैं कि आज की तारीख में भी यह कवि उतना ही प्रासंगिक है जितना कि लिखते समय था। बल्कि लिखने के समय से भी अधिक महत्व अब इन पंक्तियों का है।

हिन्दी का क्रान्तिदर्शी कवि सुरेन्द्र दुबे

दिनकर हिन्दी साहित्य में ओज और पौरुष के कवि माने जाते हैं। आधुनिक काव्य के ओजस्वी कवि और 'राष्ट्रकवि' के नाम से विख्यात रामधारी सिंह 'दिनकर' जी प्रारंभ से ही लोक के प्रति निष्ठावान, सामाजिक उत्तरदायित्व एवं राष्ट्रीयता और देश प्रेम की अवधारणा का सृजन करने वाले जन साधारण के प्रति समर्पित कवि थे। इनके साहित्य में राष्ट्रीयता की छाप सबसे अधिक है।

दिनकर जी ने काव्य और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में सशक्त साहित्य का सृजन किया है। यदि इन्हें हिन्दी का क्रान्तिदर्शी कवि कहा जाय तो उपयुक्त होगा। उनकी कविता हृदय को झकझोर डालती है। वर्तमान भारत की दलित आत्मा उनकी कविता में जाग उठी है। दिनकर की कविताओं में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। इसलिए प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न कर देने की शक्ति उनकी रचनाओं में है। हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी यदि उनकी ओजपूर्ण कविताएँ (रचनाएँ) हैं, तो रसवन्ती, द्वन्द्वगीत चिन्तन प्रधान रचनाएँ हैं। दिनकर की रचना में देशव्यापी जागरण का उच्च स्वर है। उसमें भारत के विगत स्वर्णयुग की सुनहरी किन्तु ममतामयी करुण स्मृति है। और वर्तमान समय में आर्य संस्कृति की पतितावस्था के प्रति असंतोष के कारण वे क्रान्ति चाहते हैं-

क्रान्तिधात्रि कविते जाग उठ,
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखण्ड जलें,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

दिनकर की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। वे अपनी भाषा में अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनका शब्द चयन अत्यन्त पुष्ट और

भावानुकूल होता है। उनकी भाषा विचारों का पूर्णरूप से अनुगमन करती है।

हिन्दी काव्य में देश प्रेम और राष्ट्रीयता का प्रतिपादन यद्यपि आधुनिक युग की देन है परन्तु दिनकर ने अपने साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय विचारधारा को अपनी रचनाओं में स्थान देकर राष्ट्रीयता को व्यापक आयाम दिये हैं। मानव जीवन की विषमताओं, कुंठाओं, अवसाद, टूटते आदर्श, बिखरते जीवन-मूल्य, अराजकता आदि ने दिनकर के हृदय को स्पर्श किया जिससे उन्होंने सामाजिक बोध के पैनेपन को अपनी कविताओं में प्रकट किया है।

दिनकर अपने युग के देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कवि हैं, उनकी भाषा में ओज तथा भावों में क्रान्ति की ज्वाला तथा शैली में प्रवाह है। दिनकर की कविता में विवेकानन्द का तेज, महर्षि दयानन्द की सी निडरता, भगत सिंह-सा बलिदान, गांधी की सी निष्ठा एवं कबीर की सी सुधार भावना एवं स्वच्छन्दता विद्यमान है। इसीलिए तो आपको हिन्दी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में जाना जाता है-

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।

फूट-फूट तू कवि कंटों से, बन व्यापक निज युग की वाणी।

बरस ज्योति बन गहन तिमिर में फूट-मूक की बनकर भाषा।

चमक अन्ध की प्रखर दृष्टि बन, उमड़ गरीबी की बन आशा।

‘हिम्मत और जिन्दगी’ रामधारी सिंह ‘दिनकर’ का एक विचारोत्तेजक निबन्ध है। इसमें अनेक उदाहरणों द्वारा मनुष्य को श्रम और परोपकार करने की सीख दी गई है। लेखक के अनुसार जीवन में धूप में तपने वाला ही चाँदनी का आनन्द ले सकता है। सुख के लिए दुःख की अनुभूति आवश्यक है। हमें ऐसी कामना करनी चाहिए जो मानव-हित से जुड़ी हो। निबन्ध का हर वाक्य सूक्ति जैसा है और हर सूक्ति कुछ सोचने के लिए प्रेरित करती है।

जिंदगी के असली मजे उनके लिए नहीं हैं जो फूलों की छाँव के नीचे खेलते और सोते हैं। बल्कि फूलों की छाँव के नीचे अगर जीवन का स्वाद छिपा है तो वह भी उन्हीं के लिए है जो दूर रेगिस्तान से आ रहे हैं, जिनका कंठ सूखा है, होंठ फटे हुए और सारा बदन पसीने से तर है। पानी में जो अमृत तत्व है, उसे वह जानता है जो धूप में खूब सूख चुका है। वह नहीं जो रेगिस्तान में कभी पड़ा ही नहीं।

सुख देने वाली चीजें पहले भी थीं और अब भी हैं फर्क यह है कि जो सुखों का मूल्य पहले चुकाते हैं और उनके मजे बाद में लेते हैं, उन्हें स्वाद अधिक मिलता है। जिन्हें आराम आसानी से मिल जाता है, उनके लिए आराम ही मौत है। जो लोग पाँव भीगने के खौफ से पानी से बचते रहते हैं समुद्र में डूब जाने का खतरा उन्हीं के लिए है। लहरों में तैरने का जिन्हें अभ्यास है वे मोती लेकर ही बाहर आएँगे।

चाँदनी की ताजगी और शीतलता का आनन्द वह मनुष्य लेता है जो दिन भर धूप में थककर लौटा है। जिसके शरीर को अब रतनाई की जरूरत महसूस होती है। और जिसका मन यह जानकर संतुष्ट है कि दिन भर का समय उसने किसी अच्छे काम में लगाया है।

इसके विपरीत वह आदमी भी है जो दिनभर खिड़कियाँ बंद करके पंखे के नीचे छिपा हुआ था और अब रात में जिसकी सेज बाहर चाँदनी में लगाई गई है। भ्रम तो शायद उसे भी होता होगा कि वह चाँदनी के मजे ले रहा है, लेकिन सच पूछिए तो वह खुशबूदार फूलों के रस में दिन रात सड़ रहा है।

भोजन का असली स्वाद उसी को मिलता है जो कुछ दिन बिना खाए भी रह सकता है। जीवन का भोग त्याग के साथ करो, यह केवल परमार्थ का ही उपदेश नहीं है क्योंकि संयम से भोग करने पर जीवन से जो आनंद प्राप्त होता है, वह निराभोगी बनकर भोगने से नहीं मिल पाता।

बड़ी चीजें बड़े संकटों में विकास पाती हैं, बड़ी हस्तियाँ बड़ी मुसीबतों में पलकर दुनिया पर कब्जा करती हैं। अकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने माता-पिता के दुश्मनों को परास्त कर दिया था, जिसका एक मात्र कारण यह था कि अकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और वह भी उस समय जब उसके पिता के पास एक कस्तूरी को छोड़कर और कोई दौलत नहीं थी।

महाभारत में देश के प्रायः अधिकांश वीर कौरवों के पक्ष में थे। मगर फिर भी जीत पाण्डवों की हुई क्योंकि इन्होंने लाक्षागृह की मुसीबत झेली थी, क्योंकि इन्होंने वनवास के जोखिम को पार किया था। श्री विस्टन चर्चिल ने कहा है कि जिंदगी की सबसे बड़ी सिफत हिम्मत है। आदमी के और सारे गुण उसके हिम्मती होने से ही पैदा होते हैं। जिंदगी की दो सूरतें हैं। एक तो यह कि आदमी बड़े-से-बड़े मकसद के लिए कोशिश करे, जगमगाती हुई जीत पर पंजा डालने के लिए हाथ बढ़ाए और अगर असफलताएँ कदम-कदम

पर जोश की रोशनी के साथ अँधियाली का जाल बुन रही हों, तब भी वह पीछे को पाँव न हटाए। दूसरी सूरत यह है कि उन गरीब आत्माओं का हमजोली बन जाएँ जो न तो बहुत अधिक सुख पाती हैं और न जिन्हें बहुत अधिक दुख पाने का ही संयोग है, क्योंकि वे आत्माएँ ऐसी गोधूलि में बसती हैं जहाँ न तो जीत हँसती है और न कभी हार के रोने की आवाज सुनाई पड़ती है। इस गोधूलि वाली दुनियाँ के लोग बँधे हुए घाट का पानी पीते हैं, वे जिंदगी के साथ जुआ नहीं खेलते। और कौन कहता है कि पूरी जिंदगी को दाँव पर लगा देने में कोई आनंद नहीं है?

अगर रास्ता आगे ही आगे निकल रहा हो तो फिर असली मजा तो पाँव बढ़ाते जाने में ही है। साहस की जिंदगी सबसे बड़ी जिंदगी होती है। ऐसी जिंदगी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि यह बिल्कुल निडर, बिल्कुल बेखौफ होती है। साहसी मनुष्य की पहली पहचान यह है कि वह इस बात की चिंता नहीं करता कि तमाशा देखने वाले लोग उसके बारे में क्या सोच रहे हैं। जनमत की उपेक्षा करके जीने वाला आदमी दुनिया की असली ताकत होता है। और मनुष्यता को प्रकाश भी उसी आदमी से मिलता है। अड़ोस-पड़ोस को देखकर चलना यह साधारण जीव का काम है। क्रान्ति करने वाले लोग अपने उद्देश्य की तुलना न तो पड़ोसी के उद्देश्य से करते हैं, और न ही अपनी चाल को ही पड़ोसी की चाल देखकर मद्धिम बनाते हैं।

साहसी मनुष्य उन सपनों में भी रस लेता है जिन सपनों का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं है। साहसी मनुष्य सपने उधार नहीं लेता, वह अपने विचारों में रंगा हुआ अपनी ही किताब पढ़ता है। झुंड में चलना और झुण्ड में चरना यह भैंस या भेड़ का काम है, सिंह तो अकेला होने पर भी मगन रहता है।

अर्नाल्ड बैनेट ने एक जगह लिखा है कि जो आदमी यह महसूस करता है कि किसी महान निश्चय के समय वह साहस से काम नहीं ले सका, जिंदगी की चुनौती को कबूल नहीं कर सका, वह सुखी नहीं हो सकता। बड़े मौके पर साहस नहीं दिखाने वाला आदमी बराबर अपनी आत्मा के भीतर एक आवाज सुनता रहता है। एक ऐसी आवाज जिसे वही सुन सकता है और जिसे वह रोक भी नहीं सकता। यह आवाज उसे बराबर कहती रहती है। तुम साहस नहीं दिखा सके। तुम कायर की तरह भाग खड़े हुए हो। सांसारिक अर्थ में जिसे

हम सुख कहते हैं, उसका न मिलना, फिर भी इससे कहीं श्रेष्ठ है कि मरने के समय हम अपनी आत्मा से यह धिक्कार सुनें कि तुममें हिम्मत की कमी थी। कि तुममें साहस का अभाव था, कि तुम ऐन वक्त पर जिंदगी से भाग खड़े हुए। जिंदगी को ठीक से जीना हमेशा जोखिम झेलना है और जो आदमी सकुशल जीने के लिए जोखिम का हर जगह पर घेरा डालता है वह अंततः अपने ही घेरों के बीच कैद हो जाता है। और जिंदगी का कोई मजा उसे नहीं मिल पाता। क्योंकि जोखिम से बचने की कोशिश में, असल में उसने जिंदगी को ही आने से रोक रखा है।

जिंदगी से अंत में हम उतना ही पाते हैं जितनी कि उसमें पूँजी लगाते हैं। यह पूँजी लगाना जिंदगी के संकटों का सामना करना है। उसके उस पन्ने को उलटकर पढ़ना है, जिसके सभी अक्षर फूलों से ही नहीं, कुछ अंगारों से भी लिखे गये हैं। जिंदगी का भेद कुछ उसे ही मालूम है जो यह जानकर चलता है कि जिंदगी कभी भी खत्म न होने वाली चीज है।

ओ जीवन के साधकों! अगर किनारे की भरी हुई सीपियों से ही तुम्हें संतोष हो जाए तो समुद्र के अंतराल में छिपे हुए मौक्तिक को कौन बाहर लाएगा?

दुनियाँ में जितने भी मजे बिखर गए हैं, उनमें तुम्हारा भी हिस्सा है, वह चीज भी तुम्हारी हो सकती है जिसे तुम अपनी पहुँच के परे मानकर लौटे जा रहे हो। कामना का आँचल छोटा मत करो, जिंदगी के फूल को दोनों हाथों से दबाकर निचोड़ो, रस की निर्झरी तुम्हारे बहाए भी बह सकती है -

*यह अरण्य, झुरमुट जो काटे अपनी राह बना ले।
क्रीतदास यह नहीं किसी का, जो चाहे अपना ले।।
जीवन उसका नहीं युधिष्ठिर, जो उससे डरते हैं।
यह उनका जो चरणों पर निर्भय होकर लड़ते हैं।।*

‘शुद्ध कविता की खोज’ और दिनकर

सत्यपाल शर्मा

हिन्दी कविता में प्रयोगवादी रुझानों के बढ़ते प्रभाव से दिनकर ने साहित्य के क्षेत्र में उभर रही नयी प्रवृत्तियों के उत्स को खोजने की गम्भीर कोशिश की। इस कोशिश का परिणाम ‘शुद्ध कविता की खोज’ नामक कृति के रूप में हिन्दी आलोचना जगत के सामने आया। अनेक आलोचक और विद्वान, जो खत को देखकर ही मजमून भाँप लेने की कला में माहिर हैं, इस पुस्तक के नाम से ही दिनकर को शुद्ध कविता का समर्थन करने वाला आलोचक मान लेते हैं। जबकि दिनकर ने इस पुस्तक में एक सच्चे आलोचक की भाँति आधुनिक कविता में बढ़ रही शुद्धतावादी प्रवृत्ति के कारणों की गहन पड़ताल की है। इसके साथ ही उन्होंने कविता के क्षेत्र में शुद्धतावादी प्रवृत्ति की महत्ता और उसकी कमियों को भी साफ-साफ बताया है।

दिनकर प्रयोगवाद को शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन मानते हैं। यह प्रयोगवाद प्रगतिवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप आया है, अतः इसका साहित्यिक आग्रह स्वाभाविक है। प्रगतिवाद प्रयोगवाद की पीठिका है। अतः प्रगतिवाद के संदर्भ में दिनकर के विचारों को देख लेना ठीक होगा। दिनकर के अनुसार प्रगतिवाद का खास जोर कवियों के सामाजिक विचार पर था। उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी कि ये विचार शुद्ध कविता की शैली में व्यक्त हो रहे हैं या गद्य-काव्य रीति से। उसे इस बात की चिन्ता अधिक थी कि कविगण साहित्य में राजनीति के दल विशेष की पताका उठाये चल रहे हैं या नहीं। इसलिए दिनकर ने यहाँ तक लिख दिया कि— “मेरा मत है कि प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था।” इसके विपरीत प्रयोगवाद “आदि से अन्त तक शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है और उसका मुख्य ध्येय

काव्य एवं कला संबंधी धारणाओं को परिवर्तित करता है।” दिनकर के अनुसार प्रयोगवाद छायावाद की पीठ पर भी आ सकता है क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को स्वच्छ बनाना था जबकि अधिकांश छायावादी रचनाओं में ये दोनों ही चीजें अस्वच्छ थीं। छायावाद के बाद प्रयोगवाद के आने का एक कारण यह था कि उस समय हिन्दी में ऐसे कम लोग थे जिनकी कविता सम्बन्धी रुचि अंतर्राष्ट्रीय रही हो। इससे बड़ा कारण यह था कि अपनी दुर्बलताओं के बावजूद छायावाद कलापूर्ण और साहित्यिकता से पूर्ण था।

छायावाद में सबसे बड़ी कमी सुस्पष्टता की थी। इसका परिष्कार प्रगतिवाद काल में होता है। किन्तु, दिनकर के शब्दों में— “जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य के कनस्तर बजाये जाने लगे और साहित्यिक मूल्यों का ह्रास होने लगा, तब यह आवश्यक हो गया कि हिन्दी में कला और शैली के हिलते हुए महत्त्व को फिर से सुस्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाय।” यही प्रयास प्रयोगवाद में दिखाई देता है। प्रयोगवाद के विकास की प्रक्रिया सहज प्रक्रिया थी। जब अनेक कवियों और आलोचकों ने साहित्य में विचारों को अत्यधिक प्रमुखता देकर उसके शैली पक्ष को गौण कर दिया, तब कुछ युवा कवि साहित्य के शैली या कला पक्ष को ऊपर उठाने को आगे बढ़े। दिनकर के शब्दों में— “मुझे इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है कि प्रगतिवादी आन्दोलन ने साहित्य में साहित्येतर मूल्यों को प्रोत्साहन देकर जो स्थिति उत्पन्न की, उसी से युवकों को फिर से शैली की महिमा पर विचार करने की प्रेरणा मिली और इसी चिन्तन से प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ, जिसका वास्तविक उद्देश्य काव्य में अधिक कवित्व और साहित्य में अधिक साहित्यिकता को उत्तेजित करना है।” प्रगतिवाद के साहित्येतर लक्षणों का विरोधी होने के कारण प्रयोगवाद अपने ऊपर साहित्यिकता के सम्पूर्ण निर्वाह का अत्यन्त गुरुतर दायित्व लेकर आया।

दिनकर का विचार है कि प्रयोगवाद हिन्दी कविता को जिस ओर ले जाना चाहता है, वह काव्यमात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है। प्रयोग की साधना ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती। दिनकर ने कविता की नयी भूमि की बात करते हुए आलोचना के संदर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार “इस कविता की आलोचना भी कोई सरल कार्य नहीं है और हमारे आलोचकों के पास जो पुरानी कसौटी है

उस पर तो नये कवि परखे ही नहीं जा सकते। नये कवि अपना रहस्य शायद आप खोलेंगे। ज्यों-ज्यों यह कविता विकसित होगी त्यों त्यों आलोचकों की कठिनाई बढ़ती जायेगी। नयी कविता की समीक्षा यूरोप में भी दुष्कर सिद्ध हुई है।” कहने की जरूरत नहीं कि दिनकर की यह बात कालान्तर में सच साबित हुई। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नयी कविता के मूल्यांकन के लिए ‘नयी कविता के प्रतिमान’ रचा। नामवर सिंह को इससे संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने ‘कविता के नये प्रतिमान’ रच डाला। दोनों आलोचकों की दृष्टि और प्रतिमानों में भेद है। लेकिन दोनों आलोचकों के प्रतिमानों के केन्द्र में नयी कविता ही है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

शुद्धता के प्रति आग्रह विश्व की अनेक भाषाओं की आधुनिक कविता में समय-समय पर प्रबल हुआ है। जिसे हम शुद्ध कविता कहते हैं, दिनकर के अनुसार, वह साहित्य की कोई सर्वथा नवीन विधा नहीं है। दिनकर के शब्दों में “जब से मनुष्य ने काव्य कला का अविष्कार किया, शुद्ध कविता की रचना वह तभी से करता आ रहा है। किन्तु, पहले उसे पता नहीं था कि जो कुछ वह लिखता है, उसमें दो प्रकार की कविताएं होती हैं। एक वे, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द दान होता है और दूसरी वे, जिनमें आनन्द के साथ कुछ ज्ञान भी रहता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुछ उपदेश भी रहते हैं तथा दूर पर कहीं, किसी कर्तव्य की प्रेरणा भी रहती है।” पहले के साहित्य में सामान्यतः ज्ञान और आनन्द दान के बीच संतुलन पाया जाता है। वे कवि महत्त्वपूर्ण माने गये जिन्होंने ज्ञान के उपदेश अथवा कर्तव्य की प्रेरणा के साथ आनन्द को मिलाकर काव्य की रचना की। लेकिन एक समय आया जब कविता किसी बाहरी शक्ति से नहीं केवल अपनी शक्ति से आगे बढ़ना चाहती थी। इसलिए वह शुद्धता की तरफ अग्रसर हुई। शुद्धता से तात्पर्य दिनकर के शब्दों में— “इस बात से है कि कविता की पूजा इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वह समाज के लिए किसी स्थूल उपयोग की वस्तु है, बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य की एक शक्ति है, चीजों को देखने की एक दृष्टि है, वह एक ऐसा यंत्र है जिससे मनुष्य का वह रूप पकड़ा जाता है, जिसको ग्रहण करने अथवा समझने में अन्य सभी विधाएँ असमर्थ हैं। इस तरह शुद्धता कविता की आन्तरिक शक्ति है।

श्रेष्ठ साहित्य वह नहीं है, जिसका जीवन में कोई प्रत्यक्ष उपयोग है। श्रेष्ठ साहित्य वह है जो सभी उपयोगों की सीमा के पार जन्म लेता है। क्योंकि

उपयोगिता का धरातल वह धरातल है, जिस पर मनुष्य और पशु दोनों समान हैं। दिनकर के अनुसार रहस्यवाद की सारी कविताएँ शुद्ध कवित्व की श्रेणी में आती हैं क्योंकि उनमें कोई उपदेश नहीं होता। पहले की कविता में भावों और अनुभूतियों का वर्णन शुद्धता की कोटि में समझा जाता था। दिनकर के अनुसार कबीर का सोद्देश्य कविताएँ शुद्धता की श्रेणी में न आने पर भी श्रेष्ठ कविताएँ हैं। महादेवी वर्मा ने शायद ही, ऐसी कोई कविता लिखी हो जो शुद्ध कवित्व की श्रेणी में न रखी जा सके। पल्लव की सारी कविताएँ शुद्ध हैं। रहस्यवाद के बाद शुद्ध काव्य की सर्वाधिक रचना प्रकृति को लेकर की गयी है। दिनकर ने शुद्ध कविता की परम्परा की पड़ताल हिन्दी कविता के साथ-साथ संस्कृत और विदेशी भाषाओं की कविता में भी की है। उनके अनुसार प्रकृति वर्णन की शुद्ध कविताओं के जितने अधिक उदाहरण चीनी और जापानी भाषाओं में हैं, उतने कदाचित ही किसी अन्य देश की कला में उपलब्ध हों।

दिनकर के अनुसार शुद्ध कविता की तृषा आधुनिक कवियों की सबसे प्रमुख तृषा है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि सभी आधुनिक कवि शुद्ध कविताएँ ही लिखते रहे। इलियट शुद्ध कवित्व के बहुत बड़े पक्षपाती थे, किन्तु उनका ‘वेस्टलैण्ड’ शुद्ध कविता का सही उदाहरण नहीं माना जा सकता है। वह सोद्देश्य काव्य है, यद्यपि उसका उद्देश्य अप्रत्यक्ष है। शुद्धता की साधना में अंतर्राष्ट्रीय काव्य ऐसी ऊँचाई पर पहुँच गया, जहाँ काव्य विषयक परम्परागत मान्यताएँ छूँछी और निस्सार दिखाई देने लगीं। नयी मान्यता के अनुसार छन्द और तुकों तभी सार्थक हैं, जब वे अकृत्रिम रूप से अपना काम करते हैं। दिनकर के शब्दों में— “कवि का कार्य छन्द और तुकों की घूस देकर पाठकों को रिझाना नहीं है। उसका काम अनुभूतियों को उनके सही रूप में ग्रहण करना है। ... यदि छन्द और तुक चिन्ता की इस स्वच्छ और स्वच्छन्द प्रगति में बाधा डालते हैं तो वे त्याज्य और तिरस्करणीय हैं। कवि के हाथ में भाषा सोचने का यंत्र मात्र है। जो कवि उसका प्रयोग पाठकों को रिझाने के लिए करता है, वह अपने कवि-धर्म पर आरूढ़ नहीं है। ... उसे उन संवेदनाओं को शब्दों के भीतर बिठाने की कोशिश करनी चाहिए जिन्हें अब तक भाषा का लिबास नहीं मिला है।” कवि का धर्म एक प्रयोक्ता का धर्म है और कविता को कुछ न कुछ नया प्रयोग करना चाहिए।

नये कवि को अर्थ की चिन्ता भी छोड़ देनी चाहिए अर्थ कविता का कोई

नित्य धर्म नहीं है। दिनकर ने सही संकेत किया है कि कवित्व वह अद्भुत सृष्टि है, जिसका प्रभाव हम पर अर्थ समझने के पूर्व ही पड़ने लगता है। उनकी दृष्टि में ऐसी कविताएँ सबसे श्रेष्ठ हैं, जिन्हें बार-बार पढ़ने पर भी पाठक को यह विश्वास नहीं हो कि कविता का सारा अर्थ उसकी समझ में आ गया है। शुद्धतावादी कवि अनुभूतियों के शुद्ध चित्रण को अपना ध्येय समझता है। वह इस भय से घबराकर शुद्धता से विचलित नहीं होता कि लोग उसकी कविता को नहीं समझ सकेंगे अथवा वे उसकी निन्दा करेंगे।

शुद्ध कविता की बात करते हुए दिनकर ने कविता के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, जैसे— ‘कविता ताली बजाने की नहीं, सुनकर अपने भीतर डूब जाने की वस्तु है।’ कविता विचारों के परवान पर चढ़कर अपने साकार को बढ़ाना नहीं चाहती। वह भावना की सच्चाई के बाद एक शब्द भी नहीं बोलती है जहाँ भावना खत्म होती है, वहीं कविता का भी स्वाभाविक अन्त है। इसीलिए, शुद्ध कविता छोटी हो सकती है, क्योंकि भावना के प्रगाढ़ क्षण ज्यादा देर तक नहीं टिकता।’ नयी कविता का मनसूबा सूत्र शैली में बोलने का मनसूबा है। आदि। दिनकर ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तरह सूत्र शैली में अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। इन पर हिन्दी साहित्य में ठीक से विचार नहीं हुआ है। नयी कविता का मनसूबा सूत्र शैली में बोलने का मनसूबा है क्योंकि वह एक भी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहती जिसके बिना उसका काम चल सकता था। यद्यपि कविता पर इसका दुष्प्रभाव भी हुआ। अपनी इस विशेषता के कारण नयी कविता गूढ़ और कभी-कभी दुरूह तक हो उठी।

शुद्ध कविता विषयक धारणा के विकास की चर्चा करते हुए दिनकर ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के आचार्यों के मतों का भी विश्लेषण किया है। दिनकर ने एक सुधी आलोचक की भाँति शुद्ध कविता की धारणा के उत्स और विकास का विश्लेषण करते हुए प्राचीन साहित्य की भी गहन पड़ताल की। प्राचीन साहित्य में साधारणतः सभी लोग यह मानते थे कि कविता का उद्देश्य ज्ञानदान भी है और आनन्ददान भी। महाकाव्यों के समय में विषय की गरिमा देकर आचार्य शैली की महिमा को दबा रहे थे। किन्तु, शैली उपेक्षित होने से इन्कार करती थी। क्योंकि महाकाव्यों में से जो श्लोक सुभाषित भण्डार के लिए छँटे जाते थे, उनमें शैली का सौंदर्य कुछ अधिक प्रखर होता था।

दिनकर का ख्याल है कि “महाकाव्यों में से सुभाषित छँटने की सूझ उसी प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई होगी, जिस प्रवृत्ति के अति विकास से शुद्ध काव्य के प्रतीक थे। वे छोटे होते थे, उनसे भावों का वर्णन सूत्र-शैली में किया जाता था और वे वहीं समाप्त हो जाते थे, जहाँ भावों की समाप्ति होती थी। तार टूट जाते हैं। कविता में अर्थ नहीं रह जाता। नयी कविता पहले की अपेक्षा ईमानदारी की कविता है। ईमानदारी बरतने की कोशिश में भी वह दुरूह हो जाती है।

दिनकर का निष्कर्ष है कि “शुद्ध कविता की साधना जिस अनुपात में बढ़ी है, अन्तर्राष्ट्रीय काव्य में दुरूहता की भी वृद्धि उसी अनुपात में होती आयी है। शुद्ध कवित्व का आन्दोलन इस उद्देश्य से आरम्भ हुआ था कि कविता को उपदेशवाद से बचाया जाय। वह केवल भावों तक सीमित रहे, विचारों के वर्णन को वह साहित्य की अन्य विधाओं के लिए छोड़ दें।” भारतीय आचार्यों ने जब शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहा था, तो इसका अर्थ यह नहीं था कि केवल अर्थवत्ता कविता के लिए यथेष्ट है। ऐसी बात होती तो दिनकर के अनुसार, आयुर्वेद और ज्योतिष के भी ग्रन्थ मान लिए गये होते। किन्तु जिस कविता में अर्थ नहीं केवल संगीत है, वह कविता है या नहीं, यह विश्लेषण का विषय है।

यह स्वाभाविक था कि कविता ज्यों ज्यों शुद्धता की ओर बढ़ी, वह अलोकप्रिय होती गयी। दिनकर ने इसके कारण का सही विश्लेषण करते हुए लिखा है कि कविता समाज में लोकप्रिय इसलिए नहीं थी कि वह शुद्ध कविता थी, बल्कि इसलिए कि वह लोगों में प्रेरणा भरती थी, उनका दुःख भुलाती थी और वह सामाजिक वस्तु थी। वस्तुतः दुरूहता किसी को भी पसन्द नहीं। जब कवि कविता लिखता है तो वह भी सोचता है कि उसकी कविता लोगों को समझ में आये। लेकिन दिनकर के अनुसार सुस्पष्टता शायद नयी कविता के भाग्य में नहीं। वैज्ञानिक युग की कविता कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कहना चाहती है। दिनकर के अनुसार नयी कविता का लक्ष्य मंत्र की शक्ति प्राप्त करना है, सूत्र शैली में बोलना है। इसके बावजूद, दुरूहता चाहे जिस कारण से उत्पन्न हो, दिनकर के अनुसार वह धर्म नहीं, आपद्धर्म है। आज भी वे कवि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिसके भाव गहरे भी हैं और स्पष्ट भी।

शुद्ध कविता के कवि माने जाने वाले इलियट का भी यह विचार बना कि महान कविता अनिवार्यतः शुद्ध कविता नहीं होती। उल्लेखनीय है कथा काव्य, खंड काव्य और महाकाव्य शुद्ध कविता के नियमों को खारिज करते हैं लेकिन

आरम्भ से ही उनकी प्रतिष्ठा रही है। प्रबन्ध-कवि विषय को केन्द्र में रखता है लेकिन शुद्धतावादी कवि शैली को। प्रबन्ध कवि शैली का भी ध्यान रखता है जबकि शुद्ध कवि के लिए विषय गौण है। इस संदर्भ में दिनकर शुद्ध कवि नहीं बल्कि प्रबन्ध कवि के साथ हैं।

चित्र और संगीत शैली के उपादान हैं। लेकिन केवल यही काव्य नहीं बन सकते। कविता की रचना किसी विचार या भाव की प्रेरणा से आरम्भ होती है। इसलिए दिनकर के शब्दों में “शुद्ध कविता सर्वश्रेष्ठ कविता नहीं है। वह कविता की एक खास विधा है, जिसके उदाहरण प्रगीतों में मिलते हैं अथवा बड़े बड़े काव्यों में से छिट-पुट ढंग से छूँटकर एकत्र किये जाते हैं। शुद्ध कविता के उदाहरण उन कवियों में भी मिलते हैं, जो कलाकार कम, कवि अधिक हैं, जिनका उद्देश्य आतिशबाजी का चमत्कार दिखाकर आदमी को केवल चौंकाया नहीं, बल्कि, सम्पूर्ण जीवन में आलोड़न मचाना है। इसी तरह शुद्ध कविता प्रायः छोटी होती है क्योंकि उसके पीछे काम करने वाली मनोदशा क्षणस्थली होती है।

हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान दिनकर को शुद्ध कविता का समर्थक मानने का भ्रम अभी तक पाले हुए हैं जबकि दिनकर ने शुद्ध कविता के बारे में साफ-साफ लिखा है कि “कविता के बारे में हमारी जो सामान्य धारणा है, वह शुद्ध कवित्व के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करती।” नयी कविता में शैली के प्रमुखता पाने के कारणों का उत्तम विश्लेषण करते हुए दिनकर का विचार है कि यह असल में उसकी क्षति की पूर्ति का प्रयास है जो सामाजिक वास्तविकता से भागने के कारण कविता को सहनी पड़ी। कवि उपदेशवाद से बचने के रूप सौंदर्य की ओर भागा। बचने के लिए हुई नयी कविता उसे शब्द-सौंदर्य से हुआ। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनवाद और चित्रवाद से शैली की समृद्धि में वृद्धि हुई है किन्तु आज भी महत्त्वपूर्ण कवि उनका प्रयोग साधन के रूप में करते हैं।

दिनकर ने नयी कविता पर पड़ रहे विज्ञान के प्रभावों पर भी चिंतन किया है। वे सत्य और तथ्य में भेद मानते हैं। उनके अनुसार “नयी कविता की यह वेदना विचित्र है कि एकमन से तो वह अनिर्वचनीय का समाधान करना चाहती है और दूसरे मन से वह विज्ञान की सीमा से बाहर झाँकने को तैयार नहीं है।” बुद्धि और हृदय का द्वन्द्व मानव विकास के आरम्भ से रहा है। रोमांटिक या

छायावाद युग में कवि पर बुद्धि से ज्यादा हृदय का प्रभाव था। विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से नया कवि बुद्धि द्वारा चालित है। बुद्धि अन्तर्राष्ट्रीयता चाहती है, मानव राष्ट्रीयता की ओर है। बुद्धि नैतिकता के नियम बताती है, भावना उन्हें तोड़ना चाहती हैं। बुद्धि प्रेम को मनोवैज्ञानिक विकार समझती है। नया कवि बुद्धि के पक्ष में है। मनोविज्ञान उस मनुष्य की खोज में है जो दोनों के बीच संतुलन स्थापित करता है।

नयी कविता में दुरूहता ही नहीं बल्कि अर्थहीनता भी आयी है। दिनकर के अनुसार अर्थहीनता से कविता का उद्धार होना चाहिए। दिनकर ने अत्यन्त तिलमिलाने वाले अंदाज में अर्थहीनता पैदा करने वाली शैली के संदर्भ में लिखा है “कवि ने अपने दायित्व की गठरी पटक दी है। घर में आग लगी हुई है और कवि आग बुझाने के बदले लपटों के वर्णन में लीन है। पानी नहीं शब्द चाहिए, पिचकारी नहीं, शैली चाहिए, जिससे आग का गूढ़ से गूढ़ वर्णन छूट न जाय।” दिनकर के अनुसार जो दर्शन सौंदर्यबोध की दृष्टि से आकर्षक है, वह प्रगतिकामी नहीं, पतनशील है।

शुद्ध काव्य की साधना ज्यों-ज्यों बढ़ी, कविता की कला अधिक से अधिक वैयक्तिक होती गयी। प्रतीकवाद, चित्रवाद, अभिव्यंजनावाद और सुररियलिज्म के आन्दोलनों ने कविता की शुद्धतावादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। सुररियलिज्म ने मनोविज्ञान के प्रभाव को सघन बना दिया। इस शैलियों का प्रयोग केवल शुद्धतावादियों तक सीमित नहीं रहा। जो कवि विचारों से नहीं डरते थे, समाज की परवाह नहीं करते थे, राजनीति को अपना ध्येय मानते थे, उन्होंने इस शैली का प्रयोग आक्रामक कविताएँ रचने में किया। दिनकर के अनुसार वैयक्तिक संवेदना की लपेट में एक प्रकार के कारणहीन क्रोध, दिशाहीन आक्रोश, बे मतलब की कृद्धन और खीझ से भरी हुई कविताएँ लिखने वालों की संख्या द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के विभिन्न देशों में बढ़ी।

फ्रांस में ऐसे कवियों को आउट साइडर, डेजर्टर तथा आबजेक्टर, अमेरिका में सौंदर्यासक्त या बीट तथा इंग्लैण्ड में उनका सामान्य नाम यंग एंग्री मैन या क्रुद्ध नौजवान है। क्रुद्ध नौजवानों को समाज की तत्कालीन व्यवस्था पसंद नहीं। सभ्यता के सभी मूल्यों की हँसी उड़ाकर वे उन्हें उखाड़ फेंकने को कटिबद्ध थे। किन्तु उनके पास समाज की कोई वैकल्पिक योजना नहीं थी। दिनकर के अनुसार वे शून्यवादी, नास्तिक और निहिलिस्ट हैं। वे राजनीति से अपने को

तटस्थ बताते हैं लेकिन उनमें फासिस्ट प्रवृत्तियाँ हैं।

निहिलिज्म विफलता-बोध से उत्पन्न एक ऐसा ध्वंसात्मक भाव है, जो हर चीज को गलत मानता है। उसकी मुद्रा मोह-भंग की मुद्रा है। इनके संदर्भ में दिनकर ने लिखा है “कभी-कभी हमें ऐसा लगता है कि अमरीका के बीट और इंग्लैण्ड के क्रुद्ध युवकों ने अपने लिए जो शैली तैयार की है, वह कविता में शुद्धता लाने वाले आन्दोलन का ही एक अप्रत्यक्ष परिणाम है।” स्पष्ट है कि दिनकर ने शुद्धतावादी प्रवृत्ति के हर संभव आयामों का गहन विश्लेषण किया है। यह दिनकर की आलोचना की अन्वेषण और विश्लेषण शक्ति है।

शुद्ध कविता सम्बन्धी विस्तृत चिंतन के बाद हम कह सकते हैं कि शुद्ध कविता का आशय है— विचारों से मुक्त कविता, जीवन और वास्तविकता से विच्छिन्न कविता। ऐसी कविता जो नैतिकता के बंधनों से मुक्त हो, कवि का किसी उद्देश्य के प्रति आग्रह न हो अर्थात् कविता से किसी उपदेश की झलक नहीं मिलनी चाहिए। ऐसी कविता जो सिर्फ सौंदर्य, आनन्द या चमत्कार पैदा करने के लिए लिखी जाती है, वह शुद्ध कविता है। वस्तु बनाम शैली के विवाद में यह कविता शैली पर जोर ही नहीं देती बल्कि शैली उसके लिए इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वही वस्तु बन जाती है। ‘कला के लिए कला’ और प्रतीकवाद जैसे काव्य-सिद्धान्त शुद्ध कविता की प्रवृत्ति को ही देश और काल के अन्तर से अभिव्यंजित करते हैं। कला की प्रतिष्ठा के लिए चलाये गये विभिन्न आन्दोलन शुद्ध कविता को ही प्रतिष्ठापित करते हैं।

हिन्दी के प्रयोगवाद का सम्बन्ध शुद्ध कविता से जोड़ सकते हैं। शुद्ध कविता के आन्दोलन विभिन्न देशों में ज्यादा टिकाऊ नहीं रहे। वे चले बड़ी तेजी से लेकिन जल्द ही समाप्त भी हो गये। वस्तुतः जीवन समाज से कटी कविता ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह सकती, यही हाल उस काव्यांदोलन का भी होता है। चमत्कार के प्रभाव से ऐसी कविता को कुछ क्षण के लिए पसंद किया जा सकता है, लेकिन उसका प्रभाव चिरस्थायी नहीं होता। शुद्ध कविता से जुड़े आन्दोलनों के प्रणेता इलीट वर्ग के लगते हैं जो अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए जानबूझकर जनसाधारण के कटने का प्रयास करते हैं। अपनी विशिष्टता का बोध कराने के लिए (ताकि समाज उनकी विशिष्ट स्थिति स्वीकार करे) वे कला की चमत्कार शैली का सहारा लेते हैं।

जिसे हम शुद्ध कविता समझते हैं या कहते हैं, वह काल की दृष्टि से नयी

चीज हो सकती है लेकिन प्रवृत्ति की दृष्टि से वह कोई नयी चीज नहीं। प्राचीन काल से लेकर अब तक प्रायः सभी भाषाओं के बड़े कवि ऐसी कविताएँ या कविता के बीच ऐसी पंक्तियाँ लिखते रहे हैं जिन्हें आज की भाषा में शुद्ध कविता कह सकते हैं। हाँ, पहले की ऐसी कविता और आधुनिक शुद्ध कविता में यह फर्क है कि पहले के कवियों का एकमात्र ध्येय ऐसी कविता लिखना नहीं था, आधुनिक युग में अलग-अलग देशों में एक विशेष काल में कवियों के समूह ने ऐसी कविता लिखना ही अपने रचना कर्म का एकमात्र ध्येय मान लिया था।

रचना-आलोचना के प्रश्न और दिनकर

अनिल राय

इस पुस्तक के कुछ निबन्ध तो मैंने भाषणादि की विवशता के कारण लिखे और कुछ इसलिए कि कविता के जिस रूप पर मैं आसक्त रहा हूँ, उसके सम्बन्ध की निजी धारणाओं को मैं सुस्पष्टता के साथ जान सकूँ। हिन्दी कविता की कमजोरियों और सामर्थ्यों के कारणों की खोज करता हुआ, अपने ही लाभार्थ, मैं उन प्रवृत्तियों से परिचित होना चाहता था, जो हमारे समस्त काव्य-साहित्य को प्रभावित कर रही हैं।

—दिनकर, 'मिट्टी की ओर' के 'निवेदन' में।

कविता अगर यह व्रत ले ले कि वह केवल शुद्ध होकर जियेगी, तो उस व्रत का प्रभाव कविता के अर्थ पर भी पड़ेगा, कवि की सामाजिक स्थिति पर भी पड़ेगा, साहित्य के प्रयोजन पर भी पड़ेगा। ऐसे जो भी प्रश्न मुझे सूझ सके, उनका विवेचन, अपने जानते, मैंने स्पष्टता से किया है।

—दिनकर, 'शुद्ध कविता की खोज' की 'भूमिका' में।

दिनकर रचनाकार भी हैं और आलोचक भी। इन दोनों भूमिकाओं में उनको यहाँ एक घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध है। रचना-प्रक्रिया में सक्रिय आलोचना-दृष्टि के बिना रचनाकार की वैधता सन्दिग्ध होती है और आलोचना-प्रक्रिया में रचना-विवेक की अनुपस्थिति को प्रश्नांकित करती है। दिनकर के लेखन में इस प्रकार का द्वैत नहीं है। यह उनकी शक्ति है कि इन भूमिकाओं में उनका व्यक्तित्व अविभक्त है।

दिनकर की आलोचना एक रचनाकार की उदग्र प्रश्नाकुलता की फलश्रुति

है। उनका रचनाकार उनकी आलोचना-यात्रा में निरंतर जाग्रत और संवादरत है। यह आलोचना एक रचनाकार की अन्तर्यात्रा है। यह रचना और उसकी विभिन्न अवधारणाओं के साथ एक गहन अन्तःक्रियात्मक विमर्श है। यह रचना के परिसर में किसी बाहरी सत्ता का अवैध हस्तक्षेप नहीं। यहाँ व्यवहार निरपेक्ष सिद्धान्त-निरूपण नहीं, रचना-समस्याओं का विश्लेषण और सन्धान है तथा समाधान की गम्भीर चिन्ता भी। यहाँ प्रश्नों का प्रस्थान है, तो उत्तर-मीमांसा भी। रचना-आलोचना के बीच एक सतर्क आवाजाही और सघन संवाद। इसीलिए, यह विश्वसनीय भी है और उत्तेजक भी।

रचना-आलोचना के प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में दिनकर एक व्यापक और प्रत्यक्ष सामाजिक विमर्श रचते दिखते हैं। मनुष्य और उसका जीवन-व्यापार बराबर उनकी दृष्टि में है। सृजन का लक्ष्य समाज ही है, उससे निस्संग कुछ दूसरा नहीं। यह विचार दिनकर के साहित्य-चिन्तन का महत्वपूर्ण पक्ष है। इसी विचार के इर्द-गिर्द बनने वाली सहमतियों-असहमतियों के ध्रुवान्तों में इनकी आलोचना गतिमान दिखती है। ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के साथ साहित्य के सम्बन्ध के बारे में विचार करते हुए दिनकर स्थूल सैद्धान्तिकता और कलाहीन बौद्धिकता के सम्भावित खतरों की चाहे जितनी बातें करें, अपने विश्लेषण में वे इन अनुशासनों की वैचारिक निष्पत्तियों का रचनात्मक विनियोग करते देखे जा सकते हैं। ऐसा उनके साहित्य-चिन्तन के सामाजिक चरित्र के कारण ही सम्भव होता है। साहित्य के सामाजिक प्रयोजन का प्रश्न घूम-फिर कर बराबर उनकी विचार-प्रक्रिया में उपस्थित होता रहता है।

हिन्दी के इस अत्यन्त व्यस्त रचनाकार की एकनिष्ठ पूर्णकालिक आलोचक की तरह भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-चिन्तन, हिन्दी कविता के विविध आन्दोलनों, युग-प्रवृत्तियों के साथ काव्य की सोद्देश्यता, जीवन-मूल्यों, समकालीनता और राजनीति के साथ उसके सम्बन्धों, संवेदना, विचार और रूप, कला-तत्त्व और सौन्दर्य, प्रतिबद्धता और स्वतंत्रता, व्यक्तिवाद और कलावाद, चित्र, छन्द और भाषा, विचार, आनन्द और शुद्ध कविता के प्रश्नों की गहन-गम्भीर साहित्यशास्त्रीय यात्रा का अध्ययन दिलचस्प हो सकता है। दिनकर की यह व्यापक सर्जनात्मक चिन्ता और इससे जुड़ा हुआ यह विराट आलोचकीय उद्यम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। देखा जाना चाहिए कि इस चिन्ता और उद्यम की अन्तर्वस्तु का मूल चरित्र क्या है।

सोदेश्य कला के खिलाफ सारे तर्कों से अवगत रहते हुए भी मुझे ऐसा लगता है कि कवि भी सामाजिक जीव है और निरुद्देश्य उसकी जीभ नहीं खुलनी चाहिए।

यह सन् 1938 में चम्पारण जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कवि-सम्मेलन में दिये गये अध्यक्षीय अभिभाषण का एक अंश है। इसके दो वर्ष पहले प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य बता चुके थे। यह कला-साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव और प्रसार तथा स्वाधीनता आन्दोलन के सघन गतिविधियों का समय है। भाषा और साहित्य की कोई भी भूमिका इस समय-वातावरण के साथ चलकर ही अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकती थी। दिनकर की साहित्य-चेतना की निर्मिति में इन्हीं सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक परिस्थितियों की प्रत्यक्ष भूमिका है। उनकी चेतना की अभिव्यक्ति साहित्य में इसी रूप में सम्भव हो सकती थी— “कवि-कल्पना और सामाजिक जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित किये बिना साहित्य आयुष्मान् नहीं हो सकता। छोटी-छोटी, क्षणिक और हल्की भावनाओं का गीत-प्रणयन भी अपनी जगह मूल्य रखता है, किन्तु कलाकारों में श्रेष्ठ तो वही गिना जायेगा, जो जीवन के किसी महान् प्रश्न पर महान् रूप से कला का रंग छिड़क सके। सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।” कला-साहित्य जीवन-सापेक्ष होकर ही कलावाद का प्रतिवाद रच सकता है। साहित्य की सोदेश्यता के पक्ष में खड़ा होकर ही कलावाद का जवाब दिया जा सकता है। दिनकर यहाँ स्पष्ट हैं। साहित्य की सामाजिक प्रयोजनीयता की बात करना उस कलावादी जीवन-निरपेक्ष विचार-दृष्टि के विरोध का तर्कशास्त्र रचना है, जो आनन्द की भाव-प्रक्रिया से पृथक् साहित्य की कोई भूमिका नहीं देख पाती। ‘कला कला के लिए’ के विरोध में वैचारिक संघर्ष का जो वातावरण हिन्दी में निर्मित हुआ था, दिनकर अपनी भाषा-वाणी के साथ न केवल उसमें सम्मिलित थे, बल्कि उसे प्रगाढ़ बना रहे थे। पुराने कलावाद के साथ नये रूपवाद की विचार-प्रवृत्तियों ने जब साहित्य को स्वायत्त भाषिक संरचना में निःशेष कर देने की घोषणाएँ कर रखी हों, साहित्य के इतिहास को

जब केवल अभिव्यक्ति-रूपों के परिवर्तन के इतिहास के रूप में देखे जाने का प्रस्ताव किया जा रहा हो, तो दिनकर के इस वैचारिक उद्यम का महत्व समझ में आता है।

साहित्य यदि केवल भाषिक संरचना है, तो भी वह समाज के बाहर की कोई सत्ता नहीं। वस्तुतः भाषा एक सामाजिक-सांस्कृतिक निर्मिति है। इसकी अन्तर्वस्तु का चरित्र सामाजिक ही होगा। भाषिक माध्यम के चयन के साथ ही सर्जक एक सामाजिक प्रक्रिया से अनिवार्यतः सम्पृक्त हो जाता है। यह प्रक्रिया विचार-सम्प्रेषण अथवा संवाद की कोई भी कलात्मक संरचना अपनी अन्तिम परिणतियों में मनुष्य, समाज और जीवन के पक्ष में ही खड़ी होगी। वह उससे निरपेक्ष नहीं हो सकती— “संसार में ऐसा महाग्रन्थ लिखा ही नहीं गया, जो एकसाथ ही शिक्षा और कला-सौन्दर्य दोनों ही दृष्टियों से महान् नहीं था। कला की ऊँची कृतियाँ केवल जीवन की समीक्षा नहीं करती, वरन् उसकी समस्याओं का निदान, उसके अर्थों की टीका और कभी-कभी उसका हल भी निकालती हैं।” साहित्य की इस सोदेश्यता को दिनकर ‘वस्तुवाद’ कहते हैं। यह उनकी दृष्टि में नये वस्तुवाद का साहित्यशास्त्रीय अभिलक्षण है।

बहुत दिनों से हम साहित्य को जीवन का सीधा अथवा वक्र प्रतिबिम्ब कहते आये हैं, क्योंकि समकालीन जीवन का रूप साहित्य में प्रतिफलित हुआ करता है। तब भी ऐसे लोग हैं, जो साहित्य में समकालीनता के विरोधी हैं। उन्हें गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि क्या कोई ऐसा भी साहित्यकार है, जो अपने विषय अथवा शैली को समकालीन वास्तविकता से अत्यन्त दूर रखता हुआ भी यह दावा पेश कर सके कि समकालीन आर्थिक या राजनैतिक अवस्थाओं अथवा आन्दोलनों का, समकालीन ज्ञान और विद्याओं का, अपने वर्ग की प्रवृत्तियों का, अथवा जिन लोगों से वह बचकर रहना चाहता है, उसके विरुद्ध घृणा या विरोध के आवेगों का उसकी रचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है?

दिनकर यहाँ ‘समकालीनता’ और ‘राजनीति’ को एक साथ जोड़कर देखते हैं तथा रचना-आलोचना के लिए इसे जरूरी बताते हैं। उपर्युक्त वक्तव्य ‘तार सप्तक’ के प्रकाशन, अर्थात् ‘प्रयोगवाद’ के आरम्भ के तत्काल बाद का है। यह

‘प्रगतिवाद’ के जबर्दस्त विरोध का समय है। उद्देश्य की स्थूलता, प्रचारात्मकता, उपदेशमूलकता और कलाहीनता का आरोप लगाकर प्रगतिवाद के विरुद्ध सुनियोजित साहित्य-सिद्धान्त गढ़े जा रहे थे। प्रगतिवाद की कतिपय सीमाओं, उसकी कमजोरियों का सामान्यीकरण करते हुए उन्हें उसकी स्वाभाविक और सैद्धान्तिक दुर्बलताओं के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा था। प्रगतिवाद की विरोधी आलोचना ने उसकी सीमाएं तो चिह्नित की ही थी, अपना सौन्दर्यशास्त्र भी गढ़ लिया था। एक ऐसा सौन्दर्यशास्त्र, जिसे कला-साहित्य का अपने समकालीन जीवन-यथार्थ के साथ कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं था, जो राजनीतिक विचार को साहित्येतर, विजातीय तत्त्व मानता था तथा सुखानुभूति और निर्द्वन्द्व आनन्द जिसका चरम्-परम् कला-मूल्य था। दिनकर लिखते हैं— “साधारणतः ये आलोचक कला को एकमात्र सौन्दर्यानुभूति का माध्यम मानते हैं और पूरी सचाई के साथ विश्वास करते हैं कि ऐसी अनुभूति तभी संभव है, जब कलाकार की शैली और द्रव्य समकालीनता से दूर हों तथा उसके विषय ऐसे हों, जिनका सामयिक अवस्थाओं से सीधा सम्बन्ध नहीं हो। उनकी दृष्टि में राजनीति के उच्छ्वासों से गर्म हुई दुनिया और नये विचार, दोनों ही कल्पना एवं ज्ञानेन्द्रिय की सुखानुभूति के प्रतिकूल पड़ते हैं तथा अर्वाचीन साहित्य का भी केवल वही अंश उन्हें अच्छा लगता है, जो जीवन के दाह से दूर वाले लोक से सम्बन्ध रखता है।” इस कलावादी-भाववादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध संघर्ष का मोर्चा खोलना उस समय की एक बड़ी जरूरत थी और दिनकर इसी जरूरत को पूरा कर रहे थे। वे ‘समकालीनता’ और ‘राजनीति’ की अवाञ्छित मानने वाली दृष्टि का विरोध कर अपने समकालीन सरोकारों और राजनीतिक चेतना का भी साक्ष्य प्रस्तुत कर रहे थे। किसी भी संवेदनशील और सचेत रचनाकार-आलोचक का अपने समकालीन यथार्थ से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। उसके सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक सरोकारों का रास्ता उसके समकालीन जीवन-सन्दर्भों, प्रश्नों और चुनौतियों से होकर ही जाता है। उसके लिए समकालीनता का कोई सामाजिक विकल्प नहीं होता। वह समकालीनता के अपरिहार्य दबावों में अपने को सम्पन्न करता है, बदलता और विकसित करता है। वस्तुतः दिनकर यही कर रहे थे।

साहित्य के राजनीतिक चरित्र को लेकर समय-समय पर किये जाने वाले आक्षेपों का निर्णयात्मक उत्तर देते हुए दिनकर कहते हैं— “साहित्य राजनीति का

सेवक नहीं और न ही उसका विरोधी ही है। दोनों का एकमात्र लक्ष्य जीवन है और दोनों की प्रेरणाएं भी जीवन से ही आती हैं।” साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध की इतनी निर्भ्रान्त धारणा के बावजूद दिनकर साहित्य में राजनीति के उपयोग की पद्धति को लेकर अत्यन्त सजग है। वे साहित्य में राजनीति को लेकर नहीं, उसके स्थूल और कलाहीन इस्तेमाल से चिन्तित हैं। वे साहित्य में राजनीति का स्वागत तो करते हैं, पर कला-सौंदर्य की क्षति उठाकर नहीं। यह उनकी वस्तुपरक आलोचना-दृष्टि का साक्ष्य है कि प्रगतिवादी कविता के कलात्मक विचलन को प्रश्नांकित करते हुए उसके मन में कोई द्वन्द्व नहीं है। प्रगतिवाद की इस समस्या पर विचार करते हुए राजनीति के स्थूल प्रचार-तत्त्व, उसके शुष्क आर्थिक सिद्धान्त, सभी उनकी दृष्टि में हैं और वे इससे क्षुब्ध हैं। साहित्य की प्रचारात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध वे अन्यत्र भी लिखते रहे हैं। वे इसे सौन्दर्य को क्षति पहुँचाने वाला साहित्य का गैरकलात्मक घटक मानते हैं। प्रगतिवादी साहित्य के प्रत्यक्ष उदाहरणों के आधार पर वे राजनीति नहीं, राजनीति के स्थूल और कलाहीन उपयोग का विरोध करते दिखते हैं। वे इस प्रसंग में चेतावनी देते हुए बताते हैं कि “कवि को किसी राजनैतिक दल के सिद्धान्तों की विवेचना नहीं, प्रत्युत् उन अवस्थाओं की काव्यात्मक अनुभूति व्यक्त करना है, जिसके भीतर से राजनैतिक सिद्धान्त भी पैदा होते हैं। पन्त जी की ‘युगवाणी’ मार्क्स के ‘कैपिटल’ का अनुवाद नहीं, प्रत्युत् उन्हीं सामाजिक अवस्थाओं की कविकृत अनुभूति है, जिनकी राजनैतिक अनुभूति ‘कैपिटल’ या ‘कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो’ कहलाती है।”

साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों की इतनी सतर्क समझ के बावजूद यह विडम्बना ही है कि इस सन्दर्भ में दिनकर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य छोड़ बैठते हैं। राजनीति उनकी दृष्टि में केवल विषय-वस्तु अथवा अनुभूति-क्षेत्र बनकर रह जाती है— “यह नहीं है कि साहित्य राजनीति के अधीन है, प्रत्युत् यह कि राजनीति उस जीवन का एक प्रमुख अंग है, जो अपनी पूरी विविधता के साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है। जिस प्रकार साहित्य जीवन के अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है, उसी प्रकार राजनीति से भी वह रस ग्रहण करता है।” साहित्य की एक राजनीतिक दृष्टि भी हो सकती है, अथवा राजनीति विषय के रूप में नहीं, वरन् एक दृष्टिकोण, या चेतना के रूप में साहित्य के लिए उपयोगी हो सकती है, दिनकर का ध्यान इस तथ्य की ओर

नहीं जा सका है। इस विडम्बना का कारण समझ में आता है। जिस प्रगतिवादी साहित्य के स्वरूप और चरित्र के प्रसंग में दिनकर साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों का व्यावहारिक प्रत्यक्षीकरण सम्भव करते हैं, वहाँ राजनीति दृष्टि और चेतना के रूप में कम, विषय और कथ्य के प्रकट-मूर्त्त क्षेत्र अथवा रचना-सामग्री के रूप में ही प्रायः अधिक मौजूद रही है। यह स्थिति दिनकर जैसे साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य के आग्रही रचनाकार-आलोचक के लिए कितनी त्रासद् रही होगी-सहज ही समझ जा सकता है। राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ और सिद्धान्त-कथन को सीधे कविता में प्रस्तुत कर देने का प्रगतिवादी साहित्य-वातावरण दिनकर को क्षुब्ध ही कर सकता था और इस मनःस्थिति में दृष्टिकोण की जगह विषय-वस्तु पर केन्द्रित हो जाना असम्भव नहीं था।

3

अगला युग विचारक-कवियों का युग होगा, क्योंकि विचारों का विषय बनने में कोई दोष नहीं है और तर्क भी जब उत्तम कोटि का होता है, तब उसके भीतर से आग धधक उठती है, जो कविता की आग है, एक प्रकार का प्रकाश बल उठता है, जो कल्पना से खिलने वाला प्रकाश है। और इस प्रकाश के भीतर से सत्य बौद्धिक धारणा बनकर नहीं, बल्कि विजन या अनुभूति के रूप में ही प्रकट होता है।

यह रचना और विचार के अन्तर्सम्बन्ध पर दिनकर की एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है। राजनीति के कलात्मक उपयोग के बारे में उन्होंने जिस सतर्कता की बात की थी, वह ज्ञान और विचार पर केन्द्रित चिन्तन में भी साफ-साफ दिखती है। उनका मानना है कि केवल भाव और चित्र-काव्य रचे जायें, यह सम्भव ही नहीं है। विचार उसमें अवश्य रहेगा। किन्तु, काव्य बनने के लिए चित्रों में उसका रूपान्तरण जरूरी होता है। स्पष्ट है कि दिनकर यहाँ चित्रों के सन्दर्भ में रचनाकार की कल्पनाशीलता और सर्जनात्मकता की ओर संकेत कर रहे हैं। वे अपने इस विवेचन में साहित्य में विचार की उपस्थिति के विरोध की चिन्तन-परम्परा पर भी दृष्टिपात करते हैं। प्रयोजनहीन सौन्दर्य और आनन्द की समाज-निरपेक्ष अवधारणाओं को वे अपना समर्थन नहीं दे पाते। यह दिनकर की सामाजिक-राजनैतिक चेतना के कारण होता है। विचार का विरोध जिन दूसरे संकटों की ओर ले जाता है, उसका कोई समाधान इस अवधारणा के पास नहीं

है। ज्ञान और कल्पना, विचार और भाव-इनका अविच्छिन्न संयोजन ही कला-साहित्य का सृजन है। रचना-प्रक्रिया में इनमें से किसी की भी उपेक्षा सृजन के प्रतिकूल मिलती है और कल्पना से भी विचार उत्तेजित होते हैं। आलोचक तर्कों से सिद्ध करता है कि कल्पना विचार से अलग रखी जा सकती है। किन्तु, कवियों का अनुभव बतलाता है कि यह दुष्कर कार्य है। और पाठक तो कल्पना और विचार, दोनों का आनन्द लेते हैं। दिनकर विचार की उपयोगिता के साथ उसके विभिन्न स्रोतों की चर्चा करते हैं। यहाँ वे ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों से साहित्य की प्रकृति के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- “जैसे हम विचार-काव्य कहते हैं, वह भी कोरा विचार नहीं है। यदि वह कोरा विचार होता, तो वह शास्त्रों की शैली में लिखा जाता। फिर भी, आलोचकों का एक सम्प्रदाय है, जो यह मानता है कि इतिहास, दर्शन अथवा समाजशास्त्र के विचार जब कवि की लेखनी से काव्य में आने लगते हैं, तब उनसे शास्त्र और काव्य, दोनों के साथ अन्याय होता है, क्योंकि उस रचना को न तो शुद्ध कविता कह सकते हैं, न शुद्ध शास्त्र। ‘राजनीति’ की ही तरह ‘विचार’ की चर्चा करते हुए दिनकर यहाँ साहित्य के साथ उसके कलात्मक अन्तर्सम्बन्ध की चिन्ता में ही एकाग्र हैं। अर्थात् विचार ठीक है, यदि वह सौन्दर्य-तत्त्वों के साथ रचना में आये। यह चिन्ता-दृष्टि विचार को केवल रचना के विषय के रूप में ही देख पा रही है। मूल चिन्ता यही है कि विचार को किसी भी विधि से कलात्मक बना लिया जाय। इस रचनात्मक समस्या से अधिक दिनकर के लिए उसका कोई दूसरा महत्त्व नहीं दिखता।

रचना हो, या आलोचना वह एक सामाजिक विमर्श है। इस विमर्श में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों की प्रत्यक्ष भूमिका है। रचना-आलोचना के मानदण्ड स्वनिष्ठ नहीं होते। इनकी जड़ें अपने समाज और संस्कृति में होती हैं। अपने पूरे जीवन-परिवेश, परम्परा-वर्तमान और ज्ञान-सम्पदा के साथ रचनाकार-आलोचक की वैचारिक-भावात्मक अन्तःक्रिया चलती रहती है। रचना-आलोचना के विज्ञान और मानविकी की विभिन्न विचार-निष्पत्तियों का पर्याप्त विनियोग किया है। प्रश्नों-समस्याओं के विश्लेषण की क्षमता और दृष्टि-निर्मिति में इनकी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता सिद्ध है। ‘विचार-दृष्टि’ के उपयोग और महत्त्व पर भी दिनकर को ध्यान देना चाहिए था। स्वयं दिनकर रचनाकार और आलोचक, दोनों ही रूपों में ज्ञान की विभिन्न विधाओं, उसके विभिन्न स्रोतों का

उपयोग करते हुए देखे जा सकते हैं। इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान और अनुशासन, रचना-सामग्री के रूप में नहीं, विचार-दृष्टि के रूप में मनुष्य और उसके जीवन को, व्यक्ति और समाज को ठीक तरह से समझने-विश्लेषित करने और रचने में सहयोगी होते हैं—सचाई का यह पक्ष दिनकर की दृष्टि से अलक्षित रह गया है। 'विचार' का यही सन्दर्भ मुक्तिबोध के साहित्य-चिन्तन में 'ज्ञान' के रूप में एक महत्त्वपूर्ण अवधारणात्मक गरिमा प्राप्त करता है। वह ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान तक की प्रक्रिया में रचना और आलोचना का एक प्रख्यात प्रत्यय बन जाता है। कला-साहित्य में विचार की इस विशिष्ट उपस्थिति और भूमिका का उद्घाटन कर दिनकर इस विवेचन को अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक और मूल्यवान बना सकते थे।

4

अगर कोई कलाकार कला की अकर्मण्यता में ही गौरव समझता हो अथवा आत्मभिव्यक्ति में ही कला का चरम महत्त्व मानता हो, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसने समाज और वस्तु-जगत के सामने अपनी पूरी पराजय स्वीकार कर ली है।

दिनकर ने यहाँ कला-साहित्य के दो महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों की ओर एक साथ ध्यान खींचा है। व्यक्तिवाद और कलावाद, इन दोनों रुग्ण प्रवृत्तियों ने रचना-आलोचना को बहुत क्षति पहुँचाई है। दिनकर इनके विरुद्ध हैं। 'कला की अकर्मण्यता' का अर्थ कला की प्रयोजनहीनता है और यही कलावाद है। 'आत्माभिव्यक्ति' को ही उद्देश्य मानना 'व्यक्ति' को ही साध्य समझना है और यही 'व्यक्तिवाद' है। इस विचार-दर्शन पर प्रहार कर दिनकर उस साहित्यशास्त्र के समर्थन में खड़े होते हैं, जो व्यक्ति की जगह व्यापक समाज को कला का लक्ष्य मानता है और घोषित करता है कि कला वस्तुतः जीवन के लिए ही होती है।

व्यक्तिवादी-कलावादी विचार-दर्शन के नकारात्मक प्रभावों को दिनकर हिन्दी ही नहीं, विदेशी कला-साहित्य के क्षेत्र में भी ठीक तरह से देख-समझ रहे थे। अपनी वैयक्तिक कमजोरियों से आत्म-संघर्ष करते हुए, व्यक्तित्वान्तरण के लिए प्रयत्नशील रचनाकारों की जगह, ऐसे रचनाकारों-आलोचकों की संख्या

अधिक थी, जो उन रुग्ण प्रवृत्तियों के गहरे प्रभाव में थे। ये रचनाकार-आलोचक भूत-भविष्य से कटे हुए केवल वर्तमान के भोक्ता थे और अपने वैयक्तिक अनुभववाद से साहित्य-कला में कुण्ठा, घुटन, निराशा, अनास्था, अकेलापन और अहं के चित्रण को अपनी बड़ी सर्जनात्मक उपलब्धियाँ मान रहे थे। दिनकर को इन आधुनिक नकारात्मक प्रवृत्तियों के उच्छेदन का प्रयास करते हुए स्पष्ट देखा जा सकता है। उनका विचार है— "व्यक्तिवाद को कला का सिद्धान्त मान लेना बहुत ही जोखित का काम है। साहित्य में तरह-तरह के दायित्वहीन प्रलाप और वैयक्तिक उन्माद के नमूने इसी सिद्धान्त की प्रेरणा से निकले हैं। शुद्ध कविता की खोज' तक आते-आते दिनकर ने व्यक्तिवाद के एक अत्यन्त सम्मोहनकारी वैचारिक अस्त्र 'स्वतंत्रता' के खतरे को पहचान लिया था— "बीसवीं सदी के आरम्भ के साथ साहित्य के भीतर एक सर्वथा नवीन मनोदशा झलक मारने लगी, जो यह बतलाती थी कि साहित्यकार का धर्म संसार की सभी जिम्मेवारियों से अलग रहकर अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखना है।" दिनकर व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के इस धोखे से परिचित थे। इसके निराकरण के लिए उनके पास 'प्रतिबद्धता' का विचार है। वे इस अस्तित्ववादी वैयक्तिक स्वाधीनता के जवाब में इसे प्रस्तावित करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य की महिमा प्रतिबद्ध होने में ही है और कर्म-संघर्षों में प्रवेश करने से ही स्वाधीनता के भीतर उसका वास्तविक अर्थ पैदा होता है।

दिनकर अपने मोर्चे पर इतिहास का एक जरूरी दायित्व निभा रहे थे। वस्तुतः किसी भी कला-कर्म, या सामाजिक-राजनीतिक कर्म में अपेक्षित शक्ति और सृजनशीलता तभी पैदा हो पाती है, जब लेखक, बुद्धिजीवी, संस्कृतिकर्मी, राजनीतिकर्मी जीवन के संघर्षों में, प्रतिरोध-यात्रा में सीधे अपने को शामिल करता है। लेखकों-बुद्धिजीवियों की सक्रिय प्रतिबद्धता की चर्चा कदाचित् इसीलिए की जाती है। दिनकर व्यक्तिवाद की नकली स्वतंत्रता के बरअक्स प्रतिबद्धता की इसी विचार-शक्ति का इस्तेमाल करते देखे जा सकते हैं।

व्यक्तिवाद से कलावाद का गहरा सम्बन्ध है। कला की स्वायत्त, स्वनिष्ठ दुनिया की बात करने वाली कलावादी प्रवृत्ति का आचरण रचना-आलोचना के लिये गैर प्रगतिशील और क्षयिष्णु रहा है। नामवर सिंह ने 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में बताया है कि इस कलावाद की जड़ में वही चरम व्यक्तिवाद है, जो सामाजिक समस्याओं के प्रति व्यक्ति के भीतर दायित्वहीनता और

उदासीनता पैदा करता है और कवि-कलाकार समस्याओं से भागकर केवल शिल्प-शैलियों में भटकता रहता है। दिनकर ने समय-समय पर कलावाद के जीवन-निरपेक्ष चरित्र पर निर्मम टिप्पणियां की हैं। 'शुद्ध कविता की खोज' में कलावादी-रूपवादी साहित्यिक अभिलक्षणों के सन्दर्भ में वे अत्यन्त मुखर दिखते हैं— "घर में आग लगी हुई है और कवि आग बुझाने के बदले लपटों के वर्णन में लीन है। पानी नहीं, शब्द चाहिए; पिचकारी नहीं, शैली चाहिए, जिससे आग का गूढ़-से-गूढ़ वर्णन छूट न जाय। वर्णन संक्षिप्त होना चाहिए, सुनिश्चित होना चाहिए, खांटी और शुद्ध होना चाहिए। आग बुझाने का काम आग बुझाने वाले लोग करेंगे।" कलावाद-रूपवाद यही है। इसे केवल रूप-वर्णन में दिलचस्पी है। यह रचना तथा जीवन के प्रश्नों को तटस्थ, एकांतिक कला-प्रक्रिया में रूपायित करना चाहता है। 'नयी समीक्षा' के साहित्य-दर्शन में भी दिनकर को कुछ ऐसी ही अनुगूँज सुनाई पड़ी थी— "नयी समीक्षा का आग्रह है कि साहित्य की परीक्षा ऐतिहासिक प्रक्रिया के आधार पर मत करो, क्योंकि साहित्य की जो अपनी विशेषता है, वह साहित्येतर ज्ञान के द्वारा परखी नहीं जा सकती।" यही है रूपवाद। दिनकर इसे पूरी तरह अस्वीकार करते हैं। यह हिन्दी की प्रगतिशील रचना-आलोचना का एक सहयोग प्रयास था, इसके महत्त्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

5

ऊँची कविता का अगर रूप सुन्दर होता है, तो उसकी आत्मा तथा उसके अन्तर्भाव भी पुण्य को प्रेरित करने वाले तथा मंगकारी होते हैं।

दिनकर यहाँ रचना के रूप-सौंदर्य का महत्त्व बता रहे हैं। 'पुण्य' और 'मंगल' जैसे शब्दों का प्रयोग यहाँ आत्मवादी नहीं, अपितु सामाजिक सन्दर्भों में किया गया है। कला अथवा रूप का विचार कलावाद अथवा रूपवाद का विचार नहीं है। यह रचना में वस्तु-रूप के सम्बन्ध, उसकी अन्विति और संरचना, उसकी अभिव्यंजना-पद्धति तथा प्रभावशीलता का विचार है। दिनकर के सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन में, आरम्भ से अन्त तक, जहाँ कलावाद-रूपवाद के प्रति तीव्र विरोध का स्वर है; वहीं कला, रूप, सौंदर्य और प्रभाव-तत्त्व के प्रति अत्यन्त सजगता का। कलात्मक सौंदर्य उनकी दृष्टि में रचना का बेहद जरूरी तत्त्व है। इसकी उपेक्षा कर ज्ञान तो रचा जा सकता है, पर साहित्य नहीं।

वे ज्ञान और सौंदर्य की संश्लिष्ट निर्मिति को रचना के अस्तित्व के लिए आवश्यक मानते हैं। आस्वाद, सौन्दर्यानुभूति, सम्प्रेषण और प्रभावशीलता के लिए भाव और विचार के साथ कल्पनाशीलता और कलात्मक भाषिक संरचना का योग दिनकर की दृष्टि में रचना का भी मूल्य है और आलोचना का भी। वे इसमें किसी शिथिलता और विचलन के पक्ष में नहीं हैं। वे एक विकल्पहीन कला-सिद्धान्त के रूप में रचना-आलोचना के लिए इसे कठोरता के साथ अनिवार्य कर देना चाहते हैं।

यह कहा जा चुका है कि रूप का यह आग्रह रूपवाद नहीं है। रचना के वस्तु-पक्ष पर आत्यंतिक बल देने वाले मार्क्सवाद तक में रूप के सन्दर्भ में किसी छूट की कोई गुंजाइश नहीं है। वहाँ वस्तु और रूप में किसी 'विभाजन' की सम्भावना ही नहीं। इस मार्क्सवादी धारणा के साथ दिनकर के इस विचार-साम्य को देखा जा सकता है— "साहित्य के कारखाने में अब तक वह आरी नहीं बनी, जिससे कविता का भाव-पक्ष उसके शैली-पक्ष से चीरकर अलग किया जा सके और आगे भी ऐसी आरी बनने की कोई सम्भावना नहीं है। जैसे, अर्थ शब्दों के साथ लिपटे होते हैं, वैसे ही, भाव भी शैली में समाया रहता है।" इस विचार को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं— शैली भाव की कमीज नहीं, उसकी चमड़ी है और जैसे प्रत्येक व्यक्ति चमड़ी के साथ जन्म लेता है, वैसे ही, भाव भी अपनी शैली के साथ ही उत्पन्न होते हैं और जैसे मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि वह कूदकर अपनी चमड़ी से बाहर निकल जाय, वैसे ही, भाव भी शैली से अलग नहीं किये जा सकते।" वस्तु और रूप का, भाव और शैली का यह अविभाज्य सम्बन्ध रचना के अस्तित्व की आधारभूत शर्त है। दिनकर का ऐसा विचार उनके आरम्भिक चिन्तन के उस दौर से सामने आता रहा है, जब काव्य की सामाजिकता और जन-सापेक्षता के प्रश्न पर वे अत्यन्त जाग्रत, अत्यन्त मुखर थे, जब सोदेश्यता और साध्य के बारे में केवल स्पष्ट ही नहीं थे, विरोधियों के प्रति बहुत आक्रामक भी थे। परिवेश, जीवन-मूल्य और साहित्य के समाज-धर्म के रिश्तों पर खुलकर बोलने वाले दिनों में भी दिनकर कल्पना, सौंदर्य, भाषा, चित्र और नाद, दुरूहता और सम्प्रेषण आदि रचना-तत्त्वों के महत्त्व को निरन्तर रेखांकित करते रहे हैं।

हिन्दी आलोचना में रचना के रूप-पक्ष पर अपेक्षाकृत कम बातें हुई हैं। रचना के भाव-विचार पर, उसकी अनुभूतियों और विषय-वस्तु पर चर्चा सबसे

ज्यादा की जाती है। आलोचकों की इस सम्बन्ध में स्पष्ट स्वीकारोक्ति भी है कि रचना के भाषा-विधान और शिल्प-प्रविधि का अध्ययन थोड़ा मुश्किल काम है। आलोचना में शायद इसी मुश्किल से बचने की कोशिश दिखती है। दिनकर की आलोचना इस मुश्किल के सामने जाने से न तो कतराती है और न ही रास्ता बदलती है। यह वस्तु की ही तरह रूप-विन्यास के जटिल संस्तरों को खोलने-समझने की प्रक्रिया में दिलचस्पी रखने वाली आलोचना है। इनकी पुस्तकों में इसके अनेक साक्ष्य देखे जा सकते हैं। भाषा-शिल्प पर केन्द्रित इनमें कई स्वतंत्र अध्याय हैं, जो इस सन्दर्भ में दिनकर की चिन्ता और गहन आलोचकीय श्रम से हमें परिचित कराते हैं।

दिनकर का बहुविवादित निबन्ध 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' वस्तुतः रचना में रूप-सौन्दर्य के महत्त्व के प्रतिपादन का व्यावहारिक समीक्षात्मक प्रयास है। मूल प्रतिपाद्य से परिचित न रहने पर ऐसा लगता है कि दिनकर यहाँ रीतिकाल की समग्र स्वीकृति का कोई तर्क रच रहे होंगे। पर, ऐसा नहीं है। साहित्य के बड़े मानवीय अभिप्रायों के प्रति अपेक्षाशील दिनकर के लिए यह सम्भव भी नहीं है। रीतिकालीन कविता की कल्पनाशीलता और चित्रात्मकता की शक्ति और उसके भाषिक विन्यास पर प्रकाश डालकर वे इन रूप-तत्त्वों के महत्त्व को उद्घाटित करना चाहते हैं। अपने इस प्रयोजन के लिए वे यहाँ एक युक्ति का प्रयोग करते हैं। वे एक घोषित, बहुप्रचारित, बहुनिन्दित अधम काव्य का सन्दर्भ उठाते हैं। वे घने अंधकार में प्रकाश-वृत्त तलाशने का उपक्रम करते हैं। विरोधी संयोजन में सन्दर्भ उभरते हैं। इस निबन्ध में तर्क की सारी व्यूह-रचना का मूल मंतव्य केवल इतना है कि कविता में कल्पनाशील चित्रात्मकता से सौन्दर्य उत्पन्न किया जा सकता है और यह कौशल कवि में होना चाहिए। दिनकर लिखते हैं— "आज आलोचना में चित्रकारी की महिमा सबसे ऊपर मानी जा रही है। अगर यही कसौटी हम रीतिकाल पर लगायें, तो रीतिकाल हिन्दी का बहुत सफल काल समझा जायेगा।" रीतिकाल को सफल काव्य मानने वाला यह विचार प्रथमतः केवल चौंकाता ही नहीं, अपने तीव्र प्रतिवाद के लिए उद्देलित भी करता है। यह एक कलावादी विचार प्रतीत होता है। इसके विरोध में प्रश्न भी उठते हैं। वस्तु और रूप को अविच्छिन्न मानने वाले दिनकर यहाँ चित्रों के आभ्यन्तरिक चरित्र के सन्दर्भ को छोड़कर, केवल रूप-सौन्दर्य के आधार पर कैसे निष्कर्ष निकाल रहे हैं? उनके सौन्दर्य का

समाजशास्त्र क्या है? पर, लगता है यहाँ इस प्रसंग में इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं। फिर, इसकी निकट की व्याख्या क्या हो सकती है? बस, केवल इतनी कि कविता, साहित्य की मूलप्रकृति का, उसके निजी स्वभाव और वैशिष्ट्य का बिम्बों की सर्जनात्मकता से गहरा सम्बन्ध है। हालांकि, साहित्य का विकासमान प्रवृत्तियों, उसकी प्रकृति और संरचना के नये रूपों के दृष्टिगत यह विचार भी बहस के दायरे से बाहर नहीं रह गया है। पर, इतने प्रश्नों के बावजूद रचना की सुन्दरता, उसकी प्रभावोत्पादकता के बारे में दिनकर की इस चिन्ता का महत्त्व समझ में आने वाला है।

6

मार्क्सवाद यह भले ही बतला दे कि किसी कला के रूप-विशेष का विकास किसी युग-विशेष में ही क्यों हुआ, किन्तु उसका यह धर्म नहीं है कि वह आन्दोलनों के द्वारा अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य की रूप-रेखा को पलटने का प्रयास करे।

मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन के प्रति दिनकर की यह प्रतिक्रिया आलोचनात्मक है। कहीं सहमति, तो कहीं असहमति। यह दिनकर की किसी एक टिप्पणी का यथार्थ नहीं, उसकी सम्पूर्ण विचार-यात्रा में इस सन्दर्भ में लगभग यही स्थिति दिखती है—स्वीकृति और निषेध का द्वन्द्व। प्रो० मैनेजर पाण्डेय (आजकल, अक्टूबर, 2008, पृष्ठ 31) की मानें, तो दिनकर का मार्क्सवाद के विचारों से कोई विरोध नहीं था, विरोध था तो केवल मार्क्सवादियों के व्यवहार से। प्रो० पाण्डेय का आशय यहाँ हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों के व्यवहार से है। मार्क्सवादियों के प्रति दिनकर के विचार और उनके सम्बन्ध की चर्चा को गैरजरूरी मानकर यदि यहाँ मार्क्सवादी विचारों के प्रति उनके दृष्टिकोण का अध्ययन किया जाये, तो भी समर्थन और विरोध की मिश्र स्थितियों का ही सच सामने आता है। इसके कुछ और साक्ष्य देखे जा सकते हैं— "मार्क्सवादी विद्वानों की राय है कि साहित्य हमेशा समाज के अनुसार बदला करता है और इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य को समझने में यह सिद्धान्त बहुधा हमारी सहायता करता है।" इस समर्थन की कसौटी पर कसकर उसे क्रान्तिकारी अथवा श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा अत्युक्तिपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण है, क्योंकि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वे ही नहीं हैं, जिनसे कला की जांच की जाती है।" वे शक्ति भी बता रहे हैं

और सीमा भी— “मार्क्सवादी आलोचकों की यह स्थापना गलत नहीं है कि राजनीति की तरह साहित्य भी समाज से प्रभावित होता है। किन्तु, जो बात मार्क्सवादी आलोचक भूल जाते हैं, वह यह है कि साहित्य पर समाज का यह प्रभाव कवियों के व्यक्तित्व के माध्यम से पड़ता है।” वस्तुतः सचाई यही है कि मार्क्सवाद के प्रति दिनकर का विचार न पूरी तरह समर्थन का है और न ही विरोध का। लेखक की स्वतंत्रता के प्रसंग में मार्क्सवादी व्यवस्था के नियंत्रणवादी दृष्टिकोण को गलत मानते हुए वे विचारधारा के वर्चस्व को कला-साहित्य के स्वाभाविक विकास के लिए यदि अनुचित बताते हैं, तो वहीं दूसरी ओर कलावाद-व्यक्तिवाद जैसी आधुनिक रुग्ण प्रवृत्तियों के विरुद्ध मार्क्सवाद के संघर्ष के पक्ष में खड़े दिखते हैं।

मार्क्स से लेकर जार्ज लूकाच तक के विचार, वर्ग-संघर्ष में साहित्य की भूमिका, विचारधारा का नियंत्रण और सर्वहारा साहित्य की अवधारणा आदि प्रसंगों में जगह-जगह की गयी टिप्पणियां उनके मार्क्सवादी अध्ययन का प्रमाण हैं। वे टकराते भी हैं और प्रभाव भी ग्रहण करते हैं। प्रगतिवाद के कारण भी मार्क्सवाद के प्रति इनमें एक आकर्षण रहा है, इसके चिह्न इनके साहित्य में मौजूद हैं। ‘मिट्टी की ओर’ जैसी पुस्तक में तो कतिपय असहमतियों के बावजूद अनेक मार्क्सवादी विचारों की अनुगूँजें साफ-साफ सुनी जा सकती हैं। ‘शुद्ध कविता की खोज’ में शुद्ध कवितावाद के साथ आधुनिक साहित्य की अनेक गैरप्रगतिशील प्रवृत्तियों से टकराते हुए दिनकर उनके समानान्तर प्रतिपक्ष के रूप में बार-बार मार्क्सवादी तर्कों का सहयोग लेते देखे जा सकते हैं। वस्तु-रूप की एकता अथवा उनके अन्तर्सम्बन्ध की अविभाज्यता के बारे में लिखते हुए दिनकर पूरी तरह एक मार्क्सवादी नजर आते हैं। कला-साहित्य प्रतिबिम्ब अथवा फोटोग्राफी नहीं है, यह मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र का एक चर्चित विचार है, इसे दिनकर के यहाँ इसी रूप में प्राप्त किया जा सकता है। सोद्देश्यता, राजनीति, विचार, प्रतिबद्धता आदि की इनकी अवधारणाओं में मार्क्सवाद अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं के साथ प्रतिबिम्बित होता हुआ दिख सकता है।

मार्क्सवाद के साथ दिनकर की जो असहमतियां हैं, उसके सच पर विचार किया जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि हिन्दी में प्रगतिवाद और मार्क्सवादी विचारधारा के देशी-विदेशी अन्य साहित्य की विच्युतियों का

दिनकर ने समग्र मार्क्सवाद के रूप में सामान्यीकरण कर लिया है, वरना मार्क्सवादी आलोचना के आर्थिक नियमों, साहित्य की प्रचारात्मक प्रवृत्तियों आदि के प्रसंग में दिनकर ने जो प्रश्न उठाए हैं, मार्क्सवाद के भीतर के विचारकों द्वारा वे पहले ही उठाये जा चुके हैं और बार-बार इस सन्दर्भ में स्पष्टीकरण दिये जा चुके हैं कि इन प्रवृत्तियों के लिए मार्क्सवाद में कोई जगह नहीं है। आधार-अधिरचना के अन्तर्सम्बन्ध की व्याख्या में, अर्थिक तत्त्व की निर्णायक भूमिका के प्रसंग में उठे विवाद पर एंगेल्स द्वारा जोसेफ ब्लॉक को लिखा गया पत्र बहुत चर्चित है। स्पष्ट रूप से एंगेल्स ने बताया है कि कला-साहित्य को उनके आधार में स्थित आर्थिक प्रक्रिया का परिणाम मानना गलत है। मार्क्सवादी विचारक रैल्फ फॉक्स ने भी इस प्रसंग में कहा है कि आर्थिक आधार से कला काफी दूर स्थित होती है और इस आधार में होने वाले परिवर्तनों से कला सीधे-सीधे और तुरन्त नहीं प्रभावित होती। इसी प्रकार, विचारधारा को कला-साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानने वाले मार्क्सवाद के भीतर ही, राजनीतिक प्रचार बन जाने वाले, या पार्टी के नियंत्रण में रचे जाने वाले साहित्य का विरोध किया गया है। इसलिए, प्रचारात्मकता के प्रसंग में भी पूरे मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन को आरोपित किया जाना उचित नहीं। लगता है कि इस सन्दर्भ में भी प्लेखानोव से लेकर ग्राम्शी तक के विमर्श पर दिनकर की दृष्टि कदाचित् नहीं जा सकी थी।

7

शुद्ध कवित्व वाले आन्दोलन में पिले रहने पर भी इलियट का विचार यही बना कि जब हम महान कविता की खोज करते हैं, तब यह खोज, अनिवार्यतः शुद्ध कविता की खोज नहीं होता।

दिनकर की अन्तिम दो-तीन साहित्यशास्त्रीय कृतियों में से एक ‘शुद्ध कविता की खोज’ यूरोप की उस काव्य-धारा का इतिहास और मूल्यांकन है, जो ज्ञान और कर्तव्य-प्रेरणा के सामाजिक उद्देश्य से पृथक् सौन्दर्य और आनन्द की सृष्टि को अपना लक्ष्य मानती है। दिनकर इस पुस्तक की ‘भूमिका’ में कहते हैं कि “नयी कविता हमेशा शुद्ध कविता नहीं होती, न सभी श्रेष्ठ काव्य शुद्ध काव्य के उदाहरण होते हैं। फिर भी, मुझे यही दिखाई पड़ा कि शुद्धता

को लक्ष्य मानकर चलने से काव्य का नया आन्दोलन समझ में कुछ ज्यादा आता है। इसीलिए, मैंने जहाँ-तहाँ से सामग्रियाँ बटोरकर शुद्धतावादी आन्दोलन का इतिहास खड़ा किया है और कविता की अनेक समस्याओं पर उसी दृष्टिकोण से विचार किया है।”

कविता की ‘श्रेष्ठता’ और उसकी ‘शुद्धता’ के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता— दिनकर के इस स्पष्ट विचार के बावजूद इस पुस्तक के प्रसंग में विवाद उठता रहा है और दिनकर पर वैचारिक विचलन के आरोप लगाये जाते रहे हैं। आरोप के सबसे ताजा सन्दर्भ के लिए ‘परिकथा’ (जुलाई-अगस्त, 2008) में प्रकाशित खगेन्द्र ठाकुर का लेख ‘दिनकर का काव्य-चिन्तन’ देखा जा सकता है। वे कहते हैं कि “शुद्ध कविता यानी विचारधारा, राजनीति, सामाजिक उद्देश्य आदि से मुक्त कविता। ध्यान देने की बात यह है कि दिनकर का इस मानसिकता का शिकार होना आकस्मिक नहीं था। इसके पीछे उनकी अपनी राजनीति भी रही है।” इस लेख की विडम्बना यह है कि इसमें ‘शुद्ध कविता’ के अध्येता दिनकर को शुद्ध कविता का पक्षधर समझ लिया गया है और इसके साक्ष्य के लिए जो विचार उद्धृत किये गये हैं, उन्हें दिनकर का अपना विचार मान लिया गया है। इस लेख का एक बड़ा हिस्सा ‘शुद्ध कविता की खोज’ के खगेन्द्र ठाकुर द्वारा किये गये गलत और असावधान पाठ का एक विचित्र नमूना बनकर रह गया है। एक साथ, समग्र अन्विति में ध्यानपूर्वक न पढ़ने के कारण ऐसा ही होता है। इसमें थोड़ी-बहुत भूमिका पुस्तक की लेखन-शैली की भी है। यदि सतर्क न रहें, तो कई बार यह समझ में नहीं आता कि कहाँ दिनकर केवल प्रस्तुतकर्ता हैं और कहाँ स्वयं अपने आलोचनात्मक विचार के साथ उपस्थित। अनेक जगहों पर यह अन्तर इतना घूमिल हो गया है कि बहुत सावधानी से ही उन्हें अलगाया जाना सम्भव है।

‘दिनकर शुद्ध कविता की खोज में निरर्थकता तक चले जाते हैं’— अपने इस निष्कर्ष के सत्यापन के लिए खगेन्द्र ठाकुर ने ‘शुद्ध कविता की खोज’ (पृष्ठ 17) से दिनकर का यह कथन उद्धृत किया है— “और त्याज्य केवल छंद और तुकें ही नहीं, बल्कि वह चिन्ता भी त्याज्य है, जिसके अधीन कवि पाठकों को अर्थ बताना चाहता है। अर्थ अब कविता का कोई नित्य धर्म नहीं है।” इस कथन की लम्बी समीक्षा की गयी है। प्रेषणीयता को कविता का गुण न मानने वाली एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा और राजनीति का प्रभाव

दिनकर में खोज निकाला गया है। जबकि, इस कथन की कुल सचाई बस इतनी है कि यह शुद्ध कविता के कतिपय चारित्रिक अभिलक्षणों की परिचायात्मक प्रस्तुति है। यह शुद्ध कविता की प्रशंसा में दिया गया दिनकर का पक्षधर वक्तव्य नहीं। हड़बड़ी में, असावधानी में, या किसी पूर्वग्रह में इसी तरह की गलतियाँ होती हैं। अर्थपूर्ण वाक्यों पर ध्यान ही नहीं जाता। इस कथन के ठीक पहले वाले अनुच्छेद के इस आरम्भिक वाक्य को ध्यान में रखा गया होता, तो उक्त कथन का सन्दर्भ समझ में आता— “नयी मान्यता के अनुसार छन्द और तुकें तभी तक सार्थक हैं, जब तक वे अकृत्रिम रूप से अपना काम करते हों।” कहना जरूरी नहीं कि उक्त कथन भी ‘नयी मान्यता के अनुसार’ है, ‘दिनकर के अनुसार’ नहीं। आगे-पीछे के दोनों अनुच्छेदों को जोड़कर देखा जाना चाहिए। शुद्ध कविता की ‘अर्थ की महत्वहीनता’ की अवधारणा को दिनकर पूरी तरह अस्वीकार कर देते हैं। ऐसी जगहों पर भी ध्यान जाना चाहिए— “कविता के बारे में हमारी जो सामान्य धारणा है, वह शुद्ध कवित्व के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करती। शुद्ध कवित्ववादियों का विचार है कि चित्र, ढाँचों से खिलते हैं और कविताएं नाद से।

नोवालिस ने कहा था कि ऐसी कविताएं ज्यादा लिखी जानी चाहिए, जिनमें शब्दों का ध्वनि-सौन्दर्य तो हो, अर्थ कुछ भी नहीं हो। लेकिन, कविता शब्दों की ध्वनि को लेकर नहीं जी सकती, वह अर्थ की ध्वनि पर कायम रहती है।” इस पुस्तक में एक जगह दिनकर की एक टिप्पणी है— “शुद्धता की साधना में अन्तर्राष्ट्रीय काव्य अब एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँच गया है, जहाँ काव्य-विषयक हमारी परम्परागत मान्यताएं छूँछी और निस्सार दिखाई देने लगी हैं। ... अन्तर्राष्ट्रीय काव्य अब समाज की ओर नहीं देखता। नैतिकता, धर्म, राजनीति, यहाँ तक कि शान्ति की समस्या की ओर भी नहीं देखता।” इस कथन में यदि दिनकर के व्यंग्य-स्वर पर ध्यान नहीं जायेगा, तो खगेन्द्र ठाकुर का यह गलत निष्कर्ष भी सही होने का भ्रम पैदा कर देगा कि ‘यह अन्तर्राष्ट्रीय निहित स्वार्थ की रणनीति का अंग है और दिनकर इसके प्रभाव में हैं।’ सच यह है कि उक्त उद्धृत टिप्पणी भी शुद्ध कविता का चरित्र-निरूपण ही है, दिनकर का समर्थन नहीं।

इस टिप्पणी के ठीक पहले के दो वाक्य देखें— “कविता और शुद्ध कविता का भेद यदि यहीं पर खत्म हो जाता, तो चिन्ता की कोई बात नहीं थी। किन्तु,

बातें यहीं पर खत्म नहीं होती।” और फिर वह टिप्पणी आरम्भ होती है। स्पष्ट है कि शुद्ध कविता के जिस ऊँचाई पर पहुँच जाने की बात दिनकर करते हैं, वह उनकी दृष्टि में चिन्तनीय है। इस चिन्ता का उल्लेख करने वाला लेखक शुद्ध कवितावादी भला कैसे हो सकता है? वस्तुतः दिनकर को शुद्ध कवितावादी सिद्ध करने की कोशिश करने वाले ये सभी कथन ‘शुद्ध कविता की खोज’ के प्रथम अध्याय से लिये गये हैं। ‘कविता और शुद्ध कविता’ शीर्षक इस अध्याय में दिनकर प्रायः प्रस्तोता के रूप में ही उपस्थित हैं। यहाँ दिनकर ने ‘शुद्ध कविता’ की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को अपनी भाषा में केवल प्रस्तुत कर दिया है। यही कहीं दिनकर का अपना विचार दिखा भी है, तो विरोध में ही, सहमति में नहीं। इसलिए, इस अध्याय से कथनों के ऐसे अंश लेकर दिनकर की मान्यता की शिनाख्त करना तर्कसंगत नहीं। ‘शुद्ध कविता’ के बारे में दिनकर के विचारों का मूल्यांकन करने के लिए ‘शुद्ध कविता की सीमाएं’ के साथ विभिन्न अन्य अध्यायों में की गयी उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियों को देखा जाना चाहिए। वहाँ उनके इस प्रकार के अनेक विचार मिलेंगे— ‘शुद्ध कवि का दायित्व अत्यन्त सीमित होता है। वह सिर्फ शैली का प्रेमी होता है’, ‘शुद्ध कविता सर्वश्रेष्ठ कविता नहीं है’ ‘शुद्ध कवियों को यह बान पड़ गयी है कि फकत एक-दो बिम्ब बनाकर वे यह मान लेते हैं कि कविता समाप्त हो गयी’, ‘कवि वास्तविकता तो क्या, दृष्टिबोध तक की अवहेलना नहीं कर सकता और यदि करे, तो उसका हाल वही होगा, जो शुद्धतावादियों का हो रहा है’ ‘कवि यदि यह सिद्धान्त बना ले कि सामाजिक स्पन्दनों और परिवेश की सनसनाहटों का असर वह बिल्कुल नहीं लेगा, तो इसे हम साहित्य का दुर्भाग्य समझेंगे।’ आश्चर्य है कि ऐसे विचारों पर ध्यान न देते हुए दिनकर को प्रश्नांकित करने की प्रवृत्ति हिन्दी आलोचना के अद्यतन परिदृश्य में अभी-भी मौजूद है। खगेन्द्र ठाकुर के इस पूरे लेख में ‘शुद्ध कविता की सीमाएं’ नामक उस अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय की कोई चर्चा तक नहीं है, जिसमें दिनकर इस विषय पर सघन आलोचकीय विवेक के साथ विचार करते दिखते हैं। यहाँ खगेन्द्र ठाकुर की आलोचना-दृष्टि के प्रति सन्देह पैदा होता है।

खगेन्द्र ठाकुर ने दिनकर के ‘शुद्ध कविता’ का विरोध करने वाले दो-एक विचारों को उद्धृत तो जरूर किया है, पर उसे ‘अन्ततः’ लिया जाने वाला विचार निर्णय बताया है। यह पुस्तक एक सुनिर्णीत योजना और चिन्तन-प्रक्रिया की

फलश्रुति है। फिर ‘अन्ततः’ किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाने और उसके निहितार्थ को समझ लेने का क्या आशय है? ‘अन्ततः’ किसी ‘सही’ निष्कर्ष पर पहुँचने की बात करना, दरअसल उसके ‘पहले की’ पूरी विचार-यात्रा को ‘गलत’ बताना है। लेखन कोई अनिर्दिष्ट मानसिक-प्रक्रिया नहीं, जहाँ अन्ततः’ कोई परिणाम सामने आ जाया। यह एक विचार-यात्रा है, जिसके सारे चरण पूर्वपर परस्परसम्बद्ध होते हैं। ‘शुद्ध कविता’ के बारे में दिनकर के विचार आरम्भ से अन्त तक एकसूत्र से जुड़े हुए हैं, वे सब मिलकर एक निष्कर्ष की निर्मिति सम्भव करते हैं। यह पुस्तक ‘शुद्ध कविता’ की प्रतिष्ठा का नहीं, उसके उच्छेदन का आलोचकीय प्रयत्न है।

रचना और आलोचना की सोद्देश्यता के प्रतिपादन का जो अभियान दिनकर ने ‘मिट्टी की ओर’ से आरम्भ किया था, ‘शुद्ध कविता की खोज’ उसी का विस्तार है, यह कलावाद-व्यक्तिवाद के उस वैचारिक विरोध का भी विस्तार है, जो दिनकर के साहित्य-चिन्तन में आरम्भ से ही अत्यन्त मुखर रूप में मौजूद रहा है।

मत झुको अनय पर चन्द्रेश्वर

हिन्दी कवि त्रिलोचन ने कोई दो दशक पहले मुझसे एक निजी मुलाकात में कहा था कि 'दिनकर को मैं एक कमजोर कवि मानता हूँ। उनकी कविता में शब्द नगाड़े की तरह ध्वनि पैदा करते हैं। कविता में शब्दों का शोर मचाना या उनकी जरूरत से ज्यादा मुखरता अच्छी बात नहीं है।' उस समय कवि त्रिलोचन की बात का मैंने कोई प्रतिवाद नहीं किया था। हालाँकि सच यह भी है कि उनकी बात पूरी तरह से मेरे गले भी उतर नहीं पायी थी। मैं बचपन से ही पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से दिनकर की कविता से परिचित रहा हूँ। किशोरावस्था में तो उनकी कई कविताएँ कंठस्थ थीं। अब भी दिनकर को पढ़ते हुए उनके काव्य में मुझे कई तरह की विशेषताएँ नजर आती हैं।

पहली बात कि हिन्दी के उत्तर-छायावादी कवियों में दिनकर पहले ऐसे कवि हैं जिनकी काव्य-भाषा में एक जादुई किस्म की संप्रेषणीयता है। मुझे लगता है कि दिनकर की अपार और अबाध लोकप्रियता के पीछे यह एक ठोस कारण है। उस दौर के कवियों में उनकी काव्य-पक्तियाँ सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की जुबान पर ज्यादा चढ़ीं। एक तरह से कहा जाय तो पूर्व मध्यकाल के भक्त कवियों सूर, तुलसी, कबीर आदि के बाद खड़ी बोली हिन्दी में दिनकर की कविताओं ने जनमानस को ज्यादा स्पंदित और आंदोलित किया। अगर उत्तर-छायावाद के बाद के दशकों में विशेषकर नयी कविता से लेकर आज तक की कविता को जाँचा-परखा जाय तो उसके सामने मुख्य चुनौती रही है संप्रेषणीयता की। इधर की लिखी गई ज्यादातर कविताएँ आम जन के बीच पैठ नहीं बना सकीं। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान दिनकर और उनके पूर्ववर्ती कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि के साथ-साथ माखनलाल

चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि की कविताएँ पढ़े-लिखे सामान्य जन को गहरे प्रभावित कर रही थीं। इन कविताओं में साम्राज्यवाद-विरोधी स्वर के साथ-साथ स्वदेश की माटी की गरिमा को भी मुखरित और रूपायित होते हुए देखा जा सकता है।

दिनकर उत्तर-छायावादी कवियों में अकेले ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में उस दौर की तीन प्रमुख धाराओं की समस्त काव्य प्रवृत्तियाँ पुरजोर ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं। पहली धारा है नव रोमानी कविता की, दूसरी प्रगतिवादी और तीसरी राष्ट्रीय-चेतना की कविता की। हालाँकि दिनकर की काव्य-चेतना में ओजतत्त्व सर्वाधिक है। कवि त्रिलोचन ने उसी बातचीत के दौरान कहा था कि दिनकर के काव्य में शृंगार वर्णन के समय भी एक ओजस्वी स्वर सुनायी पड़ता है। उन्होंने दिनकर की काव्य-कृति 'उर्वशी' में आए उर्वशी-पुरूरवा के लंबे-लंबे संवाद-अदायगी पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि वे अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। कुछ इसी तरह की आलोचना कवि मुक्तिबोध ने भी की है। अब त्रिलोचन और मुक्तिबोध की स्थापनाओं के विरुद्ध न जाते हुए भी मैं दिनकर के काव्य के संदर्भ में काव्य-आस्वाद का उल्लेख करना चाहूँगा। जब मैं बीस-इक्कीस वर्ष का युवा था तब 'उर्वशी' का पाठ करते समय एक गजब किस्म का जादुई प्रभाव हमारी चेतना पर छा जाता था। यह जादुई प्रभाव अब भी कायम है-अधेड़ावस्था में भी! मैं दिनकर के काव्य में इसी जादुई कला का कायल हूँ। उनकी चाहे जो भी आलोचना हो मगर उनकी कविता पढ़ते हुए हमेशा यह अनुभव होता है कि उसमें एक के बाद दूसरा शब्द सहजगति से चला आ रहा है। उनकी कविता पढ़ते या सुनते समय किसी झरने की गति आती है। किसी नदी का सहज वेग, किसी पक्षी की सहज उड़ान, बादल का सहज-स्वाभाविक गर्जन-तर्जन, किसी आदिम राग-सुर या ताल-छंद की याद आती है। उनकी कविता पढ़ते या सुनते हुए ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई आवाज किसी के अंतस् से निकली हो, कई तहों को भेदकर! दिनकर की कविता में एक विशेष प्रकार का आवेग, एक तरह की गत्यात्मकता सर्वत्र देखने को मिलती है। उनकी कविता में वक्तृत्व कला का हुनर भी है। उनकी काव्य-भाषा में पारदर्शिता है। उनके यहाँ तत्सम, तद्भव या देशज शब्दों का संयोजन अद्भुत तरीके से हुआ है। उनकी कविता में एक तरह की वैचारिक तार्किकता या जिरह-बहस भी है। यह जिरह-बहस कहीं युद्ध की विभीषिका

को लेकर है तो कहीं सामाजिक रूढ़ियों और वैषम्य को लेकर। दिनकर के काव्य में आजादी के बाद के भारत में व्याप्त राजनीतिक छल-छद्म, पाखंड, दोमुँहेपन पर भी करारा व्यंग्य किया गया है। सन् 1952 में प्रकाशित अपने एक काव्य संग्रह 'नीम के पत्ते' में 'नेता' कविता में उन्होंने तत्कालीन राजनीति को ही कठघरे में खड़ा किया है। इसमें शासक वर्ग से मोहभंग का स्वर भी सुना जा सकता है। वे सीधे देश की जनता से संवाद करते हुए लिखते हैं -

नेता का अब नाम नहीं ले / अंधेपन से काम नहीं ले,
हवा देश की बदल गई है / चाँद और सूरज ये भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं / और जानता नहीं अभागो,
मंदिर का देवता चोर-बाजारी में पकड़ा जाता है?
फूल इसे पहनाएगा तू?/ अपना हाथ धिनाएगा तू?"

दिनकर की कविता में कोई दाँव-पेंच या मदारी का करतब नहीं है। उनके यहाँ एक ठेठ पुरबिया किसान का सहज-निश्चल मन है। यह मन उनके संपूर्ण काव्य-संसार में उपस्थित है। वे अपनी कविता में जिन विचारों को लेकर उपस्थित होते हैं वे आयातित या आरोपित नहीं जान पड़ते हैं। उनकी कविताएँ अपनी जड़ों से जुड़ी हैं : अपने समय-समाज, संस्कृति और परंपरा आदि से।

दिनकर के काव्य में पुनरुत्थान की चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। वे फिर भी पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। यह पुनरुत्थान की चेतना युगीन प्रभाव है और उनकी कविता में शक्ति-स्रोत का काम करता है। दिनकर उदात्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। उनकी कविताएँ आज भी वैचारिक प्रतिरोध की एक व्यापक भावभूमि तैयार करती हैं। उन्होंने काव्य-कला के माध्यम से हर स्तर पर शोषण, अत्याचार, अन्याय एवं अनीति का विरोध किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है-

छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाए,
मत झुको अनय पर भले व्योम फट जाए।

दिनकर ने तटस्थता को कोई मूल्य नहीं माना है। वे 'परशुराम की प्रतीक्षा' में लिखते हैं कि -

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध।
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

कुछ आलोचकों का मानना है कि दिनकर की ज्यादातर काव्य-पंक्तियों

को आसानी से अन्वय कर गद्य में बदला जा सकता है। काश! ऐसे लोग जान पाते कि दुनियाँ के महान कवियों ने गद्य से ही कविता को संभव बनाया है। हिन्दी के समकालीन शीर्षस्थ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने अपने हाल ही के एक व्याख्यान में कहा है कि 'कबीर, जायसी, सूर, तुलसी के काव्य में भी गद्य को देखा जा सकता है। गद्य से रघुवीर सहाय ने ही नहीं, बल्कि सभी समर्थ कवियों ने कविता लिखी है।'

दिनकर हिन्दी के उन विरल कवियों में हैं, जिनकी कविता सुनने और पढ़ने, दोनों स्तरों पर प्रभाव में लेती है। मेरे लिए वे एक ऐसे कवि हैं जिनकी अनगिनत काव्य-पंक्तियाँ मेरे संस्कार और रक्त में घुल-मिलकर चेतना का हिस्सा बन चुकी हैं। अगर हिन्दी क्षेत्र में थोड़ी-सी भी काव्य-संस्कृति का निर्माण हुआ है तो उसमें आधुनिक कवियों में दिनकर की भूमिका अग्रणी है।

कुरुक्षेत्र का युद्ध-दर्शन

प्रमोद कुमार सिंह

‘कुरुक्षेत्र’ (सन् 1946 ई०) विचारधर्मी काव्य या समस्यामूलक कृति के रूप में मान्य है। इसे मुख्यतः दिनकर के युद्ध-दर्शन का अभिलेख समझा जाता है। स्वयं कवि की दृष्टि में इसका केन्द्रीय कथ्य युद्ध है। पुस्तक का शीर्षक ‘महाभारत’ की रणभूमि की स्मृति जगाता है। अपनी विशिष्ट पुरावृत्तात्मक आधारभूमि के प्रति सजग होकर भी यह ग्रन्थ व्यास का चर्चित-चर्वण नहीं है। इसमें आवृत्ति का श्रम नहीं, सृष्टि का संकल्प मिलता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की राख से उत्पन्न ‘महाभारत’ का यह ‘फीनिक्स’ अतीत की ओट में वर्तमान की व्यथा को वाणी देता है। युगजीवन के इस स्वर-सन्धान में विचारक के शर-सन्धान की निश्चितता नहीं, गतिशील भावनाओं की भुजंग-मुद्रा मिलती है। बच्चन के येट्स पर ‘कब्बाला’ के प्रभावों को रेखांकित करते हुए ज्ञान या विचार को बाण और बाज की लक्ष्यबद्धता एवं तीक्ष्णता से जोड़ा है। इसी तरह उन्होंने काव्य में सर्प की वक्रता और तितली की उड़ान की प्रकृति को निर्दिष्ट किया है। दिनकर और उनके ‘कुरुक्षेत्र’ में भी ‘कब्बाला’ के उक्त प्रतीकों की सक्रियता देखी जा सकती है। कवि और उसकी कृति में वैचारिकता से अधिक भावप्रवणता की जो मुखरता मिलती है उससे उसका युग-दर्शन प्रश्नाहत हो जाता है। ‘कुरुक्षेत्र’ की इस सीमा को समीक्षक समझें, न समझें, रचनाकार अवश्य समझता है। दिनकर जब इस पुस्तक की अन्तर्वस्तु का निरूपण करते हैं तब वे विचारक की स्पष्टता नहीं, द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति की प्रश्नाकुलता को उदाहृत करते हैं :

“युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों के जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता

है? या उस पर जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है?”

यदि हम ‘कुरुक्षेत्र’ की वैचारिकता की पड़ताल में प्रवृत्त होते हैं तब इस तथ्य का विस्मरण नहीं कर सकते हैं कि आलोच्य रचना दार्शनिक मतबन्ध नहीं, काव्य-कृति है जो युद्ध के ‘औचित्य-अनौचित्य’ भी विचिकित्सा में व्यस्त है: “पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला? या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ानेवाला?” ऐसी जिज्ञासा बुद्धि नहीं, भावना की कोख से उत्पन्न होती है। भगवती चरण वर्मा भी ‘चित्रलेखा’ (सन् 1934 ई०) में पाप-पुण्य के प्रति सप्रश्न हैं, किन्तु उनकी पृच्छा बुद्धि की बेटी है। हाँ, साहित्यिक रचना होने के कारण वह भी दर्शन-ग्रन्थ से दूर है। दोनों कृतियाँ सुनिश्चित प्रमेयों के प्रतिपादन नहीं, द्वन्द्वधर्मिता की दृष्टि से उल्लेख्य हैं। जिस तरह ‘कः पन्थाः’ के दिग्भ्रम में विकल ‘कुरुक्षेत्र’ ‘धर्माधर्म’ के ‘भेद’ को नहीं सुलझा पाता है उसी तरह ‘चित्रलेखा’ का परिस्थिति सापेक्ष निर्णय भी द्वन्द्वमूलक है। सत्यशोध की निष्ठा रखकर भी साहित्य निष्कर्ष नहीं, विमर्श की प्रक्रिया में विश्वास रखता है। यही कारण है कि ‘कुरुक्षेत्र’ में ‘समस्या’ का ‘निदान’ नहीं मिलता है। समाधान से ऐसी विमुखता दिनकर की रचनाधर्मिता की विशिष्टता है। उनमें ‘उत्तर’ देने की अपेक्षा प्रश्न उठाने की सहजात मनोवृत्ति लक्षित होती है :

“हम तो प्रश्नों का रूप सजाने वाले हैं।” ‘नीलकुसुम’ (सन् 1954 ई०) में संकलित ‘तुम क्यों लिखते हो?’ शीर्षक कविता (सन् 1950 ई०) की यह स्वीकारोक्ति प्रकारान्तर से ‘कुरुक्षेत्र’ की वैचारिकी को अमान्य करती है। प्रसंगात् ‘उर्वशी’ (सन् 1961 ई०) की ‘भूमिका’ का अंश-विशेष भी स्मरणीय है जिसमें कवि को राजनेता या दार्शनिक से पृथक् मानते हुए प्रश्नोत्तर नहीं, पीड़ाख्यान को उसके कृतित्व का मूल धर्म दूषित किया गया है: “प्रश्नों के उत्तर रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।”

‘कुरुक्षेत्र’ में युद्ध-दर्शन के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले विद्वान् सम्भवतः ‘गीता’ के रूप-विधान और चिन्तन के प्रति दिनकर के झुकाव को दृष्टिपथ में रखकर चले हैं। वे ‘गीता’ के कृष्णार्जुन-संवाद की ही तरह ‘कुरुक्षेत्र’ के भीष्म युधिष्ठिर-संवाद को ग्रहण करते हैं। इसी संवाद शैली में वैचारिक वाद-विवाद-परम्परा की स्मृति उन्हें दिनकर को दार्शनिक की तरह

देखने को प्रेरणा देती है। 'कुरुक्षेत्र' में यथास्थान संप्राप्त 'गीता' की परछाइयाँ भी उन्हें एक निश्चित दिशा में दौड़ने को विवश करती है।

दिनकर ने यद्यपि युद्ध की अनुकूल-प्रतिकूल धारणाओं को प्रस्तुत कर दार्शनिकों की पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष वाली पद्धति के अनुकरण का प्रयत्न किया है, किन्तु उनकी विचार-खला में पूर्वापर-क्रम विच्छिन्न है। दिनकर के इस दावे में दम नहीं है कि 'कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है।" ध्यातव्य है कि इस कृति में न तो विचारों का ऐक्य है और न किसी विश्वसनीय यौक्तिक आधार पर टिकने का संकल्प। इसमें विचारों का पौर्वापर्य-विधान इसलिए क्षतिग्रस्त है कि यह कहीं एक नाटकीय संवाद है तो कहीं कवि के मन्तव्यों का मुक्तक-संग्रह। यहाँ प्रबन्धात्मकता और मुक्तकों-जैसी परस्पर-निरपेक्षता का घालमेल लक्षित होता है। प्रख्यात चरित्रों के उद्गारों में यत्किंचित् प्रबन्ध धर्मिता की प्रतीति होती है, किन्तु प्रथम और षष्ठ सर्ग 'कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध' के अन्तर्गत नहीं आते हैं। वह कवि-कथन-मात्र है। पात्रों ही नहीं, कवि के कथनों में भी युद्ध-जैसे 'पागल कर देने वाले प्रश्न' पर किसी दार्शनिक के वक्तव्यों की तरह सुसंगत, सुनियोजित और सुसम्बद्ध तर्क-विधि का निर्वाह नहीं हुआ है। कवि के चिन्तन में युक्ति-कौशल या सैद्धान्तिक परिपक्वता का अभाव है, किन्तु इसे 'कुरुक्षेत्र' की दुर्बलता समझना अनुचित है। यह काव्य-कृति है, शास्त्र नहीं।

आचार्यों के अनुसार शास्त्र 'विचारित सुस्थ' होता है, किन्तु काव्य 'अविचारित रमणीय' ही हुआ करता है। आर्इ०ए० रिचर्ड्स इस बात को भाषा के द्विविध प्रयोगों का प्रसंग उठाकर स्पष्ट करते हैं उनके अनुसार शास्त्रों एवं बौद्धिक विचार-विमर्शों में भाषा का निश्चित या वैज्ञानिक प्रयोग अपेक्षित होता है, किन्तु काव्यभाषा के लिए ऐसी स्थूलता काम्य नहीं होती है। वे जिस भावमय भाषिक प्रयोग का उल्लेख करते हैं वह काव्य का प्रकृत पथ है। इस मार्ग पर चलने वाले कवि की तर्क-पद्धति में दार्शनिक ग्रन्थों में सुलभ बौद्धिक व्यायाम की मल्ल-मुद्राएँ विरल होती हैं। यहाँ 'ननु नच' के पाण्डित्य-प्रेरित पैतरे अनुपस्थित रहते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के चिन्तन को तर्कभाषा और काव्य-भाषा के उक्त द्वन्द्व के सन्दर्भ में भी देखने की आवश्यकता है। इस युद्ध-काव्य की 'रमणीयता' 'अविचारित' है। इसमें विचारों का वैभव नहीं, भावनाओं का भण्डार है। यहाँ कवि का तथाकथित चिन्तन आवेगमय और आवेश-स्फीत है।

इसके युद्ध-दर्शन को मस्तिष्कप्रवण नहीं माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि यहाँ हृदय की मस्तिष्क के छद्म रूप में सामने आया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रसंग में दिनकर का बहुधा-उद्धृत यह आत्म-कथ्य हमारा सम्यक् मार्ग-दर्शन कर सकता है कि उनकी रचना दार्शनिक तेवर के मुखौटे में वस्तुतः युद्ध से आशंकित 'आम आदमी' के हृदय के हाहाकार की अभिव्यक्ति है: "कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो, अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"

नगेन्द्र ने 'प्रतीक' के दूसरे अंक में प्रकाशित एक समीक्षात्मक लेख में विचारों नहीं, शंका की एकता के लिए 'कुरुक्षेत्र का स्मरण किया है, किन्तु वे भूल गए हैं कि शंका ऐसी वस्तु है जिसमें एकत्व शशग है। सन्देह के साथ किसी प्रकार के ऐक्य की सम्भावना नहीं होती है। शंका की स्थिति में ज्ञान की 'द्विकोटिकता' बनी रहती है। शंकाकुल व्यक्ति विचारक या मनीषी नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी तर्क-तुला सन्तुलित नहीं रहती है। सन्देह के कारण उसका निर्णय कभी इधर झुकता है तो कभी उधर काँपता है। इस क्रम में एक और बात विचारणीय है कि 'साधारण' व्यक्ति विचाराक नहीं होता है, क्योंकि वह तटस्थता बरतने में प्रायः चूकता चलता है। उसे पूर्वग्रह परिचालित करते हैं। यह विचार-विशेष के प्रति निःस्पृह या अनासक्त नहीं रह पाता है, फलतः उसका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हो जाता है।

'कुरुक्षेत्र' में किसी परिपूर्ण या सुदृढ़ युद्ध-दर्शन की खोज व्यर्थ सिद्ध होगी, क्योंकि 'साहित्यमुखी' (सन् 1968 ई०) में संकलित 'युद्ध और कविता' शीर्षक निबन्ध (सन् 1965 ई०) में स्वयं दिनकर ने कहा है कि "युद्ध वह तूफान है, जो चिन्तन के चिराग को गुल कर देता है।" हम इस आधुनिक वीर-काव्य में युद्ध-शान्ति या हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में एक भावुक कवि की प्रक्रियाएँ ही पा सकते हैं, कोई सुचिन्तित दर्शन नहीं। यहाँ युद्ध उसी तरह चिन्तन-मनन नहीं, क्रोध या क्रन्दन का विषय है जिस तरह प्रथम महायुद्ध के यशस्वी उद्गाता विलफ्रेड ओवेन के साहित्य में वह करुणा के क्रोड में पहुँचकर केवल संवेदनशील काव्य रह जाता है।

अनुश्रुति है कि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक के परिधान में प्रस्तुत हुआ था। कष्ट का काव्यगत रूपान्तरण अनेक कृतिकारों द्वारा समर्थित है। जैसे क्रौ

वध-जनित क्रोधमिश्रित कारुण्य का उद्वेलन ही आदिकाव्य है उसी तरह द्वितीय महासमर से क्षुब्ध दिनकर का आभ्यन्तमरिक द्वन्द्व 'कुरुक्षेत्र' में काव्य का कौशेय धारण कर पूरी प्रभविष्णुता के साथ सामने आया है। सच्ची कविता के प्राकट्य की यह पुरानी कहानी है कि आन्तरिक 'तनाव' ही काव्य-रूप में मूर्त होता है। इस तथ्य के सत्यापन के लिए किसी एलेन टेट की आवश्यकता नहीं है। यहाँ 'द्वन्द्व' को 'गीत' बना देने वाले दिनकर को दुहरा देना ही पर्याप्त है: "इतना ही है ज्ञात कि मेरी व्यथा उमड़कर छन्द हुई।"

'कुरुक्षेत्र' हमारे जातीय जीवन में युद्ध का सर्वांगपूर्ण अर्थसंस्थापन करता है। यह 'मिथक' के साथ-साथ प्रतीक भी है। महाभारत के कई पात्र आज हमारे चित्त में आद्य बिम्बों और प्रतीकों की तरह प्रतिष्ठित हैं। इसी तरह परशुराम और सम्राट् अशोक भी लोकजीवन में विशिष्ट धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये चरित्र युद्ध और शान्ति के संदर्भों को सहजतः संप्रेषित करते हैं। दिनकर के युद्ध-काव्य में इनकी प्रभावी उपस्थिति देखी जा सकती है। इनके माध्यम से कवि ने हिंसा-अहिंसा के द्वन्द्व को भली-भाँति रूपायित किया है। 'सामधेनी' (सन् 1947 ई०) में समायोजित 'कलिंग-विजय' शीर्षक कविता (सन् 1941 ई०) के अशोक जिस तरह जनसंहार से व्यथित हैं उसी तरह 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर भी युद्ध के परिणामों से अवसन्न और परितप्त हैं। ये दोनों पात्र अहिंसा एवं शान्ति के प्रवक्ता हैं। इसी तरह 'परशुराम की प्रतीक्षा' (सन् 1963 ई०) में हिंसा या युद्ध की आवश्यकता का जैसा भावाकुल मण्डन किया गया है वैसा ही 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के उद्गारों में दृष्टिगत होता है। ये तीनों रचनाएँ दिनकर के युद्ध-पीड़ित हृदय का साक्षात्कार कराती हैं, किन्तु ये कवि के युद्ध-दर्शन के समन्वित शास्त्र का निर्माण नहीं करती हैं। इन्हें कृतिकार के द्विधाग्रस्त व्यक्तित्व की प्रामाणिक प्रस्तुति की तरह ही ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर एवं भीष्म के पौराणिक चरित्रों को अपने मानस-द्वन्द्व के तर्क-वितर्क की तरह उपस्थापित किया है। उनका यह अर्द्धद्वन्द्व हिंसापोषक युद्ध के अनुचित-उचित पहलुओं से सम्बद्ध है। युधिष्ठिर पहले पहलू के प्रतिनिधि हैं। अहिंसा का यह पक्षधर युद्ध की दाहकता एवं त्रासदी से विषण्ण और कातर है। इसके व्याज से कवि ही युद्धक्रान्त, विध्वस्त, सर्पदंशित और और प्रलय के उच्छिष्ट की तरह विकर्षक एवं जुगुप्सित

मरणोन्मुख विश्व का अन्तर्नाद सुनकर विकल हो उठा है। विजेता युधिष्ठिर का अनुताप बहुत ही मर्मस्पर्शी है। इसके अश्रुकणों में कवि युद्धगत सत्य की आर्द्र आँखों का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस महानायक को पूरे महायुद्ध की उपलब्धि के रूप में 'एक शुष्क कंकाल' ही हस्तगत होता है। 'मानव की रक्त-सरिता के तीर' पर 'नियति' का व्यंग्यपूर्ण अट्टहास बिलख उठता है। इस स्थल पर हम तत्त्वतः युद्ध से वितृष्ण उस व्यक्ति को देखते हैं जो 'विश्वमानव' की वेदना का उत्तराधिकारी है। युधिष्ठिर की ग्लानि में द्वापर ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के साथ-साथ भविष्य के दर्द-भरे स्वर भी ध्वनित हैं। इन अनेक आवाजों के ऊपर कवि के सन्तरणशील अन्तर्नाद की पहचान कठिन नहीं है। दिनकर की यह अन्तर्ध्वनि मानवतावादी प्रकृति की है।

कवि युद्ध की पूर्ण समाप्ति और प्रेम एवं भ्रातृत्व की भावना के प्रसार का अभिलाषी है। वह 'युद्ध की ज्वरभीति' से मुक्त वसुधा के सुधा-सिंचन के लिए संकल्पित लोगों की बाट जोहता है, किन्तु भीष्म द्वारा वर्णित भीषण यथार्थ इस सदृच्छा के आड़े आता है। युधिष्ठिर किसी भी तरह रक्ताक्त विजय को उचित नहीं समझते हैं, किन्तु भीष्म युद्धावेग को प्रभंजन की तरह नैसर्गिक अथच अनिवार्य मानते हैं। युधिष्ठिर और भीष्म के दृष्टिकोणों की यह टक्कर मनुष्य के मागलिक स्वप्न पर विध्वंसक यथार्थ की चोट-जैसी है। यह इस प्रकार का नैतिक द्वन्द्व है जो अत्यन्त प्रभावशाली शैली में अंकित हुआ है। युद्ध यदि प्राकृतिक प्रकोप और विस्फोट की तरह स्वाभाविक है तब किसी पर उसके उत्तरदायित्व का निर्धारण सम्भव नहीं है। उस स्थिति में शुभाशुभ और अच्छाई-बुराई की धारणाओं से उसकी सूत्रबद्धता निरर्थक होगी। यदि वह एक नियत कृत्य है तब प्रारब्ध या नियति की भाँति प्रश्नों के परे है।

भीष्म का उपर्युक्त दृष्टिकोण सम्भवतः युधिष्ठिर को निर्वेद और अपराध बोध से उबारने के लिए मानसोपचार की तरह निरूपित हुआ। इसे युद्ध-दर्शन की आख्या नहीं दी जा सकती है। यह नैतिक संघर्ष के पक्ष-विशेष का प्रकाशक अवश्य है, किन्तु यहाँ प्यूहरर या ड्यूस के युद्धोन्माद की शिनाखा गैर-जरूरी है। अहिंसा और हिंसा अर्थात् युधिष्ठिर एवं भीष्म के कर्मस्वातन्त्र्य की समस्या को उजागर करते हैं। यह युद्ध की राजनीति का दार्शनिक सवाल नहीं, मानवीय चेतना को झकझोरने वाला नैतिक प्रश्न है कि किसी भी कर्म की वांछनीयता-अवांछनीयता के परीक्षण का पैमाना क्या हो सकता है। कोई कृत्य

स्वयं में अच्छा-बुरा नहीं है। पुण्य और पाप के बीच पार्थक्य का प्रदर्शन दुष्कर है। वस्तुतः 'कर्त्ता-हृदय की भावना' के आधार पर ही किसी कार्य की उत्तमता-अधमता या संगति-असंगति पर निर्णय दिया जा सकता है, कृष्ण की इस मान्यता की साखी भरने वाले भीष्म और दिनकर के साथ नीतिशास्त्री मैकेंजी का 'हृदय-संवाद' अपनी प्रासंगिकता की छाप छोड़ता है। म चें उवतंस रनकहमउमदजए दवज नचवद जीम बज कवदमए इनज नचवद जीम चमतेवद कवपदहण्ज यह नीति-शास्त्रीय अवधारणा सत्य की सापेक्षता को स्वरित देती है। इसके अनुसार औपनिवेशिक युग के 'वाणिज के हाथ की कृपाण' से छोड़ा गया युद्ध 'अशुद्ध' है, किन्तु 'स्वत्व की अन्वेषणा'— हक के लिए उठा हथियार 'पातक' नहीं, घातक के घातगत पुण्य का भागी है।

दिनकर के काव्य में व्यवस्था विरोधी स्वर

पूनम सिंह

जनसंघर्षों से जुड़कर कविता का इतिहास सदा गतिशील और प्रगतिशील बना रहता है। समकालीन कविता का विस्तृत फलक भारतीय जनता के शोषण-उत्पीड़न तथा देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक, विसंगतियों से भरा पड़ा है। राष्ट्रीय भावधारा के प्रमुख कवि दिनकर के काव्य में भी स्वतंत्रता के मोह भंग के साथ व्यवस्था विरोधी स्वर की प्रचुरता है। उनकी कविता राष्ट्रीय चेतना और जन संघर्ष की यातना के चरम पर पहुँच कर आकार ग्रहण करती है और अपने मोर्चे पर हमेशा यथास्थिति के विरुद्ध खड़ी दिखती है।

सत्ता और जनता के बीच गहरी पैठ रखने वाले कवि दिनकर की कविता में व्यवस्था विरोधी स्वर स्वप्न और यथार्थ के द्वन्द्व से उपजा अराजक समय का निर्मम सत्य है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आजादी का मोह भंग जिस तरह से हुआ, उसमें दिनकर जैसे अति संवेदनशील कवि का मानस सबसे अधिक उद्वेलित हुआ। तैंतीस करोड़ जनता की आँखों ने स्वतंत्रता का जो स्वप्न देखा था, वह आजादी के सूर्योदय के बाद फैले गहन अंधकार में विलीन हो गया। देश की आजादी अपने साथ चतुर्दिक हाहाकार, अभाव, विनाश की लपटें, हत्या, रक्तपात और तबाही लेकर आई। उस भीषण त्रासदी में भी देश के कर्णधार अपने छल बल की शक्ति साधने और स्वार्थ की गोटी लाल करने में लगे थे। दिनकर के कवि ने उनकी कुत्सित मंशा को आजादी के पहले ही भांप लिया था। परतंत्र देश की आहत आत्मा का दर्द लेकर 1937-38 में उन्होंने 'तकदीर का बँटवारा' शीर्षक कविता लिखकर देश के भावी कर्णधारी की पोल खोली थी...

'हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं' / पाँव में जिसके अभी जंजीर है

बाँटने को हाय! तौली जा रही / बेहया उस कौम की तकदीर है—
अन्ततः माँ को दो टुकड़ों में बाँटकर देश आजाद तो हुआ पर वह आजादी भी केवल दिल्ली में ही दिखाई दे रही थी—

“दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल
पर भटक रहा है सारा देश अंधेरे में”

नयी व्यवस्था में जिस ‘जनतंत्र का जन्म’ हुआ उसमें ‘जन’ बहुत पीछे छूट गया और केवल तंत्र और तख्त ही दिखाई देने लगा। ऐसे में जनता के पक्ष में खड़ा कवि सत्ता की सम्राज्ञी दिल्ली से प्रश्न करता है ... सात वर्ष हो गये राह में, अटका कहाँ स्वराज/ अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली तू क्या कहती है?/ तू रानी बन गई वेदना जता क्यों सहती है?/ सबके भाग्य दबा रखे हैं किसने अपने कर में/ उतरी थी जो विभा, हुई बंदिनी बता किस घर में?

भारत की आजादी वर्चस्वशाली लोगों के निरंकुश अधिकार की आजादी बन कर रह गयी थी और आज भी वह उसी रूप में है।

दिनकर के प्रारम्भिक काव्य संग्रह ‘धूप और धुआँ’ की लगभग सभी स्फुट रचनाएँ समकालीन अवस्थाओं के विरुद्ध तीखी भावात्मक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई हैं। उन्होंने संग्रह की भूमिका में कहा भी है— ‘स्वराज से फूटने वाली आशा की धूप और उसके विरुद्ध जन्मे हुए असन्तोष का धुआँ ये दोनों ही इन रचनाओं में यथास्थान प्रतिबिम्बित मिलेंगे।’ इस संग्रह में तंत्र विरोधी उनकी दो प्रमुख कविताएँ हैं— ‘जनतंत्र का जन्म’ और ‘पंचतिक्त’। पंचतिक्त की पंक्तियों में दिनकर ने लोकतंत्र के पहरुओं के चरित्र का पर्दाफाश बड़े ही तिवक्त शब्दों में किया है—

“चीलों का झुंड उचक्का है / लोभी बेरहम लुटेरा भी
रोटियाँ देख कमजोरों पर / क्यों नहीं झपट्टे मारेगा?
डैने इनके झाड़ते रहो / दमबदम कड़ी फटकारों से
बस इसलिए तो कहता हूँ / आवाजें अपनी तेज करो
तो कहीं रोटियों के पीछे / नेजों की नोकें खड़ी करो।”

दिनकर की ऐसी कविताएँ आज भी प्रतिरोध की एक व्यापक भूमि तैयार करती हैं। उनकी एक कविता है ‘एनार्की’। यह कविता व्यवस्था के अनेक रूपों और संदर्भों तक जाकर समय की विसंगतियों, विद्रूपताओं को उजागर करती है। इसमें नेता-प्रणेता, अफसर-मंत्री, साहब-चपरासी, पुलिस-छात्र, अखबार-व्यापार

सबके एनार्कीज्म पर गंभीर कटाक्ष है। आजाद देश में ‘आजादी’ का अर्थ क्या है इसे कवि मैक्सिम गोर्की को इन शब्दों में बताना चाहता है ... सुनिए क्रोपाटकिन गोरकी! भारत में फैली है आजादी बड़े जोर की/ सुनता न कोई फरियाद है/ देखिए जिसे ही, वही जोर से आजाद है।”

इसमें ‘जोर से आजाद’ होने की मानसिकता में जो अराजकता है—वह व्यक्ति और व्यवस्था दोनों के भीतर असंगति, क्षोभ और उत्तेजना पैदा करता है। देश में मौका परस्त लोग कुछ अपना भी बनाते हैं। आखिर देश की प्रगति के साथ कुछ अपनी प्रगति भी तो होनी चाहिए और इसके लिए उनके पास ठोस तर्क भी है—

‘मान लो, कभी जो चुर धुन थोड़ा पाते हैं/ भारत से बाहर तो फेंक नहीं आते हैं/ जो भी बनवाये, अपनी ही वह भवन है/ देश में ही रहता है, देश का जो धन है’—इतनी बड़ी दलील के आगे कोई जिरह नहीं हो सकती परन्तु अगर आप फिर भी सवाल करते हैं तो उत्तर भी सुनिए— ‘बड़ा बेवकूफ है अजब तेरा हाल है/ तुझे क्या पड़ी है ये तो सरकारी माल है।’ सरकारी माल का अर्थ ही है सबका माल। ऐसी मानसिकता को लेकर आजादी का जश्न मनाते लोगों को देख कवि कहता है—

गण, जन किसी का न तंत्र है/ साफ बात यह है कि भारत स्वतंत्र है
भिन्नता संभाले तार तार की/ राज करती है यहाँ चैन से ‘एनार्की’।

(परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० 62-68)

इस कविता में कवि का प्रतिरोधी स्वर कहीं सुनाई नहीं देता। वह अपना कोई पक्ष नहीं रखता— केवल यथास्थिति के विरुद्ध एक पर्यवेक्षक की भूमिका निभाता है परन्तु उसकी यही भूमिका इस कविता को एक गहरे अर्थ तक ले जाती है। समय की सच्चाइयाँ यहाँ एक स्वीकार बनकर आती हैं और सत्ता तथा जनता के दोहरे चरित्र की उजागर करती हुई अपना पक्ष रखती हैं।

विसंगतियों से भरे समय को व्यक्त करने का ढंग दिनकर के यहाँ केवल भावात्मक प्रतिक्रिया नहीं बल्कि निरन्तर पड़ताल और निरीक्षण का विषय है। उनकी एक कविता है ‘दिनचर्या’ जिसमें सुबह बिछावनर छोड़ने से लेकर रात बिछावन पर जाने तक की क्रमबद्ध दिनचर्या उद्भूत है। दिनचर्या का एक समय मुलाकातियों के लिए भी तय है। मुलाकाती किसी न किसी उम्मीद से बँधकर आते हैं—

मंत्री जी के हो मित्र, यार, बस इसे बहाल करा दो
बड़ा पुण्य होगा भाई, यह गोटी लाल करा दो—

बिल्कुल समय का सच्चा दृश्य है यह। व्यवस्था के भीतर गोटी लाल कराने में ही सारा कुकृत्य होता है। कवि की दिनचर्या में 'संसद' जाना भी शामिल है जहाँ बैठकर वे लोकतंत्र के प्रहरियों का सारा क्रियाकलाप खुली आँखों से देखते हैं। 'छिपकर चलता सत्य उसी को हाथ सभी से भय है/ लेकिन जो प्रत्यक्ष, मंच का वह केवल अभिनय है।'

लोहिया जी का संसद में आना दिनकर को बल देता है ... 'बड़ी बात तो यह है कि लोहिया संसद में आये हैं/ मुझे पूछते हैं— 'दिनकर कविता में जो लिखते हो/ वह है सही या वह जो तुम संसद में दिखते हो।' लोहिया ने दिनकर से बहुत बेवाक होकर जो प्रश्न पूछा था उसका उत्तर समन्वयवादी प्रवृत्ति वाले कवि दिनकर ने भी बहुत ईमानदारी से दिया था—

'मित्रों! सत्य का मैं भी अन्वेषी हूँ
सोशलिस्ट ही हूँ लेकिन कुछ अधिक जरा देशी हूँ।
अच्छे लगते मार्क्स, प्रेम है किन्तु गाँधी से
प्रिय है शीतल पवन, प्रेरणा लेता हूँ आँधी से
नहीं चाहता युद्ध लड़ाई लेकिन अगर ठनेगी
किसी तरह भी शांतिवाद से मेरी नहीं बनेगी।'

अपने इस कहे को उन्होंने चरितार्थ भी किया है। दमन, अन्याय, अत्याचार को जन्म देने वाली व्यवस्था और उस व्यवस्था को संचालित करने वाली नीतियों के विरुद्ध हमेशा अपनी आवाज तेज रखी। उनका मानना था कि 'युद्ध में खड्ग कभी गंगाजल की फुहार से नहीं धोया जाता।'

चीनी आक्रमण के समय घायल नौजवानों से मिलकर दिनकर के भीतर सरकार और उसकी नीति के विरुद्ध तीव्र आक्रोश और क्षोभ पैदा हुआ था। उस समय उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू की अहिंसावादी नीति का विरोध करते हुये दो जबरदस्त कविताएँ लिखी थी—अहिंसावादी का युद्धगीत और कसौटी पर गाँधी की आगा। उन्होंने लिखा था—

'अब भी पशु मत बनो/कहा है वीर जवाहरलाल ने
लेकिन जिसे 'क्रूर दानवों के दुर्दान्त समूह ने/
वृकों, हिंस्र पशुओं, बाघों के व्यूह ने घेर लिया।

अगर वह नर पशुओं पर/तुलसी की कण्ठी छू छूकर,
रो-रो कर वार करेगा/तो पशु की ही होगी विजय/
पराजय मानवता की/और अंत में वह द्विधाग्रस्त
मानव भी स्वयं मरेगा।'

उस समय उन्होंने देश की जनता का आह्वान करते हुए कहा था—
'देशवासी! जागो-जागो/गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो।'

ये पक्तियाँ उनके दो टूक सच बोलने और बापू के प्रति अगाध श्रद्धा रखने के बावजूद परिवर्तित समय के परिप्रेक्ष्य में गाँधी की अहिंसावादी नीति एवं गाँधीगिरी को कभी समय संगत नहीं स्वीकारने की प्रामाणिक दृष्टान्त हैं। वे मार्क्स और गाँधी दोनों के बीच दृढ़ता से खड़े होने वाले अपनी तरह के अकेले व्यक्ति थे, जिनमें सत्यता और निर्भीकता के न झुकने वाले विश्वास और संकल्प थे।

सत्ता के बहुत करीब रहने के बावजूद उन्होंने सत्ता की अराजक व्यवस्था से कभी भी बेशर्म समझौता नहीं किया। कांग्रेस के राज्यसभा सांसद दिनकर का निर्भीक कवि तंत्र के अभिजात्य पर कठोर प्रहार करने से नहीं चूकता—

घातक है, जो देवता सदृश दिखता है
लेकिन कमरे में बैठ गलत हुक्म लिखता है
जिसको अपना गोत्र प्यारा है/उसने ही हमें मारा है।

देश का कानून वस्तुतः शासक वर्ग के हाथों का हथियार है, जिससे वह अपनी सत्ता और व्यवस्था की सुरक्षा को सुनिश्चित करता है।

इस कविता के एक-एक शब्द की अनुगूँज समय के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अपने अर्थ को फैलाती दिखाई पड़ती है। राजनेताओं के चरित्र का दोहरापन, उनका छल-छद्म, गलत-निर्णय, भाई-भतीजेवाद, वंशवाद, जाति-धर्म-संप्रदाय के दंगे-क्या कुछ नहीं उजागर हो रहा है इन पक्तियों में।

दिनकर की कविताओं में सत्ता और व्यवस्था के प्रति दुःख, क्षोभ और आक्रोश अमूर्त नहीं—वह मुकम्मल जीवन स्थितियों के बीच में उभरता है। देश में व्याप्त राजनीतिक छल-छद्म पाखंड, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, मँहगाई जैसी कठिन जीवन स्थितियों पर दिनकर ने खुलकर प्रतिरोध व्यक्त किया है। आजादी के उत्सव समारोह पर कवि का हृदय दुःख, क्षोभ और आक्रोश से भरा नजर आता है— '... और धूमधाम से नहीं मनाओगे क्या तुम/कुछ ही वर्षों में दशक चोरबाजारी का?/ छल-छद्म कपट का, राजनीति की तिकड़म का/क्रम-क्रम

से उत्सव इनका भी होना चाहिये।’

उन्होंने सुशासन की भी खबर ली है— ‘मंत्री के पावन पद की यह शान/ नहीं दीखता दोष कहीं शासन में। दिनकर की कविताएं व्यवस्था के मोहक रूपविधान और चमक-दमक को उधेड़ कर भूख, गरीबी और विपन्नता से त्रस्त हिन्दुस्तान के वास्तविक चेहरे से हमारा परिचय कराती है। उनमें भोक्ता की वास्तविक तड़प और छटपटाहट है। यह छटपटाहट उनके भीतर एक आक्रामक तेवर और विश्लेषणात्मक दृष्टि देती है।

दिल्ली कविता में उनका आक्रोश सत्ता के प्रभुत्ववादी व्यवस्था को सम्बोधित है— ‘आहें उठी दीन कृषकों की/ मजदूरों की तड़प पुकारे/ अरी गरीबों के लोहू पर/ खड़ी हुई तेरी दीवारें।’

कृषकों की पीड़ा, कामगारों की अस्मिता और आम आदमी की विपन्नता का कारण दिनकर विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक वर्ग के वर्चस्व को मानते हैं। उनका मानना था कि सच्चा समाजवाद भारत में तभी आ सकता है जब धरती पर पैदा होने वाले दीन-दुर्बल पेड़ों में भी शक्ति आ जाए।

दिनकर की कविता में भोगवाद, समांतवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, संप्रदायवाद, जातिवाद विरोधी चेतना वस्तुपरक यथार्थ को एक नयी परिणति देने की चेष्टा करती है। समाज में भोगलिप्सा का उद्दाम लहराती हुई धारा को देखकर कवि का मन क्षुब्ध है। वह कहता है—भोगलिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम। यह भोग लिप्सा व्यवस्था को शोषण को खुली छूट देती है—मानवीय मूल्यों का ह्रास करती है। समाज में उपभोग संस्कृति और अर्थिक विसंगति के चरम को देखकर कवि विचलित है। एक ओर अमीरों के घर के कुत्ते दूध से नहलाये जाते हैं, दूसरी तरफ गरीब के बच्चे की तृप्ति क्षुधा कब्र में भी दूध-दूध चिल्लाती है। ऐसे में दिनकर का कवि चुप नहीं बैठता। वह व्यवस्था के काले घने मेघों को ललकार कर कहता है—हटो व्योम के मेघ पंथ से/ स्वर्ग लूटने हम आते हैं/ दूध-दूध वो वत्स तुम्हारा/ दूध खोजने हम जाते हैं।

दिनकर ने ‘श्वानों को मिलता दूध वस्त्र’ कहकर जिस अमानवीय विधान की भर्त्सना की है उसका एक अधुनातन बिडम्बनापूर्ण दृश्य आज दिनांक 01.09.2008 को इस लेख को लिखते हुए मैंने टी०वी० चैनल पर देखा है जिसमें प्रभुत्वशाली कुछ लोग कुत्ते की शादी का भव्य जश्न मना रहे हैं और दूसरी तरफ चैनलो पर उत्तर बिहार के बाढ़ का प्रलयकारी ताण्डव मचा हुआ है। गूगे

दुःख बेघर हो गये हैं—कोशी मैया ने सब कुछ लील लिया है। बीच धार में छप्पर पर पनाह लिए लोगों में एक औरत की सूखी छाती में मुँह रगड़ता अबोध बच्चा भूख से चीत्कार कर रहा है। चैनल पर प्रसारित इन दोनों दृश्यों के विषम विन्यास में दिनकर की प्रासंगिकता को मैं बहुत संजीदगी से महसूस कर रही हूँ।

शोषण और उपनिवेशवाद के विरुद्ध दिनकर की कविताएं सामाजिक जीवन में सार्थक परिवर्तन की आकांक्षी है। उनकी काव्य चेतना में समय और समाज की संवेदनहीनता और क्रूरता के विरुद्ध एक ललकार की भाषा है—‘पथरीली ऊँची जमीन है? तूफान उठेगा, प्रलयवाण छूटेगा/ है जहाँ स्वर्ण, बम वहीं स्यात फूटेगा।

सामंतवाद और पूंजीवाद के कठोर गुंजलक में कैसे समय और समाज को देखकर उनके भीतर कई प्रश्न उद्बलित होते हैं— जानते हो यह अनोखा राज क्या है? वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है? और गूंगी ईंट की आवाज क्या है?

गूंगी ईंट की आवाज सुनकर कवि व्यवस्था के सामंतवादी गढ़ को तोड़ने के लिए तत्पर दिखता है— ‘तोड़ दो इसको, महल की वस्तुएँ बर्बाद कर दो/ नींव की ईंट हटाओ/ दब गये हैं जो अभी तक जी रहे हैं/ जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो’।

जीवित सांसों को आजाद करने की कामना दमनकारी व्यवस्था में मानवीय मूल्यों के लिए एक बड़े स्पेस की खोज करती है। पूंजीवादी समाज में कभी भी मानवीय हितों और प्राथमिकताओं को वांछित स्थान नहीं मिलता इसलिए विषमताओं की खाइयाँ बढ़ती ही जाती हैं। ऐसे में दिनकर का कवि ‘समतल पीटने, खाइयाँ पाटने और बहुपाद वटों की सिरा सोर को छानने की बात करता है।’

सामाजिक रुढ़ियों, प्रचलित मान्यताओं और आचरण की क्षुद्रताओं पर भी दिनकर ने खुलकर वार किया है। भरी सभा में सूत पुत्र कर्ण से कृपाचार्य जब जाति का नाम पूछते हैं तो उसका आहत स्वाभिमान गरज उठता है— ‘अधम जातियों से थर-थर काँपते तुम्हारे प्राण/ छल से माँग लिया करते हो अँगूठे का दान।’ आज के समय में व्यक्तित्व हनन की ये दुष्चेष्टाएँ अधिक प्रासंगिक हैं।

राष्ट्रीय भावधारा के कवि होने के कारण दिनकर के मन में जन्मभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा और निष्ठा है। देश को चारागाह समझकर चरने वाले को उन्होंने अपने समय में ही आगाह किया था— ‘सावधान! जन्मभूमि किसी का

चारागाह नहीं है।' लेकिन यह कैसी विडम्बना है कि आज भारत केवल अपने लोगों के लिए ही नहीं बल्कि पूरे विश्व के लिए चारागाह बनता जा रहा है और हमारी निष्क्रिय चेतना आने वाले समय के विकराल सत्य से पूरी तरह तटस्थ है। इस आपराधिक चुप्पी का सबसे बड़ा कारण व्यक्ति का स्वार्थ और व्यवस्था द्वारा प्राप्त कुछ सुविधाएं हैं। दिनकर ने इस समझौता परस्ती और तटस्थता का लक्ष्य करके ही कहा था— 'जो तटस्थ है समय लिखेगा उनका भी अपराध।'

दिनकर की कविताओं में हर जगह व्यवस्था विरोधी चेतना की दृढ़ और स्पष्ट स्वीकृति देखने को मिलती है। उन्होंने अराजक सत्ता और व्यवस्था पर उस हथौड़े से प्रहार किया है जिसे पृथ्वी पर आने के पूर्व ईश्वर ने उन्हें दिया था। सर्जना की भूमि पर वे विरोधी शक्तियों से लड़ने के लिए ही अवतरित हुए थे। एक वक्तव्य में उन्होंने इसे स्वीकारा है— 'पृथ्वी पर आने के पूर्व जब भगवान को प्रणाम करने गया, वे कलाकारों के बीच छेनी, आँकी, हथौड़ी, कूँची और रंग बाँट रहे थे। लेकिन भगवान ने मुझे छेनी, आँकी और हथौड़ी नहीं दी, जो पच्चीकारी के औजार हैं। उनके भंडार में एक हथौड़ा पड़ा हुआ था। भगवान ने वही हथौड़ा उठाकर मुझे दे दिया और कहा कि जा तू इस हथौड़े से चट्टान का पत्थर तोड़ेगा और तेरे तोड़े हुए अनगढ़ पत्थर भी काल के समुद्र में फूल के समान तैरेंगे।' (जरा सी आत्मश्लाघा के लिए क्षमा कीजिए।)

भले ही अपने वक्तव्य में अपनी इस आत्मश्लाघा के लिए कवि क्षमा प्रार्थी है पर यह सच है कि उस हथौड़े से व्यवस्था की सामंती डीह पर दिनकर का कवि निरन्तर प्रहार करता 'समर शेष है' कहता रहा और वह 'समर' एक अंतहीन प्रक्रिया के साथ आज भी शेष है

दहकते अंगारों का कोमल स्वप्न : दिनकर की कविता

रतन कुमार पाण्डेय

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनकी समग्र रचनाधार्मिता का मूल्यांकन बहुत कठिन कार्य है। ऐसे में उनकी ही पंक्ति, जो 'हारे को हरिनाम' में उन्होंने लिखी थी, स्मरण हो रही है—

दहक उठे जो अंगारे बन गए,

कुसुम कोमल सपने थे,

... अधिक सबसे अपने थे,

अब चल उसके द्वार सहज जिसकी करुणा है।

राष्ट्रकवि दिनकर आरंभ में ओज, तेज, आवेश और आवेग के कारण दहकते अंगारे का निर्माण करते हुए, युग धर्म के प्रति अपने गंभीर दायित्व का पालन कर रहे थे। तदनंतर व्यष्टि और समष्टि के बीच समन्वय करते हुए, भारतीय संस्कृति के प्रति सचेत भाव रखते हुए, सपनों के कोमल सुकुमार कुसुम खिला रहे थे। वे व्यक्तिगत प्रेम तथा सौंदर्य चेतना और समष्टिगत दायित्वपरकता के द्वैत को सधे हाथों सँवारते रहे। उस समय दिनकर की काव्य-सरिता रति और उत्साह के दो फूलों के बीच प्रवाहित हो रही थी। 'रेणुका' के रचयिता दिनकर से काव्य सरिता की दो धाराएँ फूटी— 'हुंकार' और 'रसवंती'। 'हुंकार' का उत्साह 'कुरुक्षेत्र' तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' में विकसित होता है तो रसवंती की रस की सुकुमारता 'उर्वशी' में परिवर्धता में फलीभूत होती है। उत्साह और रति ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं मनुष्य के संपूरक भाव हैं। 'रसवंती' में सुकुमार सपनों का अंकुर फूटता है और उर्वशी में फल लगते हैं। 'दिनकर' की कविताओं की शक्ति आस्था है। उस समय भी जब वे आवेग और आवेश रच रहे थे तब भी क्रान्ति और विप्लव उनके हाथों से छूटा नहीं था। 'हारे को

हरिनाम' तक पहुँचते-पहुँचते आस्था और दृढ़ हो चुकी है।

दिनकर भारत की मिट्टी के कवि हैं। स्वदेश और स्वभूमि की हर धड़कन में उनका हृदय धड़कता है। कवि ने जब काव्य जगत में पदार्पण किया था, वह राष्ट्रीयता के उन्मेष की बेला थी। नवजागरण अपनी छटा बिखेर चुका था। भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का जन्म नवजागरण की कोख से हुआ था। देश की मिट्टी और उसकी हर धड़कन से लगाव और अपनापन होने के कारण 'दिनकर' के भीतर देश और देशवासियों के प्रति अपार प्रेम भर उठा। वे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध शंखनाद करते हुए आये। उपनिवेशवाद का सबसे पीड़क पक्ष है देश के स्वाभिमान का नाश तथा राष्ट्रीयता अस्मिता का ध्वंस। 'दिनकर' की कविता 'हिमालय' इसी अस्मिता की तलाश और जागरण की रचना है। कुचले स्वाभिमान की व्यंजना है— है तड़प रहा पद पर स्वेदश में मुखरित हुई है। हिमालय उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के महाभाव का प्रतीक बनकर आता है। पूरे हिन्दी कविता जगत में 'हिमालय' नवजागरण की अत्यंत सशक्त रचना है। सदियों से जड़ता में सोये देश को झकझरोने और जगाने के लिए दिनकर ने लिखा— ओ, मौन तपस्या लीन यती! पलभर को तो कर दृगुन्मेष।

दिनकर नवजागरण के अग्रदूत के रूप में हिन्दी कविता में आते हैं। 'दिनकर' की कविताओं में अपने पूर्ववर्ती मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की समस्त चेतना एक साथ साकार होती है। गुप्त की श्रद्धा भावना माखनलाल चतुर्वेदी, की अल्हड़ता तथा नवीन की गर्मजोशी भरी फक्कड़पन की अदा, एक साथ देखी जा सकती है। 'रेणुका' में 'जागरण' शीर्षक में कवि लिखता है— मैं शिशिर शीर्णाचली अब, जाग ओ मधुमासवाली। शिशिर शीर्णता पुरातनता के अवसान और मधुमास नवयुग के आगमन का सूचक है। दिनकर अतीत की उज्ज्वल परंपरा को मथते हैं। उनमें सांस्कृतिक परंपराओं की गहरी समझ और सोच विद्यमान है। इस कारण कविताएँ वर्तमान की पुकार से सचेत क्रांति का स्वागत करती हैं। दिनकर घोषणा करते हैं— जब भी अतीत में जाता हूँ, मुर्दों को नहीं जलाता हूँ।

इस वाणी में अतीत के प्रवास से वर्तमान आप्लावित होता है। अतीत की वेदनाएँ, हृदय को सालती रहती हैं। कवि कल्पना की दुनिया से दूर, अतीत के विस्तृत ऐतिहासिक आकार में उड़ान भरता है। इस उड़ान में स्वर्गीय आनंद की

निमग्नता तथा शोक-विह्वलता दोनों साथ-साथ चलते हैं। अतीत उसकी वाणी को नया स्वर, नवस्फूर्ति और चेतना प्रदान करता है। अतीत की गौरव गरिमा, कला, संस्कृति, शौर्य, बलिदान, त्याग और ऐश्वर्य की यादें उसे कुरेदती हैं तो भुलुठित गौरव और स्वत्व, पतनोन्मुख जीवन दशा, निस्तेजता, अशक्तता, देख शोक भी होता है।

'दिनकर' ने आगत में यात्रा, पौराणिक ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर, प्रायः महाभारत से उपजीव्य ग्रहण कर, अनेक यशस्वी प्रबंध एवं खण्डकाव्यों की रचना की। जैसे 'प्रणभंग', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिशी', 'उर्वशी' आदि। ऐतिहासिकता का सहारा लेकर 'रेणुका' तथा 'हुंकार' जैसी रचनाएँ लिखीं। 'रेणुका' में जहाँ कवि की दृष्टि अतीतोन्मुख थी, वहीं 'हुंकार' में आकर वह अतीत के आकर्षण से मुक्त युगधर्म के प्रति अपने गंभीर दायित्व का पालन करती दिखाई देती है। 'रेणुका' में अतीत का भावुक रुझान तथा 'हुंकार' में दीप्ति का आवेग था तो सामधेनी तक आते-आते वे दुविधामुक्त हो उठते हैं। 'ओ, द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' नामक कविता में यह साफ दिखाई देता है। 1940 में स्वयं गांधी इस उधेड़बुन में थे कि आंदोलन आरंभ करें या न करें। वहीं कवि 1941 में गांधीवाद से ऊर्जा ग्रहण कर कलिंग विजय जैसी कविता भी लिखता है। प्रणभंग में श्रीकृष्ण के शस्त्र ग्रहण को भी कवि शंका की गहरी नजर से देखता है। यह वही समय है जब कांग्रेस से नरमदल के लोग शस्त्र ग्रहण को लेकर असमंजस की स्थिति से गुजर रहे थे। 'कस्मैदेवाय' नामक कविता में 'दिनकर' इतिहास या अतीत की यात्रा के बाद वर्तमान की ओर लौटते हैं। जब-तब अतीत में ही शांति की तलाश करते तथा इसमें उन्हें असफलता प्राप्त होती तत्पश्चात् अपनी युगीन समस्याओं को उठाना ही उनका श्रेय था।

'कुरुक्षेत्र', 'दिनकर' की रचनाओं की एक महत्वपूर्ण पहचान है। यह रचना उपनिवेशवाद के विरुद्ध आत्मसंघर्ष की काव्यात्मक परिणति है। महाभारत में भीष्म दुर्योधन की सेवा में थे। पर उनका हृदय पाण्डवों के साथ था। यही स्थिति ठीक दिनकर की भी थी। क्योंकि अंग्रेजी सत्ता की नौकरी में जो दायित्व उन्हें दिया गया था, उसमें युद्ध का प्रचार-प्रसार करना और उसे न्यायसंगत ठहराना था। उस स्थिति में भी उपनिवेशवाद का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा—

सुख समृद्धि का विपुल कोष संचित कर कल-बल से।
 किसी क्षुधित का ग्रास लूट, धन लूट किसी निर्बल से।
 हिलो-डुलो मत हृदय-रक्त, अपना मुझको पीने दो।
 अचल रहे साम्राज्य शांति का, जिओ और जीने दो।

‘हिमालय’, ‘दिल्ली’, ‘हाहाकार’, ‘अनल किरिटी’, ‘विपथगा’ जैसी अनेक उपनिवेशवाद विरोधी रचनाएँ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की समस्या को उन्होंने उस समय सोचा और लिखा जब वे युद्ध प्रचार-विभाग में सरकारी मुलाजिम थे। ‘रेणुका’ से ‘कुरुक्षेत्र’ तक ‘दिनकर’ लगातार आग और तूफान से खेलते हैं— ‘आग की भीख’ नामक कविता में कवि लिखता है—

आगे पहाड़ को पा घटा रुकी हुई है,
 बल पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है,
 निर्वाक है हिमालय गंगा डरी हुई है,
 निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
 हम दे चुके लहू हैं तू देवता विभा दे,
 अपने अनल विशिख से आकाश जगमगा दे।

‘दिनकर’ की अपनी पीड़ा पूरे देश की पीड़ा है। 1942 में ‘निमंत्रण’ कविता में भी वे किसी ऐसे नायक की आकांक्षा करते हैं। जो लोगों में ज्वाला प्रज्वलित कर सके। दिनकर को यह भी पता है कि केवल साम्राज्यवाद ही नहीं सामंतवाद भी शोषण में पीछे नहीं है। सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण में दोनों समतुल्य हैं। सामंतों की स्वेच्छाचारिता एवं भोगविलासता के प्रति आक्रोश से भरकर वे लिखते हैं—

युवती की लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
 मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।

‘मुक्तिबोध’ ने भी लिखा है कि कामायनी में देव संस्कृति का नाश इसी कारण हुआ है। विलासिता की बाढ़ में देव संस्कृति डूब चुकी थी। इसे वे सामंती संस्कृति का ही प्रतीक मानते हैं। ‘रेणुका’ में ‘तांडव’ – शीर्षक कविता में दिनकर स्वर्ग दहन की बात करते हैं। ‘हाहाकार’ कविता में स्वर्ग लूटने का आह्वान करते हैं। ‘दिनकर’ का स्वप्न है कि ‘गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो, आग लगे इस आडंबर में। लेनिन का भी मानना था कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की ही तरह एक विकसित अमानुषिक अवस्था का नाम है। ‘दिनकर’ की दृष्टि है कि

गरीब के आँसुओं से नहाकर कोई नारायण बनता है। नारायण की यह नई परिभाषा है। कवि कहता है कि जब मातृभूमि पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ी हो जनता भूखों विलख रही हो तो रूप-पूजा का अवसर नहीं होता।

दिनकर स्वत्व के संघर्ष के हिमायती थे स्वार्थ के संघर्ष के नहीं। जब पश्चिम बंगाल के नोआखाली में साम्प्रदायिकता शबाब पर थी, तब उन्होंने ‘तकदीर का बँटवारा’ शीर्षक कविता लिखकर अपना क्षोभ व्यक्त किया। वे बलिदान और कुबानी का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

किसने कहा पाप है समुचित स्वत्व प्राप्ति हित लड़ना,
 उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना मरना,

दिल्ली पहुँचकर दिनकर ने दिल्ली को ठीक से देखा और जाना। दिल्ली की चकाचौंध और विलासिता से भरा जीवन कवि को रास न आया। उन्हें अपने गाँव और गाँव की खुली प्रकृति निरन्तर लुभाती रही। एक तरफ है दिल्ली का अधुनातन जीवन जिसके बारे में कवि लिखता है—

है विकल देश सारा अभाव के तापों से,
 दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

यहाँ एक आस्थान स्वर्ग गूँजता है जिसमें शक्ति है, विश्वास है, कर्तव्यबोध है तथा गति और दिशा का भान है। विपन्नता से कातर कवि की कविता एक करुण तस्वीर पेश करती है। लगता है मानो उनकी कविता हवा का एक झोंका बनकर आ जायेगी और भूखे-नंगे इंसान की लज्जा का वसन बन उनकी लाज ढकेगी। दिनकर ने गाँव की गरीबी, निर्धनता, अभाव, शोषण, अन्याय तथा अत्याचार भोगा तथा देखा था। रक्त शोषण दानवों द्वारा हो रहा था जनता मूक बनी शोषण झेल रही थी। दिनकर उनके पक्षधर बनकर लिखते हैं—

जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,

नदी संकेत पर जिनके, समेटकर गति बदलती है,

सुबह से शाम तक खटकर, पुरुष जो लौटता घर को,

... प्रिय से भी नहीं कहता कि मेरी बाँह दुखती है।

ऐसा कर्मठ कर्मयोगी ‘दिनकर’ की आकांक्षाओं का नायक है। मनुष्य का कर्म और संघर्ष ही सत्य है। कर्म जीवन का स्वत्व है और संघर्ष जीवन की ज्वाला। कर्मयोगी संसार के इस संघर्ष के कार्य में मग्न रहता है वहीं इसका ताप झेलता है। तपता है और अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। संसार

को विकास के पथ पर ले जाने का कार्य भी वही करता है। कुरुक्षेत्र में भीष्म कहते हैं—

*क्रिया धर्म को छोड़ मनुज कैसे निज सुख पायेगा,
कर्म रहेगा साथ भाग वह जहाँ-जहाँ जाएगा।*

वेदान्त की निवृत्ति की व्याख्या के विपरीत विवेकानंद ने कर्मठ वेदांत का सिद्धांत प्रतिपादित किया तथा उसे जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा और हर्ष के साथ जोड़ दिया। उन्होंने लिखा— *जब पड़ोसी भूखा मरता है, तब मंदिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है।*

‘दिनकर’ ने मध्यकालीनता बोध के विपरीत कहा कि— मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है। जो आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है। माँ-बाप से विहीन बच्चों के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता। दिनकर लिखते हैं—

*धर्मराज कर्मठ मनुष्य का, पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।*

देश में एक ओर गरीबी का शोक था तो दूसरी ओर आजादी का जश्न। लोग गम और आँसू पीने के लिए विवश थे। असन और वसन भी नसीब नहीं था। ऐसे समय सर्वहारा के उद्धारक के रूप में दिनकर का आना यदि न हुआ होता तो ‘कस्मैदेवाय’ कविता कैसे लिखी जाती, जहाँ कवि कहता है—

*विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौं रोती है,
अरी! हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।*

अपनी इस जनता पर कवि को अपार विश्वास था। उसकी कर्मठता और कर्मशीलता में अटूट आस्था थी। ऐसी जनता जिस दिन जागेगी, आततायी व्यवस्था का सर्वनाश अवश्यंभावी है। ‘दिनकर’ मानो जनता की शक्ति का आख्यान लिखते हुए कहते हैं—

हंकारों से महलों की, नींद उखड़ जाती है

ऐसे मानव दीप्त आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति ‘चाँद और कवि’ शीर्षक कविता से भी हुई है। मनुष्य के सृजन और निर्माण की क्षमता स्वर्ग को चुनौती देती है। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब *परशुराम की प्रतीक्षा* की रचना संभव हुई। ‘दिनकर’ को यहाँ कहने में संकोच नहीं कि लोकतंत्र यदि

प्रतिभातंत्र नहीं बनता तो देश का अस्तित्व ही संकटापन्न हो जाता है। दिनकर कहते हैं—

*पर्वत पति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा,
असि पर अशोक को मुंड तोलना होगा,
गौतम को जय जयकार बोलना होगा।*

आस्था दिनकर के काव्य की धुरी है। तथा असफलता और आघात से उनकी रचना हुई है। आस्था बाद में पिघलकर ‘हारे को हरिनाम’ बन जाती है। दिनकर लिखते हैं— *साहित्य में यह नहीं होता कि कवि ने सड़क पर एक थप्पड़ खाया और घर में आकर वह उसकी कविता बनाने लगा। जिन घटनाओं से कवि का जीवन-दर्शन बदलता है, जो आदमी के देखने की दिशा बदल देती है, उसे कविता बनने से पूर्व कवि के रक्त में घुलने के लिए समय चाहिए। जब यह दर्द मेरे अणु-अणु में फैल गया, मैं एक प्रकार की विचित्र कविता लिखने लगा।* यहाँ यह स्पष्ट है कि आस्था भाव के साथ आत्मनिवेदन सृजन का आधार है। यहाँ तक आते-आते दिनकर निराला की कविता ‘रेत ज्यों तन रह गया’ को साधते हैं— ‘हारे को हरिनाम’ लिखकर मैंने आशा की थी कि मेरी विनय पत्रिका पूरी हो गयी।

इस प्रकार रचनाकार अपने अनुभवों को चिंतन के बिना किसी व्यायाम की सहज भाषा में बाँध सका है। यथार्थ की पथरीली भूमि पर आज के दृढ़ और कर्मठ मनुष्य की भाँति वह अपनी सघन अनुभूति को नवीनता प्रदान करता है। काव्यानुभव भाषा की तनी हुई रस्सी पर नृत्य करने जैसा है। जीवन और जगत के साथ निरन्तर अपनी चेतना का संघर्ष करते हुए जो संवेदनात्मक विवेक अर्जित हुआ वही वस्तुपरकता और तटस्थता के साथ दिनकर की रचनाओं में भाषा के धरातल पर दिखाई पड़ता। कहीं भाषा में एक एनार्की (व्यंग्यात्मकता) है जो कटु जीवनानुभवों की गवाही देती है; तो कहीं व्यवस्था की विद्रूपता सपाट ढंग से भी प्रस्तुत हुई है।

कर्ण-चरित उद्धार : रश्मि रथी

धनंजय कुमार

हिन्दी के छायावादोत्तर युग की अनुपम उपलब्धियों में दिनकर व बच्चन हैं। हिन्दी के सामान्य पाठकों में भी दिनकर की ओजपूर्ण कविताओं ने नव रुचि और नव उत्साह का संचार किया। उनकी कविताओं का प्रधान स्वर अन्याय के प्रति आक्रोश का है। समाज में संस्थागत हो चुके अन्याय के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति के लिए दिनकर को ऐसे नायक की तलाश थी जो उदात्त चरित्र-संपन्न होने के अतिरिक्त अनिवार्यतः पराक्रमी हो।

महाभारत के कर्ण में उन्हें मानस परिकल्पित नायक का समरूप मिल गया। महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण के कर्ण के प्रति व्यक्त उद्गार ध्यातव्य हैं

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनम्।
त्वमेव धर्म शास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥
सिंहर्षभ गजेन्द्राणां बलवीर्य पराक्रमः।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः॥

ओजस्वी कविता की रचना में रमने वाले दिनकर का मन तेजस्वी कर्ण के व्यक्तित्व से सहज ही अभिभूत हो गया। युयुत्सा और संघर्ष कर्ण के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे।

वैयक्तिकता का निषेध करने वाली वर्ण व्यवस्था के प्रति कर्ण के संघर्ष का आरम्भ किशोरावस्था से ही हो जाता है। किशोर कर्ण के अन्दर एक महान योद्धा होने की संभावना बीजरूप में विद्यमान थी। इस संभावना को विनष्ट करने की एक नाकाम कोशिश द्रोणाचार्य द्वारा कर्ण को शिष्य रूप में अस्वीकार किया जाना थी। परन्तु कर्ण तो मरुस्थल की वनस्पति की

जिजीविषा लेकर जन्मा था, जो रेत से भी आर्द्रता सोख ही लेते हैं।

ज्ञान पर एकाधिकार की कपट क्रीड़ा का प्रतिरोध किशोर कर्ण परशुराम के समक्ष अपने वास्तविक परिचय को गोपन रखकर करता है। किशोर कर्ण का यह 'असत्य' प्रचलित व्यवस्था के क्रूर सत्य की तुलना में नगण्य था, फिर भी कर्ण शाप का भाजन बना।

वैयक्तिकता और व्यक्तित्व के हनन की ये दुष्चेष्टाएँ वर्तमान काल के लिए सर्वथा अप्रासंगिक हों, सो बात नहीं; हाँ, परिवर्तन की सुगबुगाहट अवश्य दिखने लगी है। स्वयं दिनकर के शब्दों में - 'आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं जो उसके माता-पिता या वंश की देन है। इसी प्रकार व्यक्ति अपने निजी गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है वह भी इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकेंगे। कर्ण-चरित का उद्धार एक तरह से नयी भावना की स्थापना का ही प्रयास है।' कर्ण का दलित आत्मगौरव यौवनकाल में अर्जुन को चुनौती देने के बहाने पूरी व्यवस्था के जड़ प्रतिमानों को चुनौती देता है -

तूने जो-जो किया, उसे मैं भी दिखला सकता हूँ
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ

कर्ण के जातीय परिचय की आड़ में कृपाचार्य द्वारा जब वैयक्तिकता के उद्घोष के स्वर को शमित करने का पुनः प्रयास होता है तो कर्ण का संचित आक्रोश फूट पड़ता है-

जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड,
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।
...पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।

दिनकर पूरे विश्व को अपने हृदय में समेटने वाली सहानुभूति को आदर्श मानते थे। उन्हीं के शब्दों में देखिए - "भारत का मन राष्ट्रीय कम, अन्तरराष्ट्रीय अधिक रहा है। तब भी, दासता से मुक्ति पाने के लिए हमने राष्ट्रीय विशेषण को स्वीकार कर लिया, सिर्फ इस भाव से कि राष्ट्रीयता के जागरण के बिना दासता का अन्त असम्भव है।" कवि राष्ट्र की सीमा को भी स्वीकार नहीं करना चाहता और यह उस सरीखे महान कवि के लिए स्वाभाविक ही है क्योंकि विस्तार ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। हृदय के विस्तार से ही

परपीड़ा की समानुभूति की क्षमता मनुष्य में आती है और तभी वह प्रत्युपकार की लालसा किये बगैर अपना सर्वस्व भी उत्सर्ग कर पाता है। दान इसी विस्तार का व्यवहार में आंशिक रूपायन है। दिनकर की दृष्टि में दान करने की क्षमता उदात्त चरित्र का सबसे प्रमुख लक्षण है। यह क्षमता संसार में विरले लोगों में ही पायी जाती है। तमिल की गीता कही जाने वाली पुस्तक 'तिरुक्कुराल' दान के विषय में कहती है -

आरूवार आररल् पसियाररल

अप पशियै मारूकर आर रलिर पिन्।

(अर्थात् अपनी क्षुधा पर विजय प्राप्त करने वाला आत्मबली तो है किन्तु दूसरों की क्षुधाग्नि शान्त करने के लिए दान देने वाला अधिक आत्मबली है।)

कर्ण ऐसे विरले आत्मबलियों में से एक था। देवराज इन्द्र की कपट मंशा को भाँप कर भी उन्हें निःशंक करने के लिए वह कहता है :

विप्रदेव माँगिए छोड़ संकोच वस्तु मनचाही,

मरूँ अयश की मृत्यु करूँ यदि एक बार भी नाही।

कर्ण का यह जानबूझकर 'छला जाना' उसके चरित्र को और उज्वल बनाता है।

*जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय-दान करता न प्राण को रखकर कोई जन है,
मगर, प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं।*

कर्ण की इस वीरता से इन्द्र का भी हृदय परिवर्तित हो जाता है और वे कर्ण को एकाघ्न देने के लिए विवश हो जाते हैं।

कर्ण-कुन्ती प्रसंग में दिनकर ने कर्ण को उपेक्षित पुत्र की भूमिका में रखा है। माता की कठोर उपेक्षा के कारण कर्ण लांछन भरा अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है। अतएव इस प्रसंग में माता द्वारा अप्रत्याशित स्नेह के प्रदर्शन पर उसका संचित विक्षोभ फूट पड़ता है। परन्तु कर्ण तो स्वभावतः ही उदारमना है जिसका नेह सब पर है और जिसकी दया सबके प्रति है। फिर जननी के प्रति वह कब तक कठोर रह सकता था। कर्ण मित्र-धर्म के निर्वाह के अर्थ अर्जुन को छोड़ शेष समस्त भाइयों को युद्ध में नहीं मारने का विलक्षण संकल्प करता है।

दान के अतिरिक्त कृतज्ञता भी श्रेष्ठ पुरुषों में पायी जाती है। स्वल्प सहायता भी उचित समय पर किये जाने पर अमूल्य हो जाती है, फिर दुर्योधन ने तो रंगभूमि में व्यंग्य के तीक्ष्ण बाणों से हतप्रभ कर्ण को उबारने के लिए उसे अंग प्रदेश का राजा ही घोषित कर दिया। कृतज्ञता और मित्र के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर ही कर्ण कुन्ती के आग्रह को ठुकराता हुआ कहता है -

जोड़ने नहीं बिछुड़े वियुक्त कुल जन से

फोड़ने मुझे आई हो दुर्योधन से।

कपटी दुर्योधन का साथ देने के बावजूद कदाचित् कृतज्ञता की कर्तव्य भावना से प्रेरित होने के कारण ही कर्ण का व्यक्तित्व किंचित भी मलिन नहीं होता।

द्रौपदी का चीर हरण ही एक ऐसा प्रसंग है जहाँ कर्ण का आहत अभिमान उसे नारी की अस्मिता की रक्षा के लिए विरोध का स्वर भी मुखरित नहीं करने देता। दिनकर ने कर्ण-अर्जुन युद्ध के प्रसंग में कर्ण से पश्चाताप व्यक्त करवाकर इस कलंक को धोने की कोशिश की है। द्रौपदी चीर हरण के प्रसंग को छोड़ दिया जाये तो कर्ण का चरित्र सर्वथा निष्कलंक है।

कर्ण के युद्ध में सेनापति बनने तक युद्ध समस्त मर्यादाओं के अतिक्रमण से वीभत्स स्वरूप गहण कर चुका था परन्तु कर्ण पुनः मर्यादा की स्थापना करने की कोशिश करता है। नागवंश के सर्प अश्वसेन के उसके तूणीर पर सवार हो अर्जुन को डँसने देने के आग्रह को अस्वीकार करता हुआ वह कहता है -

उस पर भी साँपों से मिलकर,

मैं मनुज, मनुज से युद्ध करूँ?

जीवन भर जो निष्ठा पाली, उससे आचरण विरुद्ध करूँ?

संसार कहेगा जीवन का, सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया।

प्रतिभट के वध के लिए सर्प का, पापी ने साहाय्य लिया।

कर्ण ने तो अधर्म का आश्रय नहीं लिया परन्तु अर्जुन ने नीतिज्ञ कृष्ण का कहा सुन अवश्य अधर्म का आश्रय ले लिया। कर्ण के रथ का पहिया पंक में फँस गया और निःशस्त्र, पहिया निकालते कर्ण को अर्जुन ने अपने बाणों से बींध डाला।

कर्ण के जीवन का सूर्य इस प्रकार अस्त हो गया परन्तु उसकी प्रभा का तूर्य अनन्त काल तक समष्टि को व्यष्टि के माहात्म्य का आख्यान करने के

लिए बजता रहेगा।

दिनकर कर्ण-चरित के उद्धार के माध्यम से अपने अभीष्ट की अर्थात् नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना में कितना सफल हो सके हैं इसका आकलन तो श्रेष्ठ आलोचक ही कर सकते हैं किन्तु इतना तो तय है कि एक सामान्य पाठक भी रश्मि रथी को पढ़कर निरपेक्ष परिचय की महत्ता का बोध करेगा और परंपरा की धूल से धुँधली हुई उसकी दृष्टि कुछ तो अवश्य साफ होगी।

दिनकर का काव्येतर साहित्य

पुष्पारानी गर्ग

रामधारी सिंह 'दिनकर' का नाम कवि रूप में हिन्दी साहित्य जगत में इतना अभिभूत हो चुका है कि वह अभी तक उसी में रमा हुआ है। सम्भवतः इसी कारण उसे अवकाश नहीं मिल पाया कि दिनकर जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के अन्य पहलुओं पर भी दृष्टिपात करे। वस्तुतः दिनकर उत्कृष्ट कोटि के सफल कवि होने के साथ एक सशक्त गद्यकार भी थे। उन्होंने गद्य एवं पद्य दोनों में विपुल ग्रन्थों की रचना की है।

साहित्य की विपुलता ही उनकी श्रेष्ठता का निष्कर्ष नहीं है, बल्कि उसमें उनका गूढ़ चिन्तन, प्रौढ़ वैचारिकता, सुस्पष्ट सैद्धान्तिक धारणाएँ एवं समर्थ अभिव्यक्ति आदि ऐसी शक्तियाँ शामिल हैं जो दिनकर जी के गद्यकार रूप को उनके कवि रूप के सम्मुख पूर्ण अधिकार के साथ प्रतिष्ठित करती हैं।

दिनकर जी के साहित्यिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शासकीय सेवा में रहकर राजनीति से सम्पृक्त रहते हुए भी वे स्वच्छन्द रूप से साहित्य सृजन करते रहे। उनकी साहित्य चेतना राजनीति से उसी प्रकार निर्लिप्त रही, जिस प्रकार कमल जल में रहने पर भी जल से निर्लिप्त रहता है। अपने राजनीतिक जीवन के विषय में बकौल गालिब, दिनकर का कथन है, 'बाजार से गुजरा हूँ, खरीददार नहीं हूँ।' उन्हें अपने राजनीतिक जीवन में दो विराधी मनःस्थितियों से गुजरना पड़ा। एक ओर तो सरकारी नौकरी की विवशता, कि बार-बार त्यागपत्र देने की इच्छा को दबाकर आर्थिक अभावों के कारण उन्हें नौकरी करनी पड़ी, दूसरी ओर काव्य-सृजन के माध्यम से वे अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को भी अभिव्यक्ति देते रहे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दिनकर का कवि-हृदय देश की नवीन परिस्थितियों व समस्याओं से आलोड़ित हुआ, जिसने उन्हें गूढ़ वैचारिकता से परिपूर्ण गद्य की ओर उन्मुख किया। वस्तुतः काव्य का क्षेत्र कल्पना और भावना से अतिरंजित होता है। उसमें तर्क परिचालित विश्लेषण और विवेचन के लिए स्थान नहीं होता है। किन्तु जो कवि परम्परा से अनुशासित मान्यताओं के साथ समकालीन प्रभावों से भी आक्रांत होता है, उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। दिनकर जी एकान्तसेवी कवि ही नहीं थे, बल्कि वे कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष करने वाले एक सजग और जागरूक भारतीय नागरिक भी थे। उन्होंने अपने उत्तरवर्ती जीवन में राष्ट्रभाषा हिन्दी काव्य की क्रांति एवं संस्कृति की विविध विचारधाराओं में अपने जीवन की दिशा निर्धारित की थी। ऐसी स्थिति में उनका साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी था, तो क्या आश्चर्य !

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दिनकर जी ने विशेष रूप से गद्य का सृजन ही अधिक किया।

दिनकर जी की अब तक कुल पच्चीस गद्य रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'वेणुवन', 'वस्पीपल', 'साहित्य मुग्धी', 'आधुनिक बोध', 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान', 'विवाह की मुसीबतें' आदि दिनकर के ऐसे निबन्ध संग्रह हैं, जिनमें उन्होंने आधुनिकता एवं परम्परा, धर्म और विज्ञान, काम, प्रेम और नैतिकता, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीय आदि विषयों पर बहुत गहराई से चिन्तन किया है। अपने प्रारम्भिक जीवन में क्रांति का उद्घोष करने वाले राष्ट्रकवि दिनकर आगे चल कर राष्ट्रीयता का विसर्जन कर देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीयता के पीछे जो घृणा की भावना छिपी है, वह विश्व-एकता की भावना को सुदृढ़ नहीं होने देगी। 'अन्तरराष्ट्रीयता हमारे प्रेम का विकास' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं, "गुलामी एक काँटा है, जिसके गड़ जाने पर हम उसे राष्ट्रीयता रूपी दूसरे काँटे से निकालते हैं, लेकिन काँटा निकल जाने के पश्चात क्या यह उचित है कि हम एक काँटे को तो फेंक दें और दूसरे काँटे को जब में लिए फिरें।" दिनकर के अनुसार राष्ट्रीयता की परिणति अन्तरराष्ट्रीयता में होनी अनिवार्य है, क्योंकि प्रेम और उदारता की एक मंजिल राष्ट्रीयता है और अन्तरराष्ट्रीयता उससे आगे की मंजिल का नाम है।

आज के वैज्ञानिक युग में धर्म आहत हो रहा है। इस विषय में दिनकर

का मत है कि आज की अति वैज्ञानिकता से त्रस्त सभ्यता को भविष्य में धर्म एवं साहित्य की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी। जीवन में विज्ञान का स्थान तो रहेगा, परन्तु वह अभिनव रूप ग्रहण करके आधि-भौतिकता से ऊपर उठकर धर्म के क्षेत्र में जीवन की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करेगा।

आधुनिकता के बारे में दिनकर जी की निजी धारणाएँ रही हैं। वे आधुनिकता को कोई मूल्य न मानकर, मूल्यों के विघटन का पर्याय मानते थे। परन्तु इस आधुनिकता का एक अनुकरणीय पक्ष और भी है, जिसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है- जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अंधविश्वास से बाहर निकलने की प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है, इसी आधुनिकता के साथ दिनकर भारत की उस परम्परा का तालमेल बैठाना चाहते थे, जो उसकी आध्यात्मिकता में निहित है।

संस्कृति और सभ्यता दिनकर जी के चिन्तन का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सुप्रसिद्ध शोधपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें भारतीय संस्कृति के विकास को चार अध्यायों में बाँट कर उसकी एक सामासिक प्रतिमा प्रस्तुत की गई है। दिनकर जी के अनुसार भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है- आध्यात्मिकता, दया, प्रेम, उदारता और सहिष्णुता आदि। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह अनेक प्रकार की उथल-पुथल के पश्चात आज भी पूर्णतया जीवंत है और सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करने में सक्षम है। इसी कारण दिनकर जी ने यह आस्था प्रकट की है कि भविष्य में भी यही संस्कृति सम्पूर्ण विश्व की एकता की पृष्ठभूमि निर्मित करने में समर्थ होगी।

ऐसा ही प्रशंसनीय ग्रन्थ है, 'शुद्ध कविता की खोज'; इसमें दिनकर जी ने काव्य के प्रयोजन के आधार, उसके शुद्धतावादी आन्दोलन का बहुत खोजपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से पाठक को सहज ही सम्पूर्ण यूरोप की तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों एवं नवीन विचारधाराओं का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। दिनकर जी ने आलोचनाएँ भी यथेष्ट रूप से लिखी हैं। इनमें से कुछ, उनके अन्य निबन्ध संग्रहों में संकलित हैं तथा कुछ स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'मिट्टी की ओर', 'काव्य की भूमिका', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' उनके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। अपने समीक्षात्मक

निबन्धों के माध्यम से दिनकर जी ने हिन्दी आलोचना के स्तर को ऊँचा उठाते हुए उसे एक नवीन दिशा प्रदान की है। अपने समकालीन समीक्षकों से भिन्न वे साहित्य में शास्त्रीय प्रतिबद्धता को अनिवार्य महत्त्व प्रदान करने के पक्ष में नहीं थे, उन्होंने रीतिकाल का मूल्यांकन नवीन दृष्टि से किया था। उनके अनुसार चित्रकला की कसौटी रीतिकाल के साथ न्याय करने की सबसे अनुकूल कसौटी होगी। इस आधार पर रीतिकाल हिन्दी का बहुत ही सफल काल माना जाएगा, क्योंकि इस काल के कवियों ने कला की साधना में कोई कमी नहीं रखी। दिनकर के मत से रीतिकाल के कवियों का दोष यह है कि उन्होंने अपनी शृंगारिक भावनाओं को सच्चाई के साथ अभिव्यक्त नहीं किया। इन कवियों ने जीवन और समाज की समस्याओं की जो उपेक्षा की है, उसका कारण यह था कि तत्कालीन समाज का ध्यान भी इन समस्याओं की ओर नहीं था।

दिनकर जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न काव्यान्दोलनों पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं, जो उनके समकालीन अन्य विचारकों से बहुत-कुछ भिन्न हैं। छायावादी आंदोलन के विषय में दिनकर जी का मत है कि वह केवल द्विवेदीयुगीन काव्य की कल्पनाहीनता के विरुद्ध विद्रोह ही नहीं था, प्रत्युत जीवन की सबसे बड़ी क्रांति का भी प्रतीक था। यह जीवन की स्थूलता से दूर भागने का प्रयास था। छायावाद की वेदना के विषय में दिनकर का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि साहित्य को सतही दृष्टि से देखने वाले लोग यह कह देते हैं कि यह प्रथम विश्वयुद्ध से जन्मी हुई निराशा का परिणाम था अथवा यह कि असहयोग आंदोलन के विफल हो जाने से देश में जो निराशा उत्पन्न हुई, उसकी अभिव्यक्ति छायावाद के रुदन पक्ष में हुई। परन्तु, ये दोनों मत ध्वस्त इसलिए हो जाते हैं कि विश्व-युद्ध जनित निराशा का ज्ञान भारत को बहुत बाद में हुआ, वह भी इलियट की कविताओं द्वारा। जहाँ तक असहयोग आंदोलन का प्रश्न है, उसकी विफलता से देश में पस्ती नहीं आयी थी। इस काल की राष्ट्रीय कविताओं में उमंग ही उमंग है, पस्ती या शिथिलता के भाव नहीं हैं।

दिनकर के अनुसार छायावाद की वेदना मनुष्य की नहीं, कलाकार की वेदना है, जो वास्तविक अनुभव नहीं है, वरन् जिसकी काल्पनिक अनुभूति से कवि कोमल कविताएँ रच रहा है। अनेक दुर्बलताओं के बावजूद छायावाद को

आधुनिक हिन्दी साहित्य में विशिष्ट महत्त्व का अधिकारी मानते हुए दिनकर लिखते हैं कि, खड़ी बोली में कविता का जागरण एक बार ही हुआ और वह था छायावाद का अभ्युत्थान। उसके बाद जो कुछ हुआ, वह छायावाद के परिपाक की प्रक्रिया मात्र रही है।

आधुनिक रहस्यवाद को दिनकर छायावाद से अलग करके नहीं देखते। उनके अनुसार छायावाद की रहस्यमयी भावना भी छायावादियों की बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम थी। सौन्दर्य को देखने की कामना से छायावाद का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ और सृष्टि के रहस्य को जानने की उत्सुकता इस आंदोलन का बौद्धिक पक्ष थी। इस प्रकार वस्तु के आंतरिक सत्य को देखने की चाह में उन्होंने ऐसी अनंत सुन्दरताओं के भी दर्शन किए जो हिन्दी के लिए अछूती थीं। इससे हिन्दी के काल्पनिक जगत में अत्यन्त श्रीवृद्धि हुई। छायावाद के बाद आने वाले प्रगतिवादी आंदोलन को दिनकर जी साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मानते, क्योंकि वह प्रचार का माध्यम बनकर ही रह गया था।

भविष्य में कविता का क्या स्वरूप होगा, इस विषय में दिनकर जी का विचार है कि भविष्य की कविता गाने या सुनाने की चीज न होकर, सोचने-समझने की वस्तु होगी। उसका संबंध मनुष्य के अन्तर्जगत् से होगा।

दिनकर जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी पर भी दो पुस्तकें लिखी हैं। ये हैं : 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता' तथा 'राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधी जी।' इनके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा पर कुछ लघु निबंध भी उन्होंने लिखे हैं। दिनकर का कथन है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर इसलिए प्रतिष्ठित किया गया कि उसमें राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता मौजूद है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस दिशा में सबसे अधिक प्रयत्न अहिन्दीभाषी महापुरुषों ने ही किया। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत की संस्कृति एक है। उसे अपनी सांस्कृतिक एकता व राजनीतिक अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एक राष्ट्रभाषा का समुचित प्रसार करना चाहिए। इसके लिए देश के सभी राज्यों में हिन्दी का अधिकाधिक विकास होना चाहिए। विशेषकर दक्षिणी राज्यों में हिन्दी के समुचित प्रसार के लिए दिनकर जी का आग्रह रहा है कि हिन्दी वालों को अपने हिन्दी प्रेम की कीमत चुकाने के लिए दक्षिण की कोई न कोई भाषा अवश्य सीखनी चाहिए ताकि दक्षिण वालों को यह सद्भावना और विश्वास मिल सके कि उन पर

हिन्दी जबरदस्ती थोपी नहीं जा रही है।

दिनकर जी ने अपनी विदेश यात्राओं के जो संस्मरण लिखे हैं, उनका अपना अलग-अलग साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व है। चीन की यात्रा में वे वहाँ के अनुशासन से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। उन्हें यह भी पता चला कि चीन में जनश्रुति रही है कि यहाँ जितनी भी अच्छी चीजें हैं, सब भारत से आयी हुई हैं। चीन में 'लाइंग माउन्टेन' है। इसके लिए भी कहा जाता है कि यह उड़न पहाड़ भी भारत से ही आया था। जर्मनी यात्रा में बर्लिन का विभाजित रूप देखकर उन्हें बहुत पीड़ा हुई थी। वे लिखते हैं, 'बर्लिन विश्व राजनीति का गहरा घाव है। ...बर्लिन की दीवार के दोनों ओर तड़पते हृदय हैं जिन्हें हिटलर अपनी क्रूरता की कहानी कहने को छोड़ गया है।' अपनी इन विदेश यात्राओं में दिनकर की दृष्टि वहाँ की तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक स्थिति पर भी रही है जिसकी वे निरन्तर अपने मन में भारत से तुलना करते रहे हैं।

वैयक्तिक संस्मरणों के माध्यम से उन्होंने जनमानस के स्मृति पटल पर धुँधली होती रेखाओं को फिर से चमकाने का प्रयास किया है।

दिनकर जी की पुस्तक 'चेतना की शिखा' में भारत के महान योगी श्री अरविन्द के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को बिल्कुल सहज एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। 'उजली आग' एक गद्य-काव्य है, जिसमें दिनकर जी का दार्शनिक कलाकार का रूप उभर कर सामने आया है। इसमें उन्होंने वैचारिक रूपकों व सांकेतिक कथाओं तथा देश-विदेश में प्रचलित कथा-संदर्भों के माध्यम से आज के मानव को नये संदेश दिए हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि दिनकर जी ने बालोपयोगी गद्य एवं पद्य का भी सृजन किया है। इसके द्वारा एक ओर तो वे भारतीय बालकों को अपनी सांस्कृतिक परम्परा एवं पृष्ठभूमि से परिचित कराना चाहते हैं, तो दूसरी ओर देश के राजपूत वीरों एवं क्षत्राणियों की गाथा सुनाकर उनके बाल मन में वीरता के संस्कार निर्मित करना चाहते हैं ताकि वे आगे चलकर तन-मन से सच्चे भारतीय नागरिक बन सकें।

दिनकर का एक पत्र संकलन 'दिनकर के पत्र' नाम से प्रकाशित हुआ था जिसका संपादन कन्हैयालाल फूलफगर ने किया था। पत्र भी गद्य साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। पत्रों में लेखक के आंतरिक व्यक्तित्व या अन्तर्जगत् के

निगूढ़ कक्षों का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। दिनकर के पत्रों में उनके स्वभाव के साथ उनके पारिवारिक जीवन की स्पष्ट झाँकी मिलती है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाने के साथ राष्ट्रीयता एवं साहित्य के प्रति समर्पित था। उन्होंने अपने सभी कर्तव्यों का पूरी निष्ठा के साथ निर्वाह किया परंतु उन्हें निभाने में उन्हें बहुत जहमत झेलनी पड़ी। जीवन में भोगी हुई पीड़ा मानसिक क्लेश और पारिवारिक संत्रास में उनकी कुण्ठा नहीं, एक प्रकार का सात्विक आक्रोश है, संघर्ष है, आघात देने की शक्ति है।

दिनकर का सम्पूर्ण गद्य साहित्य विशिष्ट वैचारिक गम्भीरता से युक्त है। अपने गद्य में वे अधिकतर आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर चिंतन करते दिखाई देते हैं। कभी साहित्य की समस्या पर, कभी धर्म और विज्ञान की समस्या पर, कभी आधुनिक नवीन मूल्यों की समस्या पर, कभी राष्ट्रभाषा की समस्या पर, कभी राष्ट्रीयता की समस्या पर। आधुनिक युवा आक्रोश तथा अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार करते हुए वे लिखते हैं : अनुशासनहीनता वह रोग नहीं जो कल पैदा हुआ और परसों खत्म हो जाएगा। जब तक शासन के कर्णधार नहीं सुधरेंगे, जब तक ईमानदार कर्मचारी धक्के खाते रहेंगे और बेईमानों को तरक्की मिलती रहेगी, तब तक छात्रों की अनुशासनहीनता भी कायम रहेगी। इसके लिए समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को सुधारना होगा।

सच तो यह है कि दिनकर का गद्य साहित्य इतना विशाल और सुगम्भीर है कि थोड़े में उसका परिचय देना कठिन है। हिन्दी के अक्षय भंडार में महाकवि दिनकर ने अपनी गद्य रचनाओं से जो महान योगदान किया है उसका विश्लेषण एवं विवेचन करके सही दिशा प्राप्त करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

एक युगान्तकारी रचना : कुरुक्षेत्र विद्या रानी

कुरुक्षेत्र जहाँ अन्याय के प्रतिकार में न्याय का युद्ध हुआ था, जहाँ समुदायगत राग द्वेष को महसूस करके अन्याय करने वालों को समाप्त किया गया था, वही कुरुक्षेत्र रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' काव्य का वर्णन स्थल है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र के निवेदन में लिखा है— *कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है। और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती।* कुरुक्षेत्र के बहाने कवि ने युद्ध, शांति, हिंसा, अहिंसा, वीरता, कायरता जैसे विषयों पर विचार किया है। कुरुक्षेत्र ओज और व्यंग्य से परिपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है जो विचार के तारतम्य से रचित है, इसीलिए कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र का प्रबन्धत्व उसके विचारों से है, जिन्हें दिनकर ने अत्यंत कुशलता से व्यक्त किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है: *काव्य का विचार तत्व रसतत्व के स्तर पर आरूढ़ हो सका है तो कुरुक्षेत्र काव्य की संज्ञा का अवश्य ही अहंकार है।*

विश्वयुद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवतावाद के समर्थक राष्ट्रकवि दिनकर को युद्ध और शांति, अहिंसा और हिंसा, कर्तव्य और वीरधर्म जैसे विषयों पर अपनी बातें कहने का एक प्लेटफॉर्म या मंच चाहिए था। विश्वयुद्ध ने मानवता को झकझोर डाला था, आधुनिक वैज्ञानिक आयुधों के प्रयोग की विभीषिका ने भी कवि को विज्ञान एवं कला पर विचारने के लिए बाध्य किया था। युद्ध की विभीषिका के चित्रण के लिए महाभारत से अधिक सुयोग्य कौन सी कथा हो सकती थी! इसलिए उन्होंने महाभारत के दोनों पात्रों को अपने

विचार व्यक्त करने का आधार बना डाला है। युधिष्ठिर, जो धर्म के प्रतीक हैं किन्तु विध्वंस की विकरालता को देखकर विचलित हैं; भीष्म, जो अपने ही प्रण में बँधे शरीर से दुर्योधन के साथ एवं हृदय से पांडवों के साथ थे; वे धर्म के उद्घोषक के रूप में आए हैं।

कवि ने लिखा है—

*धर्म स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था
अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था।*

अर्जुन से संधान करवा कर, जो भीष्म छह महीने तक शरशय्या पर रहे, उन्हें भी शायद इसी ग्लानि का पश्चाताप था कि उन्होंने आजीवन अन्याय का साथ दिया। इसलिए *हे अर्जुन! मेरा ये शरीर भी अब तुम्हारा है। इसे शर से बेध कर अन्याय का साथ देने का दंड दे डालो।* कवि ने पांडवों के प्रति भीष्म के स्नेह और प्रेम की मंदाकिनी पर बिल्कुल नये ढंग से सूक्ष्म दृष्टि डाली है।

कुरुक्षेत्र में मानव नियति एवं सामाजिक विषमता पर व्यंग्य एवं नस-नस में उत्साह की ज्वाला जला रखने की शक्ति से परिपूर्ण पंक्तियाँ मिलती हैं। दिनकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के सक्षम कवि हैं। कुरुक्षेत्र में ओज और व्यंग्य का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भीष्म का एक-एक वाक्य उसके व्यक्तित्व की वीरता का परिचायक है। साथ ही, मानव हृदय की कोमलता एवं कायरता पर उन्होंने जो व्यंग्य किया है वह कवि की व्यंग्यार्थ शक्ति का द्योतक है। वहीं कवि विज्ञान के बारे में विचार करते हुए रसेल से एक कदम आगे बढ़कर कहता है—

सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार

... खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार;

काट देगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

युधिष्ठिर आश्चर्यचकित हैं कि ऐसी नृशंस लीला के प्रारंभ में ही उसकी बुद्धि ने साथ क्यों नहीं दिया था। युधिष्ठिर को अपनी दयनीय स्थिति पर क्षोभ होता है और वह व्यंग्य करता है कि भीषण युद्ध के बाद जो धरती मिली है उस पर राज्य कैसे किया जा सकता है। उन्हें दुर्योधन स्वप्न में कहता हुआ दीखता है कि—

आ गए हम पार, तुम उस पार हो,

यह पराजय या कि जय किसकी हुई।
युधिष्ठिर की दीनता को देखकर भीष्म व्यथित हो जाते हैं, वे अपने अनुसार वीर के धर्म की बात करते हैं—

कायरों की बात कर मुझको न जला
आज तक हे रहा आदर्श मेरा वीरता बलिदान ही
जाति मन्दिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूँ, विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।

कवि मानव जीवन का सबसे बड़ा धर्म यह मानता है कि वह प्रज्वलित रहे और किसी का तनिक भी स्पर्श सहन नहीं कर सके। दिनकर ने निष्क्रियता एवं कायरता पर व्यंग्य किया है, अन्याय के प्रतिशोध के बदले संन्यास को अपनाने पर भी व्यंग्य किया है तथा यह व्यंग्य तीखे स्वर में सामाजिक व्यवस्था को बेधता है। कवि कहता है—

समर नित्य है धर्मराज पर, कहो शांति वह क्या है?
जो अनीति पर स्थित होकर भी, बनी हुई सरला है।

भीष्म के अनुसार जहाँ तलवार से शांति की स्थापना की जाती है वहाँ कभी न्याय नहीं हो सकता है। शान्ति की स्थिति जब अन्याय के विस्तार के लिए हो तो उस शांति को चुपचाप वरण करना कायरों का लक्षण है, वीर पुरुष अन्याय की बलि दे देता है। जिस प्रकार अर्जुन के मोह पर भगवान ने गीता का उपदेश दिया था, उसी प्रकार युद्ध के अंत में भीष्म युधिष्ठिर को कार्य का संदेश देते हैं। वे युद्ध की अनिवार्यता की परिस्थितियों और कारणों पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि अन्याय के प्रतिकार के लिए युद्ध अनिवार्य है।

काव्य मानव मन का विश्लेषण कर अंदर की रसमय अनुभूतियों द्वारा उसे सरस रूप प्रदान करता है। कुरुक्षेत्र में आधुनिक जीवन के वास्तविक तथ्यों को कथानक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें जीवन की समस्याओं का चिन्तन एवं मनन है। वर्तमान युग के मानव जीवन में जो निष्ठुरता, उत्कट स्वार्थ लिप्सा, भोग-लालसा, हिंसा परायणता आदि की प्रवृत्तियाँ प्रबल रूप धारण कर रही हैं, उसी की ओर दिनकर की दृष्टि गई है। उसका सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण कुरुक्षेत्र में मिलता है। इसमें युग की भावनाओं का दर्शन मिलता है।

इन विचारधाराओं के पीछे कवि का सबल एवं तेजस्वी व्यक्तित्व तथा

प्रगाढ़ चिन्तन झँक रहा है। इसमें हिन्दी दर्शन मुखर हो उठा है। इस दर्शन में जीवन की महिमा का जयगान युगदर्शन के रूप में हुआ है और निवृत्तिमूलक धर्म की व्याख्या की गई है जो जगत और जीवन को मिथ्या एवं मायामय बताकर किसी कल्पना लोक में शांति का संधान करने की शिक्षा देता है। जीवन के इस तत्व का हृदयग्राही चित्रण मिलता है—

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज, जो कुछ है वह है मिट्टी में जीवन में,
सम्यक विधि से इसे प्राप्त कर नर सब कुछ पाता है।
मृत्तिजयी के पास स्वयं ही अंबर भी आता है।

जीवन की प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कैसे हो सकता है, उसका सुन्दर समाधान निम्न पंक्तियों में है—

भोगो तुम इस भाँति मृति को, दाग नहीं लग पाये
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममे विलीन हो जाये,
और सिखाओ भोगवाद की यही नीति जन-जन को
करो विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।

भीष्म कहते हैं—

जो अखिल कल्याणमय हो व्यक्ति तेरे प्राण में
कोखों के नाश पर है रो रहा केवल वही
किन्तु उसके पास ही समुदायगत जो भाव है
पूछ उनसे क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था।

व्यक्ति-धर्म एवं समाज-धर्म का विवचन करते हुए वे फिर कहते हैं—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

इस प्रकार कवि ने हिंसा-अहिंसा, मनोबल, शास्त्र बल और मनुष्यता जैसे प्रसंगों को उठाकर वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराओं को प्रतिबिम्बित किया है।

लोकतंत्र के लोककवि दिनकर

राजेन्द्र वर्मा

दिनकर का नाम सुनते ही हमारे मानस-पटल पर ऐसे रचनाकार का चित्र खिंच जाता है जिसे अपने अतीत से प्रेम है, वर्तमान पर असन्तोष है और भविष्य से आशा है। वे एक युगद्रष्टा की भाँति हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तथा अपनी रचनाओं से वह तोष प्रदान करते हैं जो उनके समकालीनों के यहाँ अलभ्य है।

दिनकर बहुविधा रचनाकार थे। उन्हें कविताएँ विशेष प्रिय थीं। उनका कवि उनके गद्यकार पर हावी रहा। साहित्यिक संसार भी उन्हें इसी दृष्टि से देखता है। यद्यपि उन्होंने 'संस्कृति के चार अध्याय', 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल' और 'उजली आग' जैसी कृतियों से हिन्दी गद्य को सम्पन्नता व सुष्ठुता प्रदान की, तथापि 'उर्वशी', 'सामधेनी', 'रश्मि रथी', 'रेणुका', 'द्वंद्वगीत', 'हुंकार', 'रसवंती', 'हारे को हरिनाम' जैसी काव्यकृतियों से वे अपेक्षाकृत अधिक सराहे और स्वीकृत किये गए। 'उर्वशी' को जहाँ ज्ञानपीठ मिला, वहीं 'संस्कृति के चार अध्याय' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी अन्य कृतियाँ पुरस्कार-योग्य नहीं हैं।

गांधी, नेहरू, टैगोर, जयप्रकाश नारायण जैसी महान विभूतियों के विचारों को आत्मसात् करने वाले दिनकर किसी विचारधारा का झंडा लेकर नहीं चले। उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ानों की अपेक्षा युगीन सत्य की स्वर-लहरियाँ मुखर हैं। उनकी पक्षधरता सदैव गरीबों, मजदूरों, शोषितों और वंचितों के साथ रही। वास्तविक अर्थों में वे लोकतंत्र के लोककवि थे।

यद्यपि प्राकृतिक सुषमा, अजंनता एवं ऊर्जास्विता दिनकर के काव्य में समाविष्ट रही है, तथापि उनकी राष्ट्रीय भावना अद्वितीय है। उनकी रचनाओं में जीवनाग्नि की उपस्थिति उन्हें अनुपमेय बनाती है। लेखनी के दायित्व को

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

लेकर उनकी यह अभिव्यक्ति आज भी मील का पत्थर बनी हुई है :

कलम, आज उनकी जय बोला

जला अस्थियाँ बारी-बारी,

छिटकायी जिनने चिंगारी;

जो चढ़ गये पुण्य वेदी पर

लिये बिना गर्दन का मोला

कलम, आज उनकी जय बोला

इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने वालों पर उनकी यह टिप्पणी प्रायः उद्धरणीय है :

अन्धा, चकाचौंध का मारा,

क्या जाने इतिहास बेचारा;

साक्षी हैं उनकी महिमा के

सूर्य-चन्द्र-भूगोल-खगोल।

कलम, आज उनकी जय बोला

कोई यदि कवि से उसका परिचय पूछे, तो कवि क्या कहेगा? उत्तर 'सामधेनी' के 'परिचय' के इन छन्दों में मिलेगा :

सलिलकण हूँ, कि पारावार हूँ मैं

स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं;

बँधा हूँ, स्वप्न है, लघु वृत्त में हूँ

नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

अथवा

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का,

चिता का धूलिकण हूँ, क्षार हूँ मैं।

पता मेरा तुम्हें मिट्टी कहेगी,

समा जिसमें चुका सौ बार हूँ मैं।

स्वतंत्रता के पश्चात हुए मोहभंग को दिनकर ने जो स्वर प्रदान किया है, वह मार्मिक तो है ही, आज के मंचीय कवियों, जो मात्र नारेबाजी तक सीमित कविताएँ कर रहे हैं, के लिए दर्पणस्वरूप हैं :

निर्वाक है हिमालय, गंगा डरी हुई है।

निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

पंचास्यनाद भीषण विकराल माँगता हूँ
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।

यह अकारण नहीं है कि कवि भूचाल माँग रहा है; प्रत्युत वह विवश है, क्योंकि अब पुनर्निर्माण हेतु सिवाय इसके और कोई विकल्प शेष नहीं है। आज जो भी स्थितियाँ दृष्टिगोचर हैं, वे भला कब अपेक्षित थीं?

शब्दचित्र देखिए :

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा।
कूपली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है?
मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किशती किधर चली है?

हालाँकि दिनकर की काव्य-रचनाओं का प्रमुख स्वर राष्ट्रीयता है, फिर भी उनमें विषम-वैविध्य है। 'राष्ट्र' के साथ-साथ 'प्रकृति' उनका प्रिय विषय रहा है। 'हारे को हरिनाम' में एक रचना है— 'भगवान् के डाकिए'। इसमें वे परम्परागत छन्द विधान को तोड़ते हैं और भावभूमि के आधार पर वे देश ही के नहीं, विश्व के कवि बन जाते हैं :

पक्षी और बादल !
ये भगवान के डाकिए हैं
जो एक महादेश से दूसरे महादेश को जाते हैं।
हम तो समझ नहीं पाते हैं
मगर उनकी लायी चिट्ठियाँ
पेड़-पौधे, पानी और पहाड़ बाँचते हैं।
हम तो केवल यह आँकते हैं
कि एक देश की धरती
दूसरे देश को सुगंध भेजती है
और वह सौरभ हवा में तैरते हुए
पक्षियों को पाँखों पर तिरता है
और एक देश का भाप
दूसरे देश में पानी बनकर गिरता है।

दिनकर की सिद्धहस्ता उनके गद्य-लेखन में भी द्रष्टव्य है। उनकी स्पष्ट सिद्धांतता एवं सर्वांगपूर्ण विचारधारा किसी समालोचक की मुखापेक्षी नहीं। उनके गद्य-लेखन में उनका गहन-चिंतन, मानवतावादी दृष्टिकोण, सांस्कृतिक मूल्यों की खोज व स्थापना हमें अनेक ऐसे सन्दर्भों से जोड़ती है जो इतिहास की शुष्कता तजकर संस्कृति समरसता का पान कराती है। 'धर्म की साकार प्रतिमा—परमहंस रामकृष्ण देव' नामक लेख, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था, में कहते हैं :

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। वह पंडितों का सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं है। हाँ कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है!...

पंडित और सन्त में वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है, किन्तु अनुभूति समुद्र के अन्तराल में बसती है!....

दिनकर की बहुचर्चित गद्यकृति, 'संस्कृति के चार अध्याय' हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। इसमें भारतीय संस्कृति की खोज, उसका विकास व वर्तमान स्वरूप लिपिबद्ध है। यह ऐसा विषय है कि इसकी विवेचना करना हर किसी के बूते का नहीं। एक तो, यह विषय इतना व्यापक है कि इसे एक औसत पुस्तक में समेटना असंभव-सा है। दूसरे किसी देश के सांस्कृतिक विकास को क्रमशः प्रस्तुत करना अत्यंत चुनौतीपूर्ण एवं विवादास्पद कार्य है। लेकिन दिनकर ने इसे संभव कर दिखाया। इस पुस्तक की प्रस्तावना तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने लिखी, जिन्होंने स्वयं इस विषय पर 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' लिखी है। दिनकर की स्थापनाओं के बारे में नेहरू कहते हैं :

...जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहंजोदरो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत-ही गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। ... इस प्रकार

हमारी संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। ...

पुस्तक के उपसंहार में दिनकर अपनी स्थापनाओं को निष्कर्ष-रूप में कुछ इस प्रकार रखते हैं कि पुस्तक के चारों अध्यायों का सार-संक्षेप पाठक के मनोमस्तिष्क में स्थायी स्थान बना लेता है। ये अध्याय हैं: प्रथम-आर्य जब भारतवर्ष आये, द्वितीय-महावीर और गौतम बुद्ध ने जब तत्कालीन धर्म या संस्कृति के विरुद्ध आवाज उठायी, तृतीय-इस्लाम जब विजेता के रूप में भारत पहुँचा, और चतुर्थ-भारत में यूरोप का आगमन हुआ। वास्तव में दिनकर की यह पुस्तक भारतीय संस्कृति, जो यहाँ के कण-कण में बिखरी हुई है, को चार सोपानों में प्रस्तुत करती है। स्वयं दिनकर ने इसका नाम 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' सोचा था, पर कालान्तर में पता नहीं क्यों, उन्होंने इसको 'संस्कृति के चार अध्याय' ही कहा।

इस कृति के अवगाहन से हम अपनी जड़ों से परिचित तो होते ही हैं, इस सत्य को भी आत्मसात् करते चलते हैं कि हममें कब, कहाँ, कैसे और कौन-सी खामियाँ व खूबियाँ चस्पा होती चली गयीं। कहना न होगा कि अतीत को सहेजने और भविष्य को सँवारने का नाम ही तो संस्कृति है। यह उद्यम दिनकर ने अत्यंत कौशल से पूर्ण किया है। हिन्दी साहित्य एतदर्थ उनका ऋणी रहेगा।

प्रसिद्ध रचनाकार-आलोचक, रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में, राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा 'भारतेन्दु' से प्रारंभ हुई, उसकी परिणति हुई है दिनकर में। . हमारे क्रांति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में, दिनकर कर रहा है। क्रांति को जिन-जिन हृदय-मंथनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता, उनकी सच्ची तस्वीर है।

दिनकर के कृतित्व का जो मूल्यांकन उनके समकालीनों ने किया, लगता है, बाद के आलोचकों ने उन्हें केवल राष्ट्रवादी कवि कहकर उनसे पल्ला झाड़ लिया। उनकी कविताओं की उपादेयता दसवीं-बारहवीं की कक्षाओं में पठन-पाठन तक ही सीमित न रहे, इस दृष्टि से भी हमें पूनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता है। यह मूल्यांकन चश्माविहीन हो, तभी कवि और उसकी कविता के साथ पूर्ण न्याय होगा।

क्रांतिकारी कवि, महान लेखक और सांसद दिनकर अपने अन्तिम समय में बहुत दुःखी थे। यह स्थिति उनके व्यक्तिगत कारणों से नहीं, बल्कि इस कारण

थी कि राष्ट्र के निर्माण का जो स्वप्न उन्होंने और उनके जैसे असंख्य लोगों ने देखा था, वह शीघ्र-ही टूट गया। स्वार्थी नेताओं और भ्रष्ट नौकरशाहों की मिली-भगत से स्वतंत्र भारत की सत्ता देखते-ही-देखते हथिया ली और देश अपनों का ही गुलाम हो गया। लिखना-पढ़ना, बहस-मुबाहिसा व्यर्थ साबित हुआ। हर तरफ लूट-खसोट, अमीरी का ख्वाब पूरा करने में लग ययी। न्याय स्वयं अन्यायी के हाथ का खिलौना बन गया। आम आदमी अथवा संवेदनशील रचनाकारों-कलाकारों के लिए अरण-रोदन के अतिरिक्त कुछ न शेष रहा।

यह स्थिति दिनोंदिन गहराती जा रही थी। 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों हुआ इलाज' वाली हालत है। इसके निदान में दिनकर सरीखे कवियों की आज महती आवश्यकता है।

आत्माभिव्यक्ति की आकुलता

परमानंद राय

दिनकर अपनी कविताओं के कारण आम जनता द्वारा याद किये जाते हैं। आजादी के पहले रची कविताओं का स्वर विद्रोही होने के कारण वे कविताएँ सत्ता विरोधियों द्वारा आमजनता के बीच ओजपूर्ण स्वर में आज भी गायी जाती हैं। सन् 1974 के बिहार आंदोलन के समय दिनकर की यह पंक्ति 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' बड़े ही नाटकीय अंदाज में उद्बोधित की जाती थी, यह पंक्ति विद्रोह का पर्याय बन गई थी। आंदोलनकारियों का मानो मंत्र-वाक्य बन गया था। दिनकर अपनी कविताओं में आम जनता के दुःख-दर्द की आवाज बन कर प्रकट होते हैं, उनकी परदुःख कातरता ही कवि की लेखनी से बहकर कविता बनी है। यही कारण है कि आम जनता दिनकर को अपना प्रतिनिधि कवि मानती रही है, 'हुंकार', 'रश्मि रथी' आदि कविताओं में दिनकर दलितों-शोषितों की ही पीड़ादायक सत्ता-प्रतिष्ठानों के प्रति चुनौतीपूर्ण मुखर आवाज हैं। यही कारण है कि जब भी देश की तरुणाई करवट बदलती है, वह दिनकर की 'हुंकार' में अपनी हुंकार पाती है और उसका जयनाद करती है, उसका जयघोष करती है।

तरुणाई और जवानी की अँगड़ाई में दुनिया को मनोनुकूल बनाने का सपना स्वाभाविक-सा लगता है किन्तु क्या कोई इसमें पूर्ण कामयाब हो सका है? आदमी अंततः भावनाओं के स्तर पर विश्राम चाहता है। पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक दायित्वों के प्रति सतत सचेष्ट और क्रियाशील होते हुए भी आदमी आंतरिक शांति और मानसिक विश्राम की कामना करता है। यही कारण है कि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में दिनकर ने 'उर्वशी' की खोज कर सौन्दर्य लोक में विचरण कर मानसिक क्लेश से मुक्ति पाने का स्तुत्य प्रयास किया। जीवन

केवल विद्रोह नहीं, यह मात्र चुनौती नहीं/मात्र चिंगारियां बिखेरने से तात्कालिक रोशनी ही मिलती है किन्तु जीवन और समाज तात्कालिक रोशनी की चकाचौंध से नहीं चलता, आगे नहीं बढ़ता। इसके लिए स्थायी प्रकाश पुँज की जरूरत होती है। इसी स्थायी पुँजी की खोज है 'उर्वशी'। जीवन में सत्य-शिव-सुन्दर की महती आवश्यकता होती है। इसी लक्ष्य की सामाजिक प्राप्ति में लेनिन और गांधी जीवनभर प्रयत्नशील बने रहे।

आदमी जब किसी स्तर पर थका, विचलित और ऊबा महसूस करता है तब वह एकांतिक एवं वैयक्तिक सुख की खोज में इतर लोक की भी काल्पनिक उड़ान भरता है जहाँ वह नई ऊर्जा प्राप्त करता है। रोमांटिक कवि कीट्स भी नाईटिंगल के साथ उड़ान भरता है और दुनियावी दुःख-दारिद्र्य से मुक्ति का एहसास करता है। इसी प्रकार उर्वशी भी दिनकर की स्वान्तः सुखाय की खोज है।

आम जन दिनकर को कवि रूप में ही जानते हैं। लोहिया उन्हें महाकवि कहकर पुकारते थे लेकिन 'संस्कृति के चार अध्याय' ने उन्हें गद्य लेखक के रूप में बौद्धिक समाज में प्रतिष्ठापित किया। दिनकर के गद्य लेखन की सेवा स्मृति हमें हरिवंश राय बच्चन के आत्मकथा लेखन की भी याद दिलाता है। इन दोनों कवियों ने कवित्त संसार के आयाम को जितना बढ़ाया है, उससे शायद ही कम उनकी हिन्दी गद्य-सेवा हो। दिनकर लिखित हिन्दी गद्य-लेखन का डॉ. दिवाकर द्वारा संपादित रूप 'दिनकरनामा' कवि को गद्यकार के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें दिनकर के लेखकीय रूप का मूर्तिमंद परिचय मिलता है।

दिनकर मात्र कविता पाठ करने वाले कवि ही नहीं थे वरन् वे समर्थ भाषण-कर्ता भी थे। सरल भाषा में विचार-प्रधान भाषणों से बौद्धिक वर्गों के साथ-साथ आम जनता को भी अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता दिनकर में कूट-कूट कर भरी थी।

दिनकर जी समय-समय पर आलेख लिखने के भी शौकीन थे। अपने एक आलेख 'गाँवों से रेशमी नगर' में उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है 'मेरा बीजमंत्र क्या है- इस संबंध में कुछ विशेष नहीं बता सकता है केवल एक शब्द जानता हूँ। प्रवृत्ति यानी जीवन को स्वीकार करने का भाव। जीवन की स्वीकृति मेरी कर्मठता है, कर्मयोग है, अध्यवसाय है।'

अपने प्रेरक भाव के संबंध में उनका कहना है कि 'आर्थिक आवश्यकता

के अतिरिक्त उनके प्रेरक भाव का सुख, रचना की प्रक्रिया में खोकर सब कुछ से मुक्त हो जाने का आनंद है।’

दिनकर जीवनपर्यन्त संघर्षशील और क्रियाशील बने रहें। क्रियाशील और संघर्षशील आदमी जीवन से कभी निराश और उदासीन नहीं हो सकता। यही कारण है कि संघर्षशील दिनकर अपने जीवन के किसी भी प्रसंग को सर्वाधि क करुण मानने से इंकार करते हैं। अपनी जीवन-यात्रा के प्रसंग में दिनकर अपनी निर्धनता को याद करते हैं। उनकी जीवन-यात्रा कीचड़, खड्ड, कंकड़, कानन और रेगिस्तान से निकल कर रेशमी नगर तक पहुँची थी।

जीवन में लोग धन और यश की कामना करते हैं। इन्हें चीजों की प्राप्ति में आदमी अहर्निश अपने-अपने स्तर पर क्रियाशील और प्रयासरत भी रहता है। दिनकर ने अपने परिश्रम और लगन से धन और यश दोनों की प्राप्ति की थी किन्तु उन्हें भी पूर्ण संतोष नहीं मिल सका था। इसी असंतुष्टि की भावना एवं और अधिक की कामना ने दिनकर को जीवन भर संघर्षशील पथिक बनाये रखा। लेखन और काव्य के क्षेत्र में गहरी आस्था के कारण ही उनकी लेखनी ने कभी विश्राम नहीं पाया। आत्माभिव्यक्ति की आकुलता और अदम्य इच्छा के कारण ही वे अपने लेखन-प्रभा मंडल से अभिभूत नहीं रह सके। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि पहले उन्हें ‘रसवंती’ से संतोष मिला था, फिर ‘कुरुक्षेत्र’ और ‘रश्मि रथी’ से किन्तु ‘उर्वशी’ के प्रकाशित होते-होते वे असंतुष्ट हो गए थे। इस असंतोष में दिनकर के कवि में शेष काव्य ऊर्जा की झलक मिलती है जो निस्सीम निराकार से खींचकर अपने काव्य-जगत् को और अधिक समृद्ध और यशस्वी बनाने की कामना से ओत-प्रोत है। जब आदमी अपने असंतोष को रचनात्मक दिशा और दशा प्रदान करता है तभी चमत्कार का सृजन और प्रकटीकरण होता है।

तुलसी की भक्ति सरलता की मंदाकिनी है जहाँ आम जन आनंद और संतोष की डुबकी लगाते थकते नहीं हैं। इसी असंतुष्टि से उपजी नई ऊर्जा से ओत-प्रोत दिनकर का कवि मन कवि नहीं रहकर गद्य की नई जमीन भी तलाशता है। दिनकर हिन्दी भाषा प्रचार के अथक और अग्रणी प्रचारक थे। प्रचार कार्य के कारण अहिन्दी भाषी क्षेत्रों का वे सघन दौरा करते थे। एक बार दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के दीक्षान्त समारोह में दिनकर ने कहा था कि ‘हिन्दी केवल हिन्दुत्व की ही नहीं, इस्लाम और सिक्ख धर्म की भी

भाषा है। हिन्दी केवल वैदिक या वर्णाश्रम-धर्म की रूढ़ियों का पिष्ट-पेषण नहीं करती, वह उनके विरुद्ध क्रांति की भी शिक्षा देती है। वह केवल आगम धर्म तक ही सीमित नहीं है बल्कि निगम धर्म का भी आख्यान उसने बड़ी ही निर्भयता से किया है।’

संत-साहित्य पर दिनकर का उद्गार द्रष्टव्य है हिन्दी का संत-साहित्य उस क्रांति का साहित्य है जिसका प्रवर्तन बुद्ध ने किया था। यह साहित्य आदमी की ऊँचाई की जाँच उसके जन्म से नहीं, कर्म से करता है। यह साहित्य अस्पृश्यता का विरोधी और जाति-अहंकार का कट्टर शत्रु है। यह साहित्य बैठकर खाने वालों का मजाक उड़ाता है और इज्जत उसकी करता है जिसके हाथों में मेहनत के घट्टे या निशान हैं। संत-साहित्य उस मानव समाज की भूमिका तैयार करता है जिसकी कल्पना गांधी जी ने की थी: ऐसा समाज जिसमें शोषण नहीं है, धन की पूजा नहीं है, धर्म का आडम्बर नहीं है, अस्पृश्यता नहीं है, जिस समाज में स्त्री और शूद्र दबाकर नहीं रखे जाते हैं और न ही कोई व्यक्ति इसलिए अहंकार करता हो कि उसका जन्म ऊँचे या धनी खानदान में हुआ है।

दिनकर खुले दिल-दिमाग वाले चिंतक थे। हिन्दी के हितैषी और अथक प्रचारक होते हुए भी उनका दृष्टिकोण उदार और समन्वयकारी था। उनका भाषाई उदार दृष्टिकोण इस वक्तव्य में परिलक्षित होता है: ‘बुरे अगर होते हैं तो उनके बोलने वाले लोग होते हैं।’

हिन्दी पर साम्प्रदायिक भाषा होने का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप को निराधार घोषित करते हुए दिनकर का कहना है कि ‘हिन्दी तोड़ने वाली भाषा नहीं, जोड़ने वाली भाषा है। आज वह अग्नि परीक्षा के भीतर से गुजर रही है किन्तु मेरा विश्वास है कि इस अग्नि परीक्षा से वह सही सलामत बाहर आयेगी और देश ने जिस आशा से उसे अपनी राष्ट्रभाषा का पद दिया है उस आशा को वह पूर्ण करेगी।’ दशकों के बाद भी हिन्दी सेवक का विश्वास क्या चरितार्थ हो सका है? राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत दिनकर अंतरराष्ट्रीय जगत् की सच्चाइयों को खुली आँखों से देखते और स्वीकार करते हैं। दिनकर एकता की दृष्टि से अंग्रेजी के महत्व को स्वीकार करते थे। किन्तु उनका यह भी कहना था कि यह एकता सीमित-सी है। व्यापक एकता के लिए जिस प्रकार हिन्दी अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में पहुँच रही है उसी प्रकार अन्य भाषाओं को भी

हिन्दी भाषी भू-भाग में पहुँचना चाहिए। दिनकर वास्तव में भारतीय भाषाओं के समागम में हिन्दी भाषा का ही संवर्द्धन और स्वीकार्यता की संकल्पना करते थे।

एक बार लेखक मंडल के सदस्यों से दिनकर ने कहा था कि विदेशी लेखक अपने कार्य में पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। उन्हें राजनीतिज्ञों से बढ़कर सम्मान मिलता है। आगे उन्होंने लेखकों के सुखद भविष्य की कल्पना करते हुए कहा था कि वह दिन दूर नहीं जब भारत में भी साहित्यकारों का सम्मान बढ़ेगा और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ या शासक को भी हफ्तों पहले समय निर्धारित करारकर साहित्यकारों से भेंट करनी होगी। उन्होंने उम्मीद जतायी थी कि सौ-डेढ़ सौ वर्षों के भीतर साहित्यकारों का रोब बढ़ जायेगा और राजनीति की गर्मी ठंडी हो जायेगी।

दिनकर के ये विचार अभी तक कामना के स्तर तक ही सीमित हैं। गरीबी, अशिक्षा और भ्रष्टाचार के वातावरण में ही राजनीति और राजनीति के खिलाड़ियों की धाक रहती है। दिनकर की उपरोक्त कामना स्वच्छ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में ही फलितार्थ हो सकती है। एक अन्य दीक्षान्त समारोह में भाषण देते हुए उन्होंने नारियों के सम्मान में दरिया साहब के दोहे को उद्धृत किया था :

नारी जननी जगत की, पाल-पोस दे तोष,
मूरख राम बिसारि के, ताहि लगावै दोष।

नारी सशक्तीकरण वर्ष के अवसर पर दिनकर की दशकों पूर्व नारी संबंधित उक्ति का स्मरण करना समीचीन होगा :

‘सभी देशों में वहाँ के शील और संस्कृति की रक्षा नारी समाज करता है। भारत में भी भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति की रक्षा का दायित्व हमारे नारी समाज पर है’ इस कथन में दिनकर के ऐतिहासिकता बोध और भविष्य द्रष्टा होने की पहचान मिलती है। रामधारी सिंह दिनकर बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनके विशाल और गंभीर व्यक्तित्व की छाप उनके काव्यजगत और गद्य-लेखन पर साफ-साफ दृष्टिगोचर होती है। राज्यसभा के सदस्य के रूप में दिये गये उनके भाषणों में उनकी हिन्दी के प्रति प्रतिबद्धता प्रतिबिंबित होती है। इसी निर्भीक और ईमानदार प्रतिबद्धता के कारण दिनकर को हिन्दी के पेनेरिक के रूप में दुष्प्रचारित किया गया जिसके कारण उन्हें नेहरू मंत्रिमंडल में जगह नहीं मिली।

महत्त्व : रामधारी सिंह ‘दिनकर’
समर शेष है...

दिनकर चीनी आक्रमण से मानसिक रूप से खिन्न और आक्रांत हो गये थे। आक्रमण काल में लगभग रोज एक कविता लिखकर वे अपना भय निकाल कर प्रकारांतर से जनता का साहस भी बढ़ाते थे। दिनकर चीनी युद्ध के समय विचलित महसूस करते थे। और इसी अवस्था में उन्हें अनुभव हुआ था कि ‘रक्त-स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि-स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिन्दा किया जा सकता है, जो पार्सल से आया है।’ विपत्ति के अंधेरे में इस रोशनी को देखना, दुर्बलता में सबलता के दर्शन करना दिनकर के अखंड आत्मविश्वास और इस्पाती चरित्र को ही दर्शाता है।

चीनी युद्ध में घायल नौजवानों से भेंट करने के बाद दिनकर के भीतर सरकार और सरकार की व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश उभर आया था। आक्रोश की मुद्रा में ही उन्होने ‘लोहे के मर्द’ नामक कविता लिखी थी -

पुरुष वीर बलवान
देश की शान
हमारे नौजवान
घायल होकर आये हैं।

चीनी आक्रमण से जनता जगह-जगह खौल रही थी। पंडित नेहरू राष्ट्र के इस रौद्र रूप से अत्यंत दुःखी हो गये थे। इस कारण वे इस आशय का विचार प्रकट करने लगे थे- ‘अभी भी मैं देश के पाश्चीकरण को पसंद नहीं कर सकता।’ नेहरू ने संसद में इस आशय की घोषणा भी कर दी थी। किंतु दिनकर उनकी उस घोषणा से विक्षुब्ध हो गये थे। कांग्रेस के राज्यसभा सांसद हाने के बाद भी विक्षुब्ध दिनकर का निर्भीक कवि तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू की अहिंसावादी नीति का विरोध करने से नहीं चूकता है। उन्होंने दो कविताएँ ‘आज कसौटी पर गांधी की आग’ और ‘अहिंसावादी का युद्ध गीत’ लिखीं। इन कविताओं में उन्होंने पंडित जी की नीति का खुलकर विरोध किया था। उन्होंने लिखा था :

अब भी पशु मत बनो, कहा है वीर जवाहर लाल ने।
पर यह सुधा-तरंग कौन पीने देता है।
बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है।

दिनकर ने देशवासियों को जगाते हुए कहा था-

देशवासी। जागो। जागो।

गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।

अपनी निर्भीकता और दिलेरी के कारण दिनकर को ईर्ष्या से भी दो-चार होना पड़ा था। दरबार में भी उनके खिलाफ बात पहुँचायी जा रही थी। किन्तु सत्य बोलने की कीमत चुकाने को भी वे तैयार हो गये थे। इस प्रकार दिनकर अपनी आस्था और विश्वास के प्रति सत्याग्रही भी थे। खुलकर अपने मन की बातों को प्रधानमंत्री के सामने बोलने का साहस किसी आत्मसम्मानी व्यक्ति का ही हो सकता है, ठकुरसुहातियों का कदापि नहीं। देश की चिंता के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देने वाला व्यक्ति ही अपने विश्वास और आस्था को मुखर आवाज दे सकता है। यही गुण साहित्याकाश में रामधारी सिंह को दिनकर के रूप में प्रतिष्ठापित करता है।

एक दूसरी कविता में दिनकर ने भाई-भतीजावाद यानी गोत्रवाद पर आक्रमण किया है, जो देश में प्रतिभा की राह रोक रही है और जिसका जहर बिहार में कुछ ज्यादा ही महसूस किया जाता था। देशसेवा और देशभक्ति की कीमत पर दिनकर को अन्य दायित्वों की चिंता नहीं रही और विशुद्ध साहित्यकार के रूप में वे अपनी लेखनी चलाते रहे।

सरल व बोधगम्य अभिव्यक्ति का मार्ग

सुशील कुमार

हिन्दी साहित्य में रामधारी सिंह 'दिनकर' का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब छायावाद ढलान पर था। बीसवीं सदी का तीसरा दशक, सन् 1928-29 का समय। पराधीन देश को जीवन, जागरण, प्रेरणा और अदम्य संघर्ष-शक्ति की जरूरत थी। लिहाजा साहित्य में यह काल सुकोमल, अमूर्त या वायवीय विषय-वस्तुओं पर रचना का नहीं, स्वाधीनता का भाव जगाने वाली; पराधीनता, शोषण-उत्पीड़न और उपनिवेशवाद के विरोध में मुखर होकर अपनी बात कहने वाली रचना का था। पर यह सब इतना आसान नहीं था। वैचारिक सूत्रों को व्यक्त करने वाली भाषा-शैली भी चाहिए थी और दिल में गुलामी से लड़ने की आग, तभी मुक्ति के स्वर का बिगुल फूँकना संभव था।

सामने की दुनिया से असंतुष्ट होकर अधिकांश कवि रोमांसवाद की पलायनवादी प्रेरणाओं से एकात्म हो रहे थे। या तो वे दुर्दिन से दुःखी होकर अंतर्मुखी हो जाना चाहते थे या फिर सृजन सुख की खोज में मुर्दा इतिहास में वापस लौट आना चाहते थे। इस कठिन समय में आधुनिक हिन्दी कविता को एक ऐसे कवि की जरूरत थी जो ओजमयी ऋजु भाषा-शिल्प में जन-गण के मन को मथ कर उनमें स्वतंत्रता का भाव भर सके, दासता की नींद में ऊँघती लोक-चेतना को जगाकर उसे 'करने-मरने' को उद्वेलित कर सके, जिसका श्रेय मुख्य रूप से कवि दिनकर जी को जाता है जिनकी सशक्त लेखनी ने अपनी तेजोमय आह्वान-शक्ति से जनता को ललकार कर विद्रोही स्वर में पराधीन भारत की मुक्ति के गीत गाये।

कलावादियों को यह बात तब भी नहीं पचती थी और अब भी नहीं। इनका विचार है कि कविताओं से इतर काम नहीं लिया जाना चाहिए। इस तरह की

कविताएँ मानव-मन पर डोरे डालने का काम करती हैं जो कि कवियों का काम नहीं। लेकिन जैसा कि दिनकर जी ने कहा है, 'मेरी दृढ़ धारणा है कि शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है' तब कविता के सामाजिक कर्म पर चीखें-चिल्लाहटें क्यों? एक उदाहरण इसे और स्पष्ट करता है- जहाँ पेड़ और नदी हैं, वहाँ वे प्रकृति में सिर्फ अपनी छटाएँ ही नहीं बिखेरेंगे, पेड़ फल-फूल और छाया देंगे, नदी जल और नमी देगी। मात्र मानसिक आह्लाद ही नहीं, शरीर की थकान और भूख-प्यास भी मिटायेंगे। यह उनका स्वाभाविक गुण है। उसी प्रकार कविता की सहज प्रकृति मात्र हृदय को पूरा करना ही नहीं, एक पूरा आदमी भी गढ़ना है, बनाना है जो कविता का इतर कार्य समझना भारी भूल होगी। मगर जहाँ-जहाँ ऐसे रीतिवादी-कलावादी विचारक-कवि हैं, आज पृथक गुट का सृजन कर साहित्य में गुटबाजी को जन्म दे रहे हैं। ये शब्दों के संसार में रहकर शब्दों से खेलते हैं, आमजन की सच्चाइयों से इनका दूर तक वास्ता नहीं, सुविधाओं की लालच इन्हें महानगरों में खींच लाता है, इनका व्यक्तित्व इकहरा नहीं, और कृतित्व मानसिक भूख से उपजी शब्दों के भ्रमजाल भर। न कभी ये सामाजिक संचेतना और जनसरोकार के कवि रहे। ऐसे लोग तरह-तरह का तिकड़म कर दिनकर जैसे अपने ढंग के अनूठे और लगनशील कवि को, जो सदैव मुक्ति के गायक और राष्ट्रीय चेतना के समर्पित कवि रहे, भुला देना चाहते हैं। किन्तु तिकड़मी लोग धीरे-धीरे खुद हाशिये पर चले जाते हैं, इतिहास गवाह है।

दिनकर की कविताओं में कहीं भावनाओं के उदग्र स्वर, तो कहीं भावप्रवण, स्निग्ध और कोमल धारा देखकर कुछ लोगों को दिनकर के छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी होने का भरम होता है। परन्तु सच्चाई है कि दिनकर साहित्य में किसी वाद-विशेष को लेकर कभी चले नहीं। आजीवन अपनी अनुभूति के प्रबल आवेग को स्वच्छंद अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया। तत्कालीन काव्य प्रवृत्तियाँ छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद साहित्य के किसी भी खांचे में वे समा नहीं सके।

इनकी कविताओं में एक ओर प्रेमजनित भावपूर्ण अनुभूतियों का गहरा वेग है तो दूसरी ओर दासता से मुक्ति का विद्रोही स्वर और सामाजिक कुरीतियों-विषमताओं के विरोध का कड़ा तेवर। दोनों ही दिनकर के काव्य की उपलब्धियाँ मानी गयी हैं क्योंकि राष्ट्रीय-सामाजिक धारा ने उन्हें

राष्ट्रकवि का दर्जा दिलाया तो सौम्य-गंभीर चिन्तन, भावात्मक प्रकृति और गीतात्मक भाषा-शिल्प से निःसृत वैयक्तिक भावधारा ने सम्माननीय ज्ञानपीठ से नवाजा। देखने वाली बात है कि उनके काव्य में उपर्युक्त दोनों विपरीत ध्रुवों की प्रवृत्तियाँ बारंबार दृष्टिगोचर हुई हैं, जिस कारण उनका काव्य जीवन आदि से अंत तक द्वंद्वों से जूझते रहने की मनोहारी कथा है। इस सहज किन्तु दुर्लभ प्रकृति के कारण उनके काव्य को 'दहकते अंगारों पर इन्द्रधनुषों की क्रीड़ा' कहा गया।

उनके काव्य-जीवन का यह द्वंद्व आज भी उतना ही समकालिक और प्रासंगिक है। कविताएँ आज छंदों के बंधन से भले ही मुक्त हो गयी हों पर द्वंद्व पहले से भी अधिक परिमाण में मौजूद है जो कविता के भीतर तनाव या घिराव का वातावरण सिरजता है। मुक्तिबोध ने भी 'नई कविता के आत्मसंघर्ष' में उल्लेख किया है कि आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वंद्व को समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढ़ाएँ।

द्वंद्व दिनकर के काव्य जीवन के पग-पग में घटित है, लक्षित है, या कहें कि उनकी भावना और चिंतन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। यह द्वंद्व ही रचना में भावों का गुंफन पैदा करता है, विषय-वस्तु के प्रत्येक क्षेत्र में भरमाता है और बेचैन करता है। दिनकर का कवि इस गंभीर संकट से जूझता है, उबरता है जिसमें उनकी काव्य साधना द्वंद्व की चुनौतियों को स्वीकारती हुई समाधान का पथ भी प्रस्तुत करती है।

'कुरुक्षेत्र' (1946) एक सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति है द्वंद्व की, जो युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा, प्रवृत्ति और निवृत्ति की जीवन-शैली तथा विज्ञान और आत्मज्ञान की परिणति में निहित है। उसके पूर्व 'द्वंद्वगीत' (1940) तो नाम से ही स्पष्ट है। 'उर्वशी' (1961) तो अप्सरा और लक्ष्मी, संशय-युक्त मानव और संशय रहित देवता एवं काम और अध्यात्म के द्वंद्वों की गाथा है।

स्वातंत्र्य भावना के कवि दिनकर: वैसे तो स्वच्छंदतावादी कवियों के यहाँ स्वातंत्र्य भावना साहित्य का प्रमुख तत्व है किन्तु दिनकर के काव्य में इसका फैलाव राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैयक्तिक, साहित्यिक यानी हर स्तर पर देखा जा सकता है क्योंकि पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी जनता की दैन्य दशा से दिनकर की आत्मा अत्यंत क्षुब्ध थी। 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवंती' से

‘कुरुक्षेत्र’, ‘सामधेनी’, ‘इतिहास के आंसू’ होते हुए ‘धूप और धुआ’, ‘रश्मि रथी’, ‘नीम के पत्ते’ ‘नील कुसुम’ और फिर ‘नये सुभाषित’ ‘उर्वशी’ और ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ तक-सभी काव्य कृतियों में किसी न किसी रूप में स्वाधीनता की पुकार सुनायी देती है। यहाँ सिर्फ राजनीतिक जागरण की ही बातें नहीं हैं, स्वतंत्रता की व्यापक अर्थ में चर्चा हुई है। वर्ण-जाति के बंधनों की स्वतंत्रता से लेकर नारी मुक्ति तक, धार्मिक पाखंड और आडम्बर से भी स्वतंत्रता तक के नगाड़े बजते हुए सुने जाते हैं। नीचे कुछ उदाहरणों से यह स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा-

1. राजनीतिक स्वतंत्रता :

सावधान जन्मभूमि किसी का चारागाह नहीं है,
घास यहाँ की पहुँच पेट में काँटा बन जाती है।

-(नीम के पत्ते)

2. शोषण से स्वतंत्रता :

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।

-(हुंकार)

3. वर्ण और जाति से स्वतंत्रता :

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं,
जागो विप्लव के वाक्, दंभियों के इन अत्याचारों से,
जागो हे, जागो तप निधान! दलितों के हाहाकारों से।

-(रेणुका)

4. स्त्री-मुक्ति :

भागि थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से
उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी,
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।

-(रश्मि रथी)

5. वैयक्तिक स्वतंत्रता :

भय से मुक्ति न मिली, मुक्ति का मोल रहा क्या?

अभय कौन, नर को नर से ही त्रास अगर।

-(नीलकुसुम)

6. धार्मिक स्वतंत्रता :

आरती लिये तू किसे ढूँढता है मूरख;
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी तोड़ रहे हैं,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

-(नीलकुसुम)

7. भाग्यवादी विचारों से मुक्ति :

महाराज उद्यम से विधि का अंक उलट जाता है,
किस्मत का पासा पौरुष से हार पलट जाता है।

-(रश्मि रथी)

समय के साथ काव्य के प्रतिमान बदलते रहे हैं। आधुनिक कवियों ने महसूस किया कि काव्य का पुरातन यौगिक, रूढ़ और जटिल शिल्प जीवन के मूल्य और बदलते सत्य को शब्दशः रखने में असमर्थ होने लगे हैं। जनमन में व्याप्त कुंठा और संत्रास की भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति नहीं पा रही थीं। इनके शिल्पगत मूल्यों के संबंध में दिनकर जी का स्वानुभूत सत्य उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है :

‘मुझे अपने ही कृत प्रयोग से यह भासित हो गया है कि कविता की प्रचलित शैली अपूर्ण होने लगी है और यहाँ से काव्य का मार्ग वे प्रशस्त करेंगे जिन पर परंपरा का बंधन उतना कड़ा नहीं जितना कि हम लोगों पर है।’

स्पष्ट है कि वे साहित्य के आभिजात्य से मुक्ति के पक्षधर थे। कहना न होगा कि स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह दिनकर जी ने काव्य के साधना पक्ष अर्थात् शिल्प के कठोर नियमों के प्रति विद्रोह करते हुए अनुभूति के अनुकूल शिल्प की योजना की। दिनकर मानते हैं कि ‘कविता भाव समूह का आन्दोलन है एवं कविता लिखने का अर्थ एक ऐसी भाषा तैयार करना है जो सभी संवेदनाओं, सभी रंगों, सभी गंधों और सभी स्वरों को अभिव्यक्ति दे सके। कविता का जन्म अनुकरण से नहीं वरन् उसका जन्म मानव मन की उस गहराई में होता है, जो स्वभाव से ही अविधेय है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त शब्दों में सनसनाहट होती है, खुशबू होती है,

ध्वनि और रंग होता है।’

इन सभी तथ्यों का आत्मा की गहराई तक अनुभव करने के कारण दिनकर मानते हैं कि ‘काव्यात्मक सत्य तक जाने का अभिनव मार्ग ऊँचा और खतरनाक है। उस पर चलने के लिए शृंखला, परंपरा, उदाहरण, रिवाज, जंजीर और नियमों का उल्लंघन आवश्यक होता है।’

परंपरा से चले आ रहे छंदों को भी दिनकर अनुपयुक्त मानते हैं। सायास छंद योजना की अपेक्षा भावानुकूल छंद योजना दिनकर को प्रिय है। इसी कारण परंपरा-प्राप्त छंदों के स्थान पर नये छंदों के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हुए वे लिखते हैं कि- ‘अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियों को बाहर निकाल सकेंगे जिसमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिन्तन के उपयुक्त होंगे। क्योंकि हमारी मनोदशाएँ परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नहीं कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे हैं।’

दिनकर जी के उक्त मंतव्य से यह स्पष्ट होता है कि वे परंपरागत छंदों से स्वतंत्रता की बात कर रहे हैं किन्तु भावानुकूल छंदों के प्रति उनके हृदय में मोह और आकर्षण विद्यमान है, क्योंकि वे मानते हैं कि ‘कविता के नये माध्यम, यानी नये ढाँचे और नये छंद कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युगमानस की जड़ता टूटती है, उनसे यह आभास मिलता है कि काव्याकाश में नया नक्षत्र उदित हो रहा है। जब कविता पुराने छंदों की भूमि से निकलकर नये छंदों के भीतर पाँव धरती है, तभी यह अनुभूति जगने लगती है कि कविता वहीं तक सीमित नहीं है जहाँ तक हम उसे समझते आये हैं बल्कि और भी नयी भूमियाँ हैं, जहाँ कवि के चरण पड़ सकते हैं। नये छंदों से नयी भावदशा पकड़ी जाती है। नये छंदों से नयी आयु प्राप्त होती है।’

हिन्दी साहित्य की इस कलात्मक आजादी के संबंध में दिनकर जी का कहना है कि ‘शुद्ध कलावादियों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रीतिकाल के बाद की हिन्दी कविता कला की पराजय और जीवन की विजय की कविता थी।’

दिनकर की साहित्यिक स्वातंत्र्य संबंधी मान्यताएँ उनके काव्य में पूर्ण रूप से फलीभूत हुई हैं। काव्य रूप के स्वातंत्र्य के लिए उनके काव्य ‘उर्वशी’ एवं कुरुक्षेत्र’ को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इनका कलेवर

प्राचीन शास्त्रीय नियमों में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दिनकर ने साहित्यिक-स्वातंत्र्य के लिए दृढ़तापूर्वक अपने विचारों को प्रस्तुत किया है एवं काव्य में उन्हें समय के अनुसार व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। दिनकर के समग्र किये-धरे में अनुभूति की तीव्रता और गहराई ही छंद, अलंकार और शैली का स्वरूप निधरित करती है। उनके काव्य में यह भाषागत लोच सायास नहीं है और काव्य की रूपयोजना भी परंपरा-समर्थित न होकर विषयानुकूल और सहज है।

यह साफ है कि दिनकर की काव्यधारा दिनकर के कवि को किसी भी साहित्यिक वाद-विशेष में उलझाती नहीं, बल्कि साहित्य के क्लासिक बंधन से ऊपर उठकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढती है जो सरल व बोधगम्य है। अतएव उन्हें साहित्य के आभिजात्य से मुक्ति की परंपरा की एक प्रमुख कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। इसलिए कविता आज छंद से छूट कर अपने लयात्मक गति और द्वंद्व के साथ जिस रूप में समय के सच को अभिव्यक्त कर रही है, उसके आन्दोलन में दिनकर जी की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आज की कविता रूढ़ि और परंपरा से पूर्णतया मुक्त है। इसमें किसी कवि-विशेष का अवदान नहीं, अतएव कविता को इस भावभूमि तक लाने का श्रेय अन्य कवियों के साथ ही रामधारी सिंह ‘दिनकर’ का भी है जिन्होंने अपने समय को तो शब्द दिये ही, आने वाले समय की कविता के लिए एक पृष्ठभूमि भी तैयार की।

शांति व मानवता के पुजारी दिनकर

पी. के. चतुर्वेदी

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की साहित्य साधना छोटी उम्र से ही प्रारंभ हो गई थी। उन्होंने अपने लंबे साहित्यिक जीवन में काव्य, गद्य, निबन्ध व व्यंग्य रचनाएँ रचीं। उनका रचना काल हिन्दी साहित्य के छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, साठोत्तरी कविता व अतुकांत रचना काल तक अत्यंत विस्तृत रूप में फैला।

भारतीय इतिहास व विश्व इतिहास का वह युग जिसमें इस साहित्यकार ने साहित्य को समृद्ध किया, सर्वाधिक घटना वाला काल रहा है। एक ओर भारत की पराधीनता, गांधी जी का अहिंसक व क्रांतिकारियों का हिंसक आन्दोलन, स्वतंत्रता की प्राप्ति, लोकतंत्र का विकास, फिर चीनी आक्रमण, राजनीतिज्ञों और नौकरशाही का भ्रष्टाचार और निकम्मापन तथा नष्ट होती व्यवस्था कवि ने देखी और अनुभव की। दूसरी ओर दो-दो विश्व युद्ध, परमाणु बम से विनाश, लीग ऑफ नेशन्स की विफलता, उग्र राष्ट्रवाद व नाजीवाद के सहारे स्वयं की जातीय श्रेष्ठता और दूसरों के प्रति विद्वेष की भावना, व्यक्ति की समानता व स्वतंत्रता का गला घोंटा जाना, फिर अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का उदय कवि ने देखा। यद्यपि इन सबका उनकी रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव दिखता है लेकिन उन्होंने इन सबके बीच पीड़ित मानवता व शांति की तलाश में भटक रहे हिंसक मानव की सिसकियों को सुना और अनुभव किया। परिणामस्वरूप वे शांति व मानवता के पुजारी बन गए और उनकी प्रत्येक रचना में मानवता व शांति के संदेश की गूँज स्पष्ट सुनाई देती है। राष्ट्रकवि व राष्ट्रधर्म के रूप में वीर रस की रचना करने वाले कवि के रूप में उनका उल्लेख अब तक किया जाता रहा है लेकिन उनका मूल्यांकन

वास्तव में आधा-अधूरा है। वे वास्तव में शांति, प्रेम, करुणा व मानवता के कवि थे। वे राष्ट्रकवि ही नहीं थे बल्कि एक ऐसे कवि थे जिन्होंने सदैव मानव मात्र के कल्याण की कामना की। उन्होंने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है: मेरा मन भी चाहता था कि मैं गर्जन-तर्जन से दूर रहकर कल्पना व कोमलता से परिपूर्ण कविताएँ लिख सकूँ... राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने तो बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया।

नाजीवाद की उग्र जातीय व राष्ट्रीय भावना के दुष्ट प्रयास से होने वाले महाविनाश और वैयक्तिक स्वतंत्रता व समानता के गौण हो जाने से कवि ने ऐसे राष्ट्रवाद की तुलना पशुता से की है: और आपको विदित नहीं क्या! राष्ट्रवाद यह कैसे विश्व मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है। कारण ऐसा राष्ट्रवाद उपयोगी भाव नहीं पशुता है। विश्वपुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जन्मेगा...(कोयला व कवित्व)! स्पष्ट है कवि के अनुसार आंतरिक व स्व-व्यवहार के लिए तो राष्ट्रबोध अपेक्षित है, लेकिन जहाँ समग्र मानवता का प्रश्न है, ऐसा राष्ट्रवाद अमानवीयता ही है। परमाणु बम का महाविनाश व जाति की श्रेष्ठता के लिए हिंसा का खुला ताण्डव देखने के पश्चात कवि ने यह अनुभव किया कि मानवता का कल्याण, समूह भावना विकसित करने में ही है। मानव मात्र के कल्याण के लिए गीता में दर्शाए गए भारतीय जीवन दर्शन 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवम जन्म...' को अंगीकार करने के लिए कवि कहता है: जीवन ही कल मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नवजीवन ...(द्वंद्वगीत)।

जीवन व मृत्यु की इस निश्चितता को महसूस करते हुए कवि विश्व-बंधुत्व की कल्पना में खो जाता है, जहाँ सभी एक दूसरे की समानता व स्वतंत्रता का सम्मान करते हुए जीवनयापन व विकास कर सकेंगे। इस विश्व-बंधुत्व के लिए कवि उस सर्वशक्तिमान प्रभु से प्रार्थना करता है-

समय की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान;
धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा विश्व में भगवान।

क्या 'कुरुक्षेत्र' के इस प्रश्न का कोई जवाब है कि दिनकरजी की मूल भावना शांति व विश्व-बंधुत्व की क्यों थी? वे क्यों शांति व प्रेम के पुजारी बने? क्योंकि जहाँ शांति है; वहाँ प्रेम है, वहाँ मानवता है; जहाँ मानवता है,

वहाँ हिंसा व स्वार्थ के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वहाँ मानव शांति व प्रेम से रहकर स्वयं का, मानव मात्र का विकास कर सकता है।

लेकिन क्या शांति का पुजारी कोई निकम्मा व्यक्ति हो सकता है? क्या भाग्यवादी कभी मानव का कल्याण कर सकता है? कवि का उत्तर 'नहीं' में है। वे मूलतः कर्मवादी हैं। उनका कथन है: 'जीवन के प्रति मेरा एक ही दृष्टिकोण है, खूब काम करो'। जब तक शेष पंथ, तब तक विश्राम नहीं, उद्धार नहीं (द्वंद्वगीत)। अतः शांति से रहकर ही मनुष्य अपने कर्म पथ पर आगे बढ़ता रह सकता है। कवि का संदेश है कि कर्मवादी कौन हो सकता है, परिश्रम कौन कर सकता है। वही जो अपने आत्म विश्वास व पौरुष से परिपूर्ण है। जिसमें स्व-विश्वास है, वही स्वार्थ का त्याग कर सकता है। यह त्याग व बलिदान स्वयं, समाज, राष्ट्र या मानव मात्र के कल्याण, निर्माण व विकास के लिए हो सकता है। कवि कहता है-

चाहिए उर साथ जीवन दान भी,
प्रेम की टीका सरल बलिदान ही,
प्रेम रस पीकर किया जाता नहीं,
प्यार भी जीकर किया जाता नहीं।

-(रेणुका)

अतः कवि की प्रेम व त्याग की भावना कोमलता व मांसलता में सन्निहित न होकर, निरंतर त्याग की भावना से ओत-प्रोत है। यह त्याग ही है जो मानव मन से स्वार्थ-लोलुपता व हिंसा का समूल नाश कर देता है। कवि ने यह त्याग की भावना मूल रूप से भारतीय दर्शन व इतिहास से ही पायी थी जहाँ स्वयं भगवान ने गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है :

अभ्यास पथ से योग उत्तम, योग से गुरु ध्यान है।
फिर ध्यान से है त्याग उत्तम, त्याग शांति प्रधान है।

इस प्रकार शांति व प्रेम का पुजारी यह कवि अपनी रचनाओं से मनुष्य को भोगवाद से दूर ले जाना चाहता है। यहाँ तक कि 'उर्वशी', जो उदात्त प्रेम व काम का ग्रंथ माना जाता है, के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि उर्वशी जहाँ उदात्त प्रेम की प्रतीक है, वहीं पुरुरवा आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक। कवि ने दोनों का सुंदर समन्वय कर प्रेम को पूर्णता प्रदान की है क्योंकि प्रेम के स्पर्श मात्र से मनुष्य में देवत्व के दर्शन होते हैं :

प्रेम क्या है क्षीर का निर्झर कि जब वह फूटता है,
हृदय नर का संत की आवाज हो जाता है

-(सीपी और शंख)

शांति व प्रेम के आजीवन पुजारी रहे कवि ने जब देखा कि मनुष्य दैहिक सुख व भोग विलास की ओर पुनः बढ़ रहा है, जनप्रतिनिधि भ्रष्टाचार में आकंठ डूबने लगे हैं, गांधी की टोपी व कुरता जन-प्रतिनिधियों की पहचान बने रहे हैं तब उन्होंने सभी को सत्य बोलने, छल-प्रपंच से दूर रहकर चाटुकारिता से बचने का संदेश दिया है। क्योंकि यही वे अवगुण हैं जो समाज व राष्ट्र को नीचा दिखाकर पतन व हिंसा की ओर ले जाते हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में वे कहते हैं :

जो सत्य जानकर भी न सत्य कहता है,
जो किसी लोभ के विवश मूर्ख रहता है,
वह मूक सत्य हंता कम नहीं, अधिक है,
जो छल प्रपंच सबको प्रश्रय देते हैं,
या चाटुकार जन से सेवा लेते हैं,
यह पाप उन्हीं का हमको मार रहा है
भारत अपने घर में ही हार रहा है।

यह महान साहित्यकार एक ऐसे मनीषी के रूप में आजीवन अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य मात्र को प्रेम व शांति का संदेश देता रहा जिनको मान्य करने पर समाज, राष्ट्र व विश्व का कल्याण हो सकता है। उनका संपूर्ण साहित्य न केवल राष्ट्र, वरन् मानव मात्र की अमूल्य धरोहर है।

दिनकर की काव्य-चेतना

राहुल

क्रान्ति-चेतना के प्रखर प्रणेता, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य-सृजन छायावाद के उत्तरार्द्ध से नयी कविता के प्रौढ़-काल तक फैला है। 'दिनकर छायावाद के उत्थान और उसकी शक्तियों एवं दुर्बलताओं के प्रति बौद्धिक रूप से जागरूक थे। पर उनकी समाज-सापेक्ष दुर्बलताओं के दबाव के कारण लेखक जैसे भूल-सुधार के लिए आतुर हो जाता है। युग के वास्तविक संघर्ष का दबाव दिनकर स्वयं स्वीकार करते हैं और यह भी, कि राष्ट्रीयता उनके ऊपर अध्यारोपित है।' (राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी। उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया, ... अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़के की आवाज आती, फाँसी पर झूलने वाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार आती...। 'चक्रवाल' की भूमिका)

छायावादी युग के पश्चात यथार्थ अर्थों में आधुनिकता का उदय होता है। अतः आधुनिक भाव-बोध और रोमांटिक भाव-बोध में एक मौलिक अन्तर के बावजूद दिनकर के काव्य में युग परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होने लगा था। इतनी तीव्रता से बदलते समय और उसके अनुभव के लिए जागृत सचेतन आवश्यक है। दिनकर का कवि अतीतोन्मुख है। आधुनिकता उसके सचेतन की तीव्रता है। वर्तमान के बोध और चिंतन के आधार पर आधुनिक कवि भविष्य की रेखाएँ सँजोता है। असन्तोष और दुर्बलताओं के प्रति सजग कवि संवेदनशील रोमांटिक हो विद्रोह पर उतर आता है। उनकी कविता में सामाजिक दायित्व की दृढ़ और स्पष्ट स्वीकृति देखने को मिलती है।

इससे सिद्ध होता है कि कवि का काव्य-संसार कल्पना की कोरी उड़ान

नहीं; एक ठोस जमीन है, एक साफ परिवेश है, एक सार्थक अभिव्यक्ति है और समकालीनता बोध की तस्वीर उपस्थित करता है। वह जन-जीवन-जगत के जानदार अक्स को प्रगतिवाद के आइनों में उतारता ही नहीं, बल्कि अपनी क्रान्ति-चेतना को वर्गीय-चेतना से जोड़कर विरोध और विद्रोह के व्यापक अर्थ में देखता है। 'वास्तव में देखा जाय तो दिनकर में सबसे अधिक व्यस्तता प्रगतिवादी तत्त्वों की है। अस्पष्टता की दीवार दिनकर और छायावाद के बीच में आयी तो सही, जिसने दोनों का तादात्म्य नहीं होने दिया; पर छायावाद की दुर्बलताओं को जहाँ दिनकर जानते थे, वहाँ उसकी शक्तियाँ भी वे पहचानते थे।... इस प्रकार छायावाद के साथ दिनकर का आन्तरिक समझौता था, पर बाह्य जीवन के यथार्थ धरातल पर एक विचित्र दबाव डाल रहे थे। प्रगतिवाद के साथ दिनकर का कोई सम्बन्ध नहीं- तथाकथित, साम्प्रदायिक प्रगतिवाद से। वैसे वे अपना सम्बन्ध उस बलवती अन्तर्धारा से जोड़ते थे जो अपनी प्रकृति में विशुद्ध प्रगतिवादी थी। इसमें भी वर्ग-चेतना कम नहीं थी। यह भी समाजगत वर्ग-वैषम्य से उद्वेलित होती थी। यह प्रगति भी कृषक और श्रमिक की पीड़ा से विमुख नहीं थी।' ('दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व', एस के पद्मावती)

वास्तव में देखा जाय तो दिनकर में प्रगतिवादी तत्त्वों की सघनता है। कहें कि वे मूलतः प्रगतिवादी क्रान्त-चेता, समाज-द्रष्टा कवि थे :

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।
...शिशु मचलेंगे दूध-देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगा हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार
...फटेगा भूखा हृदय कठोर,
चलो कवि वन फूलों की ओर।

शोषण और उपनिवेशवाद को मानव इतिहास में वे सबसे बड़ा अभिशाप मानते थे और पराधीनता को एक भारी कलंक। उनमें सर्वत्र शोषण का स्पष्ट रूप, शोषण के प्रति आक्रोश और क्रांति के लिए आह्वान मिलता है। प्रगतिवाद की साफ झलक इन कविता पंक्तियों में मिलती है :

वे भी यहीं दूध से जो अपने कुत्तों को नहलाते हैं,

वे बच्चे भी यहीं कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।

वास्तव में दिनकर के कवि ने समाज के आम आदमी, जिसे बच्चन और साही ने लघु मानव (लिटिल मैन) कहा है, की जो तस्वीर पेश की है, वह उस उपेक्षित, घिघियाते-घुघुआते जन की है जो सदियों से शोषित, पीड़ित, दलित और सर्वहारा है। श्रमिकों और कृषकों की दशा भी दीन-हीन है। देखिए-

अपने को नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेंगी,
तुम दोगे क्या चीज? वही जो चाहेगी, सो लेगी।
...पहचानो यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है।
समझ सको यदि मर्म, बुलाये बिना दौड़कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।

-(नील-कुसुम)

दिनकर-काव्य के विकास-क्रम को क्रमशः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं- संग्रह, समग्र कृतियाँ और अनूदित। 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'रश्मि रथी' समग्र कृतियों के अन्तर्गत आती हैं। शैली की दृष्टि से संग्रहों को मुक्तकों और प्रबन्धकाव्यों में रखा जा सकता है। ऐसा लगता है, उनके मुक्तक काव्यों में स्फुट क्षणों की गहरी उत्तेजना और व्यवस्था, तथा साम्राज्यवादी नीतियों के विरोध की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुई हैं। इनमें कवि ने अपनी निरपेक्ष वाणी मुखरित की है। तात्पर्य है कि मुक्तकों में दिनकर के आह्वान, क्रांति-चिंगारियों, शक्ति के उद्रेकों और सामाजिक सन्दर्भ में उचित हिंसा-वृत्ति से आविष्ट राष्ट्रीयता और मानववाद का स्वर है। 'कुरुक्षेत्र' में पौराणिक सन्दर्भों में समकालीन परिवेश की मार्मिक व्यंजना है, तो 'उर्वशी' में सौन्दर्य और प्रेम की उपेक्षित लेकिन सबल रेखाओं के छोटे अस्तित्व उभर आए हैं।

दिनकर के प्रेम-दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें तन का महत्व अन्त तक बना रहता है, चूँकि प्रेम की संवेदना का सम्बन्ध समूचे शरीर से है (प्रेम की मादकता का भेद, छिपा रहता भीतर मन में, / काम तब भी अपना मध

वेद, सदा अंकित करता तन में)। यह प्रेम हम प्राणियों की एक जैव मानसिक ऊर्जा है जो उचित आलम्बन के अभाव में प्रायः आत्मरति या सजातीय रति में परिवर्तित हो जाती है। और जो किसी भी आध्यात्मिक प्रयास या कठोर बौद्धिक नियन्त्रण से एक बार उन्मूलित नहीं हो सकती। यह शारीरिक प्रेम-भावना हमारे रक्त में तिल-तैलवत् समाई हुई है (उर्वशी: विचार और विश्लेषण/ डॉ. वचनदेव कुमार)। इसीलिए दिनकर ने इस प्रेम को 'रुधिर की वह्नि', 'वह्नि की लहर', 'शोषित की तीव्र क्षुधा', 'शोषित की मधुमय आग' और 'रक्त की उत्पन्न लहर' कहा है। इस तरह देह से उत्थित होने वाले 'प्रेम' को दिनकर ने रहस्य चिन्तन तक पहुँचा दिया है ('वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में / न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो / दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के / देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है' ('उर्वशी' से)।

'रश्मि रथी' और 'उर्वशी' दिनकर की प्रबन्धात्मक कृतियाँ हैं। 'उर्वशी' में प्रेम के दोनों पक्ष उपस्थित हो जाते हैं। ये दोनों पक्ष पुरुरवा के अन्तर्द्वन्द्व से बनते हैं- इसमें से एक पक्ष उर्वशी बनकर नाटकीय संघर्ष प्रस्तुत करता है। यूँ 'उर्वशी' में पाँच अंक इस प्रकार नियोजित हैं कि उसमें समस्त प्रेम-संघर्ष विधिवत आ सके। यह कहना असंगत न होगा कि उर्वशी का प्रेम दैहिक नहीं, दार्शनिक है। किसी के लिए प्रेम क्रीड़ा है, ऐन्द्रिय स्वाद है, मानव-सृष्टि में एक मूल्य है, एक पीड़ा है, विलास है, स्वच्छन्दवृत्ति है, समर्पण है, विश्वास है। उर्वशी में प्रेम के ये सभी रूप दिखाई देते हैं। एक दृश्य देखिए-

कवि-प्रेमी एक ही तत्त्व हैं तन की सुन्दरता से,
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं।

दिनकर-काव्य में नवीन युग की चेतना का प्रखर-प्रबल स्वर मुखरित हुआ है। नये युग में मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था और उसके वर्तमान पर पड़ने वाले प्रभावों को कवि व कलाकार स्वीकार नहीं करता। नवयुग वस्तुतः इन्हीं जीवन-दृष्टियों का समन्वित रूप है। पुरातन के प्रति नयी दृष्टि दिनकर-काव्य की विशेषता है। पर उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन-चेतना को यथावत् अंगीकार नहीं किया। वे जागरूक कवि थे। अपने दायित्वों के प्रति अत्यन्त सजग-सचेत-सतर्क थे। राष्ट्रीय कवि अतीत गौरव को वर्तमान-उत्तेजना और जागरण के लिए आवश्यक माध्यम समझता है। दिनकर में क्रांति की

परम्पराओं का अन्वेषण है। 'चन्द्राह्वान' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ पेश हैं—
जागो हे अविनाशी!

जागो किरणपुरुष! कुमुदासन! विधु-मण्डल के वासी!

जागो हे अविनाशी!

जागो शिल्पि अजर अम्बर के!

गायक महाकाल के घर के!

दिव के अमृतकण्ठ कवि; जागो, स्निग्ध-प्रकाश-प्रकाशी!

जागो हे अविनाशी!

आवाज में बड़ी शक्ति है। दिनकर में क्रांति के ओजस्वी तत्व सदैव राष्ट्रीय तत्वों से प्रबलतर होते गये हैं। वे लिखते हैं—

सिन्धु गर्जन कर रहा है;

ये नहीं मर जाँएँ अम्बर में बिखरकर,

अमरता के लोभ से हर एक स्वर को,

भूमि की श्रुति में युगों से भर रहा है।

—(नीलकुसुम)

'हुंकार' में विनाश के समय की प्रतीति कवि को होती है ('सुनूँ क्या सिंधु में गर्जन तुम्हारा?/ स्वयं युगधर्म का हुंकार हूँ मैं / कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का/ प्रलय गाँडीव का टंकार हूँ मैं')। विनाश के कारक तत्व हैं आग, महामारी, कलह, अभाव, अन्तर्द्वन्द्व और शोषण (अव्यवस्था)। कवि यह अनुभव करता है कि नये युग का आगमन हो रहा है। पुरातन में परिवर्तन क्रान्ति का प्रथम चरण है। नवयुवकों में पुरातन के प्रति बदलाव की भावना और क्रान्ति-धर्म स्पष्ट रूप से उभर रहा था जिसकी प्रतिध्वनि दिनकर की कविताओं में सुनाई देती है—

न देखे विश्व, पर मुझको घृणा से,

मनुष्य हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं।

सबसे पहले यह दुरित-मूल काटो रे,

समतल पीटो, खाइयाँ पाटो रे!

बहुपाद बटों की सिरा, सोर छाँटो रे,

जो मिले अमृत, सबको समान बाँटो रे!

—(परशुराम की प्रतीक्षा)

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

वस्तुतः वैषम्य और अभाव का मूल कारण उत्पादन के उपकरणों पर एक वर्ग का अधिकार और उत्पादित मूल्यों का असमान वितरण है ('पूछो कुबेर से कब सुवर्ण दे देंगे?/ तूफान उठेगा, प्रलय-बाण छूटेगा / है जहाँ स्वर्ण, बम वहीं स्यात फूटेगा।' 'परशुराम की प्रतीक्षा')। पूँजीवादी भवन की नींव में निम्न वर्ग की हड्डियाँ हाहाकार कर उठती हैं और भवन की दीवारें हिल जाती हैं। कवि घोषित करता है—

जानते हो यह अनोखा राज क्या है?

वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?

और गूँगी ईंट की आवाज क्या है?

तोड़ दो इसको, महल की वस्तुएँ बरबाद कर दो!

नींव की ईंट हटाओ,

दब गए हैं जो अभी तक जी रहे हैं

जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

दिनकर की दृष्टि सदैव समाज-सापेक्ष रही है। समाज-चेता क्रान्त-कवि होने के नाते उनकी कविता का तेवर तना हुआ था। एक ओर वे बाह्य जगत में व्याप्त विसंगतियों को उजागर करते हुए चलते हैं तो दूसरी ओर उनका कवि आन्तरिक जीवन दंशों और शोषण के चंगुल में फँसे आम आदमी की दुःस्थितियों से द्वन्द्व को मिटाने की चेष्टा करता है, पर ऐसा करने में वह प्रबल पक्षधरता से बचकर काल-बोध से जुड़ जाता है व हर स्थिति में उनकी कविता जमीन और मिट्टी में से गुजरती हुई कविता है। कवि कहता है—

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही-उद्दाम,

बह रही असहाय नर की भावना निष्काम,

अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,

खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान,

शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,

दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार,

द्रोह से अब भी वही अनुराग,

प्राण में अब भी वहीं फुंकार भरता नाग।

जंगल में आदर्शों की रस्सियाँ बुनते हुए भविष्य के खण्डहरों में अन्धापन है— है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है। व्यक्ति के समस्त आन्तरिक मूल्यों

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

और अहं के उद्रेकों पर तिरस्कारमयी व्यंग्य की तीखी बौछारें क्रान्ति की अग्नि को बुझाती नहीं, खौलते खून को न्यौत लेती हैं। 'लाल-क्रान्ति' की लौ-लपटें भारत में उठती नजर आती हैं। भगवतीचरण वर्मा की कविता दिनकर की रोशनी में गर्म हो आग उगलती है, पर दिनकर का क्रान्त-कवि जंग लगी संवेदनाओं का अभ्यस्त नहीं, वह अनुभूति के दर्द में अनुभूति और दर्द, दोनों का मुखरण करता है-

क्या उन्हें देख विस्मित होना, जो हैं अलमस्त बहारों में
फूलों को जो हैं गूँथ रहे, सोने-चाँदी के तारों में?
मानवता का तू विप्र, गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र! तू तो केवल जलने भर का अधिकारी है।
ले बड़ी खुशी से उठा, सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में स्वकर फूल, मगर उसका भी मोल चुकाता चल।

-(संचयिता)

'रसवन्ती' और 'संचयिता' की सभी कविताएँ युग-परिवर्तन की कविताएँ हैं। इन कविताओं में बिम्ब के लिए कोई विशेष जगह नहीं है क्योंकि कवि का मूल भाव युग-परिवर्तन और नवीन-वर्तन है। किसान-जीवन का दर्द, मजदूर की विवशता और आम आदमी की विपन्नता के गहन भाव इनमें विद्यमान हैं। कवि को विश्वास हो गया है कि स्वाधीनता का एक मात्र उपाय ज्वलनशील क्रान्ति ही है। इसलिए कवि क्रान्तिकारी देवता का अपने अन्तर में आह्वान करता है-

जा रहा बीतता हवन-लग्न, करवटें चुकाले शेष-व्याल,
मेरे मानस के इष्टदेव, आओ खोलो निज जटा-जाल,
यह आमंत्रण उनका, न मोहने को जिनको है धरा धाम,
हैं सीख चुके ये निःस्ववीर, है दहन मुक्ति की राह एक,
बल उठे किसी दिन वहि-राशि, ले देकर मेरी चाह एक।

-(हुंकार)

कवि को ग्रामीणता से भी असीम प्रेम और वहाँ के वासियों से अगाध लगाव है। भारतीय कृषक के साथ ग्राम्यजन की यथार्थताएँ शीघ्र ही सौन्दर्य-सृष्टि को अपनी ओर खींच लेती हैं जैसे कि पन्त की 'ग्राम्या' में मिलती है। दिनकर की राष्ट्रीयता पौरुष की दीप्त क्रान्ति की चिनगारी, रक्तदान

और महानाश के तत्वों से निर्मित है। कवि ने अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक अविच्छिन्न परम्परा में रखकर देखने का सार्थक प्रयास किया है। उसे विश्वास है कि -

लोहे के पेड़ हरे होंगे,
तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर,
आँसू के कण बरसाता चल!

दलित और दिनकर

डी. आर. ब्रह्मचारी

दलित-दलित की चिल्लाहट में जो तथ्य हमारे सामने आते हैं, वे हैं- ऐसा प्रयत्न कि दलितों को उठाकर गैर-दलितों के समक्ष स्थापित कर दिया जाय, दलितों में इतनी शक्ति-क्षमता का संचार कर दिया जाय कि दलित स्वतः अपने प्राप्तव्य को खींचने में सक्षम हो जाएँ, दलितों को गैर-दलितों से निरंतर लोहा लेते रहने को उकसाकर उन्हें संघर्ष करने को प्रेरित करते रहें। इसमें से प्रत्येक बात अच्छी या समन्वयात्मक ही नहीं है। दलितों की हिताकांक्षा के नायाब नुस्खे से शिक्षित दलित स्वतः उत्तरोत्तर वाकिफ होते जा रहे हैं, यह शुभ है। साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद हों, प्रेमचंद हों, निराला हों या फिर दिनकर ही क्यों न हों; मानवीय आदर्शों की कसौटियों पर यह सिद्ध कर दिखाया है कि कौन खरा है और कौन खोटा? वह, जो आभिजात्य का बोझ ढोने में आत्मसुख मानता है या फिर वह, जिसे अंत्यजत्व के अभिशाप के दंश को भोगने के लिए पग-पग पर विवश किया जाता है?

‘दुक्खी चमार’ की पीड़ा के रूप में इनका हाहाकार सुनाई पड़ता है; ‘चतुरी चमार’ के क्रियाकलापों से इनकी आत्मा कसक उठती है, कर्ण के माध्यम से इनकी चीत्कार सुनाई पड़ती है : *मस्तक ऊँचा किए जाति का नाम लिए चलते हो / पर अधर्ममय शोषण के बल से सुख में पलते हो।* हालात में आज भी तब्दीली कहाँ?

सन् 1952 ई. में प्रकाशित ‘रश्मिर्थी’ रामधारी सिंह ‘दिनकर’ की प्रसिद्ध रचना है जो वर्षों से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अनुशंसित रही है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है : रंगभूमि में राजकुमार अर्जुन की वाहवाही सुनकर कर्ण अपने को रोक नहीं पाता है- *तूने जो-जो किया उसे मैं*

भी दिखला सकता हूँ / चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ। साथ ही, आगे बढ़कर वह द्वन्द्वयुद्ध के लिए पार्थ को ललकार भी उठता है। उस नवयुवक को क्या पता कि राजकुमारों के बीच, सभा में अर्जुन को फीका होते देखकर राज्यान्न पर पले लोग तिलमिला उठेंगे? कृपाचार्य, कर्ण का तेज मलिन करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते- *अर्जुन से लड़ना हो तो मत रहो सभा में मौन / नाम-धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति हो कौन?*

*स्वाभाविक तेज से दृप्त कर्ण को यह सह्य नहीं हो पाता-
अधम जातियों से थर-थर काँपते तुम्हारे प्राण
छल से माँग लिया करते हो अँगूठे का दान।*

सहज ही सभा पर कर्ण का सिक्का जम जाता है-

*कर्ण भले ही सूत-पुत्र हो अथवा श्वपच चमार
मलिन मगर इसके आगे हैं सारे राजकुमार।*

कर्ण फिर अर्जुन के क्षत्रियत्व के दंभ पर वार कर डालता है-
*अर्जुन बड़ा वीर क्षत्रिय है तो वह सामने आवे
क्षत्रियत्व का तेज जरा मुझको भी तो दिखलावे।*

राजकुमार की रक्षा करते हुए राजपुरुष कृपाचार्य कर्ण पर दूसरा बाण मारने से क्यों चूकते-

*राजपुत्र से लड़े बिना होता है अगर अकाज
अर्जित करना तुम्हें चाहिए पहले कोई राज।*

इस प्रकार कर्ण की छीछालेदर दुर्योधन से असह्य हो उठती है। वह सामने आ जाता है। भले ही कर्ण के प्रति उसकी आंतरिक सहानुभूति हो अथवा नहीं, किंतु शत्रुओं से प्रतिशोध का उपकरण तो हाथ लग ही जाता है उसे-

*बिना राज्य यदि नहीं वीरता का उसको अधिकार,
तो मेरी यह खुली घोषणा सुने सकल संसार।
अंगदेश का मुकुट कर्ण के मस्तक पर धरता हूँ,
एक राज्य इस महावीर के हित अर्पित करता हूँ।*

इस उपकार-भार से कर्ण दब जाता है। सब कुछ भूलकर वह अपना सर्वस्व दौब पर लगा देता है-

है ऋणी कर्ण का रोम-रोम, जानते सत्य यह सूर्य सोम

तन-मन दुर्योधन का है, यह जीवन दुर्योधन का है।
इस परिस्थिति में वह और कर भी क्या सकता था? 'सबते कठिन जाति अपमाना ।'

कर्ण के लिए सभा द्वारा उच्चरित 'महाराज अंगेश' संबोधन अभिजात मन को तीर के समान वेध डालता है-

हय की झाड़े पूँछ जनम भर रहा यही तो काज।

सूत पुत्र किस तरह चला पाएगा कोई राज।

विष-व्यंग्य से आहत कर्ण के जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है अर्जुन, जिससे दो हाथ कर लेने में ही वह अपनी सार्थकता समझने लगता है।

धनुर्वेद-शिक्षण के प्रसंग में गुरु परशुराम की भूमिका शिक्षण जगत का वह कलंक है जिसे किसी प्रकार मिटा पाना असंभव है। बड़ी भक्ति की, पर बदले में शाप भयानक पाया। केवल जाति की निकृष्टता के चलते ही तो।

कर्ण को अब पांडवों के पक्ष में लाने का नाटक शुरू होता है। स्वयं कृष्ण उसे प्रलोभन देकर पांडवों की तरफ खींचने में नहीं चूकते-

कुरु राज्य समर्पण करता हूँ, साम्राज्य समर्पण करता हूँ।

यश मुकुट मान सिंहासन ले, बस एक भीख मुझको दे दे।

पर कर्ण तो कच्ची धातु का बना था नहीं, और न उसके हृदय में चुभने वाला शल्य ही साधारण था। कृष्ण के यह कहने पर कि तुम कुंती के ज्येष्ठ पुत्र ठहरे, वह भी तुम्हारे अभिषेक को तत्पर है; उसे कृष्ण की चाल भाँपते देर नहीं लगती: कुंती का क्या चाहता हृदय / मेरा सुख या पांडव की जय? वह अपना निर्णय सुना डालता है-

ले लील भले ही धार मुझे, लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

क्या लोगों के मुख से आप मुझे यही सुनवाना चाहते हैं-

फिर गया तुरत जब राज मिला, यह कर्ण बड़ा पापी निकला।

वह कहता है- केशव! इस कृत्य से केवल मेरी ही तौहीन नहीं होगी, आपका प्रिय अर्जुन भी कलंकित होगा-

सब लोग कहेंगे डरकर ही, अर्जुन ने अद्भुत नीति गही।

मेरे जीवन में इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई अर्थ नहीं

मुझको न कहीं कुछ पाना है, केवल ऋण मात्र चुकाना है

वह दो टूक शब्दों में अपना निर्णय कृष्ण से कह सुनाता है-

मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब उसे तोल सकता है धन?

धरती की तो है क्या बिसात? आ जाय अगर बैकुंठ हाथ

उसको भी न्योछावर कर दूँ, कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।

साथ ही, वह श्रीकृष्ण से निवेदन करता है, मधुसूदन! मेरी जन्म-कथा धर्मराज से नहीं कहिएगा। नहीं तो वे सिंहासन टुकरा देंगे और मुझे समर्पित कर देंगे। परिणाम होगा, मैं उसे स्वयं न स्वीकार कर दुर्योधन को दे डालूँगा, फिर पांडव वंचित के वंचित ही रह जाएँगे।

इस पर कृष्ण अभिभूत हो उठते हैं- तू कुरुपति का ही नहीं प्राण, नरता का है भूषण महान। अप्रतिभ कृष्ण के लिए दूसरा उपाय भी क्या था!

उसके दुर्भाग्य का दूसरा अध्याय तब उपस्थित होता है जब राजकुमार अर्जुन के रक्षार्थ उसके पिता देवराज इंद्र स्वयं ब्राह्मण का वेश धारण कर दानवीर कर्ण से जन्म के साथ प्राप्त उसका कवच-कुंडल छलपूर्वक दान माँग लेते हैं। कर्ण को चाल समझते देर नहीं लगती : महाराज किस्मत ने मेरी की न कौन अवहेला? चाहे दिखाने भर को सही, इंद्र निस्तेज हो जाते हैं : तू दानी मैं कुटिल प्रवंचक, तू पवित्र मैं पापी।

लज्जित इंद्र उसे अपना एकघ्न नामक अस्त्र देकर चले जाते हैं, इस शर्त के साथ कि इस अमोघ अस्त्र का प्रयोग केवल एक ही बार किया जा सकता है, उसके बाद यह लौटकर मेरे पास चला आएगा। उसके दुर्भाग्य के तीसरे अध्याय में ठकुरानी कुंती स्वयं उसको पांडवों के पक्ष में लाने के लिए कुछ बाकी नहीं रखती हैं। प्रखर बुद्धि कर्ण को राजनीति समझते देर नहीं लगती- जोड़ने नहीं बिछुड़ें-वियुक्त कुल जन से, / फोड़ने मुझे आई हो दुर्योधन से।

वहाँ पर भी वह अपने भीतर चुभी कील को प्रकट किए बिना नहीं रहता। सच कहिए तो यह कर्ण-पार्थ का रण है। आज तक अपने यहाँ से किसी को रिक्तहस्त नहीं लौटने देने वाला कर्ण भला, कुंती को खाली हाथ कैसे लौटने देता- पुत्रिणी पाँच पुत्रों की बनी रहोगी। अर्जुन को छोड़ मैं बाकी चार पांडवों को अपना शरव्य नहीं बनाऊँगा। यदि बाण के सम्मुख वे आ भी जाते हैं तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। वचन देता हूँ-अर्जुन के हाथों यदि मैं मरूँ, तब तो कोई बात ही नहीं, पर :

कहीं काल का कोप पार्थ पर बीता

वह मरा और दुर्योधन ने रण जीता

मैं एक खेल फिर जग को दिखलाऊँगा,
जय छोड़, तुम्हारे पास चला आऊँगा।

चार पांडवों को जीवन-दान देकर वह वचन निर्वाह से रंचमात्र भी विमुख नहीं होता। वह कहता है- पर, केशव जिनके साथ, उन्हें क्या दुख है?

युद्ध का शंखनाद हो जाता है। दोनों ओर से सेनाएँ लड़ती-कटती और मरती हैं। भीष्म पितामह के द्वारा कर्ण को 'अर्द्धरथी' कहे जाने से अपमानित वह तब तक रणांगन में प्रवेश नहीं करता है जब तक भीष्म लड़ रहे होते हैं। उनके धराशायी होने के पश्चात् ही वह युद्ध-भूमि में पैर रखता है। वह गिरे हुए भीष्म के समीप पहुँचता है और उनके चरण छूता है। भीष्म उसे अवरोधते हैं: चल सके सुयोधन पर यदि वश, बेटा! लो जग में नया सुयश, लड़ने से बढ़ यह काम करो, आज ही बंद संग्राम करो। उस पर तो बस अर्जुन-पराजय की धुन सवार है। भीतर तक हिला देने वाली चोट को वह भूले भी तो कैसे : करने दीजिए स्वव्रत पालन, अपने महान् प्रतिभट से रण। अर्जुन और कर्ण का विकट संग्राम शुरू होता है। कर्ण के अद्भुत युद्ध-कौशल और उसकी एकघ्नि के भय से कृष्ण, सावधान कृष्ण, हमेशा अर्जुन को बचाते फिरते हैं-

वह चतुर पार्थ सारथी आज, रथ अलग बचाए फिरते थे
कर्ण के साथ द्वय रथ रण से, शिष्य को बचाए फिरते थे।

कृष्ण की दूरदर्शिता, दुर्योधन की मोहांधता तथा कर्ण के भाग्य-विपर्यय से घटोत्कच के साथ हुए युद्ध में उसका एकघ्नि अस्त्र प्रयोग में आकर इंद्र के पास लौट जाता है। यह तो होना ही था! फिर भी वह वर्णनातीत हिम्मत से काम ले रहा था। उसका युद्ध देखने योग्य था- सहदेव, युधिष्ठिर, नकुल, भीम को बार-बार वश में लाकर, / कर दिया मुक्त हँसकर उसने भीतर से कुछ इंगित पाकर।

इस प्रकार माता कुंती को दिए अपने वचन का उसने तत्परतापूर्वक पालन किया, बट्टा नहीं लगने दिया। फलतः उसका सारथी शल्य भी उसे कोसकर तेजमंद करने से बाज नहीं आया-

रे सूत पुत्र! किसलिए विकट यह काल पृष्ठ धनु धरता है?

मारना नहीं है तो फिर क्यों वीरों को घेर पकड़ता है?

यहाँ 'वीरों' विशेषण का प्रयोग ध्यातव्य है। यही नहीं, अश्वसेन-प्रसंग

में भी उसकी निष्ठा छिपाए नहीं छिपती है। वह अश्वसेन को सीधे फटकार देता है- संसार कहेगा जीवन का सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया/ प्रतिभट के वध के लिए सर्प का पापी ने साहाय्य लिया। अब कर्ण और अर्जुन का भीषण संग्राम निर्णायक स्थिति में पहुँचता है। वह प्राणपण से लड़ता हुआ अर्जुन के छक्के छुड़ाता है-

मत कवच और कुंडलविहीन इस तन को मृदुल कमल समझो/ साधना दीप्त वक्षस्थल को अब भी दुर्भेद्य अचल समझो। अर्जुन की स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि- सँभले जब तक भगवान, बचाए इधर-उधर किंचित् स्यंदन। यहाँ 'भगवान' शब्द का प्रयोग भी ध्यातव्य है। कर्ण के युद्ध-कौशल के श्रीकृष्ण स्वयं कायल होते हैं। वह अर्जुन से कहते हैं : मैं चक्र सुदर्शन धरूँ और गांडीव अगर तू तानेगा/ तब भी शायद ही, आज कर्ण आतंक हमारा मानेगा। यहाँ हमारा 'सर्वनाम' ध्यातव्य है।

दुर्भाग्य कर्ण का पीछा कहीं नहीं छोड़ता। ठीक युद्ध के उत्कर्ष के अवसर पर ही उसके रथ का पहिया पृथ्वी में धँस जाता है, जबकि उसकी दीप्ति परवान पर होती है। विरथ वह निरस्त्र होकर पूरे बल से उसे पृथ्वी से छुड़ाने में लग पड़ता है, पर पहिया है कि टस से मस होने से रहा-

मगर, है ठीक किस्मत ही फँसे जब
धरा ही कर्ण का स्यंदन ग्रसे जब।
...मही डोली सलिल आगार डोला,
भुजा के जोर से संसार डोला
न डोला किंतु, जो चक्का फँसा था,
चला वह जा रहा नीचे धँसा था।

शरासनहीन अस्त-व्यस्त कर्ण को पाकर स्वयं परात्पर मधुसूदन अर्जुन को संकेत करने में सकुचते नहीं-

शरासन तान, बस अवसर यही है,
घड़ी फिर और मिलने की नहीं है।
विशिख कोई गले के पार कर दे,
अभी ही शत्रु का संहार कर दे।

पार्थ सहम जाता है-

नरोचित किंतु क्या यह कर्म होगा?

मलिन इससे नहीं क्या धर्म होगा?
कृष्ण फिर प्रेरित करते हैं-
क्रिया को छोड़ चिंतन में फँसेगा,
उलटकर काल तुझको ही ग्रसेगा।
बिना देर किए अर्जुन लगा निहत्थे कर्ण को बाणों से अंधाधुंध बेधने। ऐसा
सुनहला अवसर वह चूकता ही क्यों?
कवि लिखता है-

शरों से वेधने तन को, वदन को
दिखाने वीरता निःशस्त्र जन को।
खड़े निर्वाक सब जन देखते थे
अनोखे धर्म का रण देखते थे।

कर्ण ने सँभलने का थोड़ा समय माँगा भी, पर उसे वह मिलता ही क्यों!
धुआँधार बिंधा जाता हुआ रथ से उतरा निरस्त्र कर्ण कृष्ण को नंगा कर डालता
है-

कृपा कुछ और दिखलाते नहीं क्यों?
सुदर्शन ही उठाते हैं नहीं क्यों?

इस प्रकार कर्ण का वध कराकर कृष्ण उसका स्मारक इन शब्दों में तैयार
करते हैं-

किया किसका नहीं कल्याण उसने
दिए क्या-क्या न छिपकर दान उसने
जगत् के हेतु ही सर्वस्व खोकर,
मरा वह आज रण में निःस्व होकर

महाभारत की अनेक कथाओं में एक कथा अंत्यज- आभिजात्य की भी
है जो कर्ण अर्जुन प्रतिद्वंद्विता के रूप में साकार हुई है और अद्यपर्यंत जीवित
है। आज भी राजकुमारों के त्रास की बातें अप्रासंगिक नहीं हुई हैं। स्थिति यह
भी है कि दलित-दलित के शोर में दलित गौण, शोर प्रधान हो गया है।
'रश्मिपथी' में रचनात्मक स्तर पर दिनकर ने दलित का जैसा चित्र प्रस्तुत किया
है वह अन्यत्र दुर्लभ है-

जग में जो भी निर्दलित प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन हैं, निर्दित हैं, निर्धन हैं,

यह कर्ण उन्हीं का सखा बंधु सहचर है
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।
बिना ऐसी अनुभूति के क्षणों को जिए, इस प्रकार की रचना संभव है क्या!

‘संस्कृति के चार अध्याय’ में कविता के स्वर

पंकज सुबीर

पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा लिखी गई ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ हो, चाहे राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर द्वारा रचित ‘संस्कृति के चार अध्याय’, दोनों में ही एक बात समान है कि भारतवर्ष के इतिहास के विभिन्न चरणों को जिस कुशलता से इन दोनों रचनाकारों ने समाहित किया है, ग्रंथ की वह शैली चमत्कृत कर देने वाली है। यदि भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना हो तो ये दो ग्रन्थ ही काफी हैं। दोनों ही ग्रन्थ इतिहास तो बताते हैं पर इतिहास की भाषा में बात नहीं करते, उसी भाषा में बात करते हैं जिस भाषा में पढ़ने वाला जुड़ जाए।

इतिहास की शुष्क और नीरस भाषा के स्थान पर ये ग्रंथ किस्सागोई शैली को लेकर चलते हैं। दादी-नानी की कहानियाँ सुनकर बड़ा हुआ भारतीय जनमानस किस्सागोई शैली से जल्दी जुड़ जाता है। वरना इतिहास तो आम आदमी के लिए हमेशा से एक ऐसा विषय रहा है जिसमें मनोरोचक तत्वों की कमी रहती है। इन दोनों ही ग्रंथों ने आम जनमानस (इतिहास के शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों को छोड़कर) पर जो उपकार किया है वो ये कि इन ग्रंथों ने इतिहास के मोटे-मोटे ग्रंथों की भूल-भुलैया से बचा लिया है। सभ्यता के विकास के सारे चरण (ज्ञात इतिहास से प्रारंभ करते हुए) एक ही ग्रंथ में समेटने के प्रयास में इन ग्रंथों का आकार वृहद कुछ जरूर हो गया है, किन्तु जब इन्हें पढ़ना प्रारंभ किया जाता है तो इनकी किस्सागोई शैली वृहदाकार होने का एहसास नहीं होने देती है।

‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ तथा ‘संस्कृति के चार अध्याय’, इन दोनों की भाषा-शैली, विन्यास तथा उद्धरणों में स्पष्ट अंतराल दिखाई देता है। यह

अंतराल वास्तव में दोनों ग्रंथों के लेखकों का अंतर है। एक लेखक जहां राजनीतिक क्षेत्र का व्यक्ति है इसलिए सारी घटनाओं के पीछे के राजनीतिक समीकरणों पर अधिक प्रकाश डालता है। वहीं दूसरा लेखक, भले ही इतिहास का विद्यार्थी रहा हो, कवि पहले है। शायद इसीलिए ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में कविता का स्वर बहुत स्पष्ट है। जैसा कि दिनकर जी स्वयं ही इसकी भूमिका में लिखते हैं, ‘इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ। उनकी स्वीकारोक्ति ही सारी बातों को स्पष्ट कर देती है। यह पूरा ग्रंथ कविता की भाँति चलता है; ईसा पूर्व से प्रारंभ होकर आधुनिक काल तक। ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ और इस ग्रंथ में एक और बारीक अंतर है। पंडित नेहरू ने ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में भारत की कहानी कही है जबकि दिनकर जी ने खोज की है संस्कृति की। इस ग्रंथ में मूलतः संस्कृति, उस पर प्रभाव डालने वाले कारक और सांस्कृतिक परिवर्तन ही प्रधान हैं। जो घटनाएँ, व्यक्तित्व और उद्धारण आए हैं, वे सारे के सारे वही हैं जो हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित करते हैं। चूँकि बात संस्कृति की है इसीलिए इस ग्रंथ में कविता भी मुख्य स्वर में शामिल है जो ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में नहीं है। ऐसा इसीलिए कि वैदिक काल से लेकर उन्नीसवीं सदी तक जिन ग्रंथों को इतिहासकार अध्ययन के लिये उठाते हैं, उनमें मूल स्वर तो काव्य ही है।

कहा जाता है कि कविता वह होती है जो हमेशा विपक्ष में खड़ी होती है। कहीं न कहीं आम जनता हमेशा विपक्ष में होती है और इस विपक्ष को स्वर प्रदान करती है कविता। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ ग्रंथ विपक्ष में खड़ा हुआ है। यह विभिन्न संस्कृतियों की बात करता है, उनके प्रभावों की बात करता है किन्तु उसके बाद तुरंत बात होती है कमजोरियों की, दुष्प्रभावों की और क्षति की। वैदिक जीवन, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाईयत इन सबकी बात तो होती है परंतु इन सभी धर्मों में शनैः शनैः आए पतन की ओर स्पष्ट इशारा किया जाता है। अपने समय और इतिहास की हर व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करने के बाद कवि वकील बन जाता है और गिन-गिन कर उन सभी अंगों की तरफ इशारा करता है जो सड़ गए हैं, बजबजा रहे हैं। दिनकर जी भी चूँकि चिरविद्रोही कवि रहे हैं, उनका राष्ट्र-प्रेम राष्ट्र से न होकर राष्ट्र की जनता से है। तभी तो 15 अगस्त 1948 को आजादी की पहली वर्षगाँठ पर ‘पहली वर्षगाँठ’ शीर्षक की अपनी कविता में वे लिखते हैं-

आजादी खादी के कुरते की एक बटन
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई
फैशनवालों के लिए नया फैशन निकाला
मोटर में बाँधो तीन रंगवाला चिथड़ा

ऐसा कहने का साहस कोई जनकवि ही कह सकता है क्योंकि वह जनता का प्रतिनिधि होता है। उसकी प्रतिबद्धता केवल उस जनता के प्रति है जो राष्ट्र का अंग है, इसलिए वह लोकोपचार को ताक में धरकर बहुत कुछ कह देता है।

‘संस्कृति के चार अध्याय’ का प्रारंभ ही होता है रवीन्द्र नाथ टैगोर की कविता से। ‘ईं भारतेर महामानवेर सागर-तीरे’ से जब ग्रंथ शुरू होता है तो संकेत तो मिल ही जाता है कि ग्रंथ में काव्य प्रधान रहेगा। अगर लेखक स्वयं लिख भी चुका हो कि मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है, तब यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। दिनकर प्रारंभ में ही कवि के लिए कहते हैं कि कवि एक ही युग में जीता हुआ अपने अन्य समकालीन बन्धुओं की अपेक्षा कुछ अधिक जीवित और चैतन्य होता है। इसलिए उसे कुछ ऐसी बातें भी सुनायी दे जाती हैं जिन बातों तक औसत मनुष्य के कान नहीं पहुँच पाते। किन्तु कवि की अनुभूति जब कविता बनकर प्रकट हो जाती है तब उसके सहारे अन्य सहृदय लोग भी इस अनुभूति तक पहुँच सकते हैं। ‘कुछ अधिक जीवित और चैतन्य’ जैसे शब्दों का उपयोग संभवतः पूरी बात कह देता है। ‘कुछ अधिक जीवित’ कहना ही संकेत देता है कि विभिन्न कालखण्डों की कविताओं में मौजूद आहटों को पकड़कर ही संस्कृति का विकास क्रम निर्धारित करने का काम कवि कर रहा है। कविताओं को इतिहास नहीं माना जा सकता लेकिन यह तो माना ही जाएगा कि यदि किसी कालखण्ड का इतिहास उपलब्ध नहीं हो, तब उस समय की कविताओं में भी संकेत ढूँढ़े जा सकते हैं। और फिर जहाँ ऋग्वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत और गीता जैसे महाकाव्यों की उपस्थिति हो, तो फिर ये संकेत और सुस्पष्ट हो जाते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू जहाँ ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में रामायण और महाभारत की बात करते हैं और महाभारत को श्रेष्ठ निरूपित करते हैं, वहीं वे कवि की बात नहीं करते। किन्तु दिनकर जी इन दोनों महाकाव्यों की विशद विवेचना करते हैं और बात करते हैं कवि की भी, उसकी मनोदशा की भी और

उसकी प्रेरणा की भी। वे कहते हैं कि रामायण और महाभारत भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। पर चूँकि बात एक कवि कह रहा है इसलिये वे यह नहीं कह रहे हैं कि ये हिन्दू जाति के महाकाव्य हैं। वे ‘भारतीय जाति’ कह रहे हैं क्योंकि यह कवि ही जानता है कि कविता किसी एक जाति या धर्म की हो ही नहीं सकती। रामायण और महाभारत के संदर्भ में ‘भारतीय जाति’ का प्रयोग अपने आप में अनूठा है, वे स्वयं महाकाव्यों की उत्पत्ति पर कहते हैं कि महाकाव्यों की रचना तब संभव होती है जब संस्कृति की विशाल धाराएँ किसी संगम पर जाकर मिलने वाली होती हैं। रामायण के बारे में तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि राम, रावण और हनुमान के विषय में पहले स्वतंत्र आख्यान काव्य प्रचलित थे और इनके संयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है। आदि कवि ने तीनों को जोड़कर रामायण की रचना की। आख्यान काव्यों के आधार पर वाल्मीकि ने आदि रामायण की रचना की जिसमें अयोध्या कांड से लेकर युद्ध कांड तक बारह हजार श्लोक थे। दिनकर जी के अनुसार भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के कवियों पर वाल्मीकि का गम्भीर प्रभाव पड़ा तथा आदि कवि के काव्य सरोवर का जल पीकर भारत की सभी भाषाओं ने अपने को पुष्ट किया। राम, रामायण और कवियों को लेकर दिनकर जी ने इस ग्रंथ में संभवतः सबसे अधिक चर्चा की है।

‘संस्कृति के चार अध्याय’ में दिनकर जी का कवि मन जहाँ क्रूर होकर व्यवस्था पर प्रहार करता है वह है ‘प्राचीन भारत और बाह्य विश्व’ अध्याय का प्रारंभ। छठी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं सदी तक इस देश ने बुद्धि के क्षेत्र में कोई बड़ा काम नहीं किया, प्रायः बारह सौ वर्ष का समय इस देश ने व्यर्थ गँवाया। भामह (छठी शताब्दी) से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक इस देश में संस्कृत में जो काव्य रचना की गई वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि तक नहीं पहुँच सकी। उस साहित्य में हम अपने जातीय जीवन का स्पन्दन नहीं पाते। वह पच्चीकारी के सौंदर्य से खचाखच भरा हुआ जरूर है, लेकिन उसमें जीवन को आलोड़ित करने की शक्ति का पूरा अभाव है। जब जाति का हृदय सरोवर सूख जाता है, तब वह रचना को छोड़कर आलोचना में जा फँसती है। जब नई सूझें नहीं मिलतीं तब कवि और कलाकार पुरानी चीजों पर ही पच्चीकारी और नक्काशी के चमत्कार दिखाने लगते हैं। अगर साहित्य जाति के भीतर जीवन का प्रतिबिम्ब है तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि

सातवीं सदी से अठारहवीं सदी तक का भारत निर्जीव देश था।

इस निष्कर्ष पर एक कवि ही पहुँच सकता है। जनकवि की दृष्टि कहीं ज्यादा विस्तृत और समकालिक होती है, वह चाहता है कि यदि कविता लिखी जा रही है तो अपने समय की व्यवस्था के दोष उसमें उजागर हों, क्योंकि वह तो खुद भी लिखता है: कलम उठी कविता लिखने को अंतस्तल में ज्वार उठा रे। सहसा नाम पकड़ कायर का पश्चिम पवन पुकार उठा रे (वसंत के नाम) या फिर महँगी आजादी के जीवन का एक साल, बापू को डाला मार, नमक का दाम दिया (पहली वर्षगाँठ) या नागार्जुन की कविता कागज की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में, लाल भवानी प्रकट हुई है सुना के तैलंगाने में (लाल भवानी)। यही कविताएँ जब सदियों बाद पढ़ी जाएँगी तो इनमें अपने समय के अंधकार की पदचाप मिलेगी और वहीं से सूत्र पकड़ेंगे इतिहासकार। ये पदचापें जब दिनकर जी को उस हजार-बारह सौ वर्षों के कालखण्ड में नहीं मिलतीं तो व्यथित होकर वे कहते हैं, वह पच्चीकारी के सौन्दर्य से खचाखच भरा है। अंधकार हर युग में होता है, और वह कविता जो केवल अपने समय के उजियारे के प्रशस्ति गान में लगी होती है, समाज का कितना नुकसान करती है, यह उस समय के बीत जाने के बाद ही ज्ञात होता है। 'पच्चीकारी' शब्द का थोड़े से अंतराल पर ही दो बार प्रयोग कर संभवतः दिनकर जी अपने आक्रोश को पूरी शिद्दत के साथ, किसी को एक प्रतिशत भी क्षमा किये बगैर व्यक्त करना चाहते हैं।

तीसरे अध्याय के 'हिन्दू मुस्लिम संबंध' में दिनकर जी एक बार पुनः गरजते हैं और इस बार और भी अधिक तीखे शब्दों का प्रयोग करते हैं: भारतीय इतिहास का मुस्लिम काल राजनीति-शून्यता का काल है, इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने की तनिक भी उत्सुकता नहीं है कि देश में राज्य किसका चल रहा है। वे हरिभजन में व्यस्त हैं और जनता में भक्ति भावना का प्रचार कर रहे हैं। जनता भी इसी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिये तो उत्साह है, किन्तु, विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं। तुलसीदास और राणा प्रताप कुछ समय के लिए समकालीन थे, किन्तु तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। संत बड़ी आसानी से कह देते हैं 'सन्तन को कहाँ सीकरी सों काम' अथवा 'तुलसी अब का होंहिंगे नर के मनसबदार'।

संभवतः यहाँ कवि बहुत क्षुब्ध है क्योंकि वह तो 'समय के रथ का घर्षण नाद...' जैसा कुछ चाहता है। कवि व्यथित है कि उस समय ने जनचेतन की कड़वी गोली की जगह धर्म का शहद जनता को चटाया। 'सन्तन को कहाँ सीकरी सों काम' का उद्धरण वे इसीलिए देते हैं कि कवि राजनीति में भले ही न जाए, पर राजनीति के आस पास रहे, उस पर नजर रखे क्योंकि उसे तो चिर विरोधी की भूमिका अदा करनी है। राजनीति से दूर भागने का अर्थ तो राजनीति को जनता का शोषण करने के लिए खुला छोड़ देना है। दिनकर 'सिंहासन खाली करो...' का संघर्ष चाहते हैं। वे स्वयं कहते हैं, आजादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना है, आजादी है उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी (रोटी और स्वाधीनता) और तभी वे कहते हैं कि 'तुलसी अब का होंहिंगे नर के मनसबदार' कहना तो वास्तव में पलायन है उन कर्तव्यों से, जो कवि होने के नाते जनता के प्रति हैं।

'हिन्दी साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव' में एक जगह वे लिखते हैं, भावुकता हमारे साहित्य का साधारण लक्षण नहीं थी। कविता का लक्ष्य इस देश में किसी महान उद्देश्य की सेवा रहा है। यहाँ के आचार्य उसे निरुद्देश्य आनंद का साधन नहीं मानते थे। यहाँ पर आकर दिनकर जी ने अपने विचार को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। एक बात जो और यहीं आती है कि 'हिन्दू जन्म से विचारक एवं मुसलमान जन्म से कवि होता है', यह बात उन्होंने मुसलमानों की भावुकता को ध्यान में रखकर लिखी है। तभी वे कबीर, मीरा, बोधा, घनानन्द की भावाकुलता को इस्लाम की देन मानते हैं। वे कहते हैं 'भारतीय भावुकता कबीर के हाथों में इस्लामी भावुकता से मिलकर एक नए रंग में खुल पड़ी, जिसकी झाँकी हमें मीराबाई से लेकर महादेवी तक में मिलती है।' परंतु इस भावुकता के बारे में ही वे पुनः लिखते हैं 'इस्लाम से आई हुई भावुकता को मैं हेय नहीं वांछनीय ही मानता हूँ। उर्दू में भावुकता का पूरा साम्राज्य होने के कारण यह गुण वहाँ दुहराहट के मारे सस्ता-सा लगता है। किन्तु, भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि बौद्धिक थी...' अर्थात् वे भावुकता को स्वयं स्वीकार भी करते हैं। दिनकर जी की अपनी कविताओं में भावुकता एक प्रबल स्वर कभी नहीं रही, किन्तु वे स्वयं भी मानते हैं कि बौद्धिकता और भावुकता के सम्मिश्रण से भारतीय साहित्य का भला ही हुआ।

चौथे अध्याय के 'हिन्दू नवोत्थान' में वे एक बार पुनः गरजते हैं, हिन्दुओं

का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करने आये हैं। किन्तु उन्नीसवीं सदी के बाद से भारतीय साहित्य में क्रांतिकारी और अन्य विरोधी स्वर बड़े जोर से गूँजने लगते हैं।' दिनकर जी पलायन को पूरे ग्रंथ में खंडित करते हैं और संघर्ष को स्थापित करते हैं। अन्याय को अन्याय कहने का साहस वे कवि में चाहते हैं। चौथे अध्याय में ही दिनकर जी एक बार फिर कवि और कविता की व्याख्या करते हैं। 'ईसाई धर्म और इस्लाम' में वे जब वापस कवि की ओर मुड़ते हैं: कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री समाज के भीतर से आती है। समाज निराकार प्रतिमा है जिसकी धड़कन कवि के कलेजे में उठती है, जिसकी शंकाएँ और विश्वास कवि के मुख से उद्गीर्ण होते हैं। इन पंक्तियों में कवि को श्रेष्ठतम बनाने और बताने का काम दिनकर जी कर गए हैं। राजनीति, तर्क, दर्शन, इतिहास- सबको कविता के बाद वाली सीढ़ियों पर स्थान मिला है। क्योंकि ये सब कभी न कभी दूषित हो जाते हैं, असत्य के हामी हो जाते हैं, किन्तु कविता सदैव सत्य की पक्षधर होती है और इसलिए वह सदैव से विपक्ष में खड़ी होती है। वे दर्शन को भी शंका की परिधि में ले आते हैं और तर्क को भी। यहाँ पर कविता सूर्य की भाँति प्रकाशित है। और अंत में उसी चौथे अध्याय की ये पंक्तियाँ जो किसी व्याख्या की माँग भी नहीं करतीं: कवि अपने भाव आकाश से लाता है, ऐसा बेवकूफ लोग ही कहा करते हैं। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है। अतएव उसके सारे भाव समाज के भाव होते हैं उसकी सारी शंकाएँ समाज की शंकाएँ होती हैं, अनेक आशाएँ कुलबुलाती रहती हैं, अनेक उमंगें अपनी राह टटोलती रहती हैं। कवि इन अदृश्य भावनाओं को सुन लेता है। यही उसकी विशेषता होती है। इसलिए वह समाज के विकास का अनिवार्य यंत्र समझा जाता है। जिस समाज में कवि उत्पन्न नहीं होते, वह अंधों का समाज होता है, वह बहरे लोगों का समाज होता है जो अपनी धमनी की आवाज भी नहीं सुन सकता। प्रत्येक समाज अपने कवि के आगमन की राह देखता है क्योंकि कवि ही वह यंत्र है जिससे समय के ताप की ऊँचाई

अथवा निचाई मापी जाती है। जब तक कवि जन्म नहीं लेता तब तक समाज को यह पता ही नहीं चलता कि उसकी चेतना किस दिशा में और किस स्तर तक विकसित हुई है। सौभाग्यशाली है वह समाज जिसे ठीक समय पर अपना कवि मिल जाता है और सौभाग्यशाली है वह कवि जिसका समाज अंधा या बहरा नहीं होता।'

अंतिम पृष्ठों में कही गई यह बात सब कुछ स्पष्ट कर देती है। पूरे ग्रंथ में जो छटपटाहट है वह यही है कि उस दौर का कवि विरोध क्यों नहीं करता? क्यों वह शब्दों के पत्थर काँच के महलों पर नहीं बरसाता कि उस तरफ का सब कुछ जनता को दिखाई देने लगे? क्यों वह बरबस जनता को कर्म और संघर्ष से हटा-हटा कर भक्ति की ओर ले जा रहा है? इस छटपटाहट को वे जगह-जगह पर व्यक्त करते जाते हैं। पूरे ग्रंथ में काव्य का यह स्वर पूरी गूँज के साथ विद्यमान है। दिनकर जी ने क्षमा किसी को नहीं किया है, कवि कभी भी गलत को क्षमा नहीं करता। कवि कायरता का, पलायन का महिमामंडन नहीं करता। वही तो यह कहने का साहस करता है :

मन की उमंग पर जंजीरें,
तन ऊपर एक लँगोटी है,
आँखें गड्ढे में धँसी हुई,
हाथों में सूखी रोटी है,
यह वही आदमी है जिसकी
पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी,
प्रतिमा जग के सम्मुख धरके...।

(हक की पुकार)

टेरो, टेरो माता लक्ष्मीबाई को।

(‘परशुराम की प्रतीक्षा’ से)

दिनकरजी स्वयं जीवन संग्राम के अन्यतम योद्धा थे। उन्होंने हारने-टूटने की प्रवृत्ति को कभी जीवन में आने नहीं दिया। भौतिक, आधिभौतिक-सभी विपत्तियों को, सम्मुख खड़े होकर झेला। उनके आदर्श थे भीष्म, जिनमें ‘आयी हुई मृत्यु’ को भी सुयोग तक रोक रखने की क्षमता थी।

और, उन्होंने स्वयं जब जीवन के कुरुक्षेत्र से प्रयाण करने तथा देहान्त का उचित समय देख लिया तो महायात्रा पर चल पड़े। श्री अरविन्दाश्रम, पाँडिचेरी या रमणाश्रम, तिरुवन्नमलाई के समीप कहीं पर अपने जीवन का अन्तिम काल बिताने की इच्छा वे व्यक्त किया करते थे। इसी क्षेत्र के समीप उनके अचानक देहत्याग के पीछे उनकी विकसित आत्मा के ही निर्णय का संकेत मिलता है। जीवन की सुख-सुविधाओं के प्रति दिनकर जी तनिक अन्यमनस्क-से थे। वे कहा करते थे कि आदमी अपने सुखों के लिए असबाब जुटाता है और बाद में उन्हीं असबाबों की देखरेख के लिए जीता है।

देश के एक शीर्षस्थ उद्योगपति ने, जो दिनकर जी के मित्र थे, उनसे आत्मीयता से भरकर कहा- ‘आप क्यों नहीं आराम से मेरे साथ रहते हैं! आपको कोई बाधा नहीं पहुँचायी जायेगी। निर्द्वन्द्व होकर रहिए और आराम से लिखिए।’ दिनकर जी मुस्कराये और मित्र की व्यवहार कुशल आँखों में अपनी भावभरी दृष्टि से सीधे देखते हुए बोले - ‘तो आप ही क्यों नहीं लिख देते हो?’ - दिनकरजी असुविधाओं की छाती पर बैठकर रचना करने वाले वीर साहित्यकार थे।

किसी काम से दिल्ली जाने पर उनके आवास पर टिकने का सौभाग्य मिला करता था। ऐसे ही किसी दिन, मैं बिना पंखा खोले, बैठी कुछ लिख रही थी; वे अचानक उस कमरे में आ गये थे। बैठने के पूर्व उन्होंने पंखा खोल दिया और पूछा- ‘तुझे गर्मी नहीं लगती?’ - फिर खुद ही कहा - ‘मैं युवावस्था में तब तक अच्छा नहीं लिख पाता था, जब तक माथे से पसीना न चूने लगे। दरअसल खेत में फसल उगाने और लिखने में अधिक अन्तर नहीं है।’ - साहित्य के क्षेत्र में हीरा-पन्ना-मोती-माणिक उगाने वाले कुशल कृषक थे दिनकर जी।

तो आप ही क्यों नहीं लिख देते हो

सुधा

जन गण मन को प्रेरणादायक शब्दों से उत्साहित कर देने वाले राष्ट्रकवि दिनकर अपनी कृतियों के माध्यम से लोगों के हृदयों में निरन्तर बसे हुए हैं। उनकी इस उपस्थिति में इतनी सक्रियता है कि जब कभी हम अपने को श्लथ पाते हैं, तब उनकी कड़कती हुई पंक्तियाँ हमें धनुष की डोरी तान कर शर-सन्धान के लिए तैयार कर देती हैं। जब कभी हम शुष्कता से तप्त होते हैं, तब उनके अति कमनीय प्रणय-गीत हमें शीतल फुहारों से सिक्त कर देते हैं।

और, सबसे अधिक उनकी ऐसी चेतक उक्तियाँ हमें मन-वचन-कर्म के अनुशासन में बाँधा करती हैं- ‘रोष, घोष, स्वर नहीं, मौन शूरता मनुज का धन है’।

दिनकरजी अपने दायित्वों का निर्वाह करना जानते थे। सांसारिक दायित्व के अतिरिक्त एक समर्थ कवि और चिंतक होने के कारण उन पर यह दायित्व था कि वे राष्ट्र की चेतना को जगायें; इस दिशा में उनकी कलम सबसे अधिक सक्रिय रही है। ‘कुरुक्षेत्र’ के शोकग्रस्त युधिष्ठिर हों या ‘रश्मिर्थी’ के आहत कर्ण या ‘उर्वशी’ के नरपति पुरूरवा; सब-के-सब अपने दायित्वों के साथ प्रतिबद्ध हैं। लेकिन इन महानायकों के उदाहरण प्रस्तुत करने से भी उन्हें संतोष नहीं होता है, तो साफ शब्दों में कह उठते हैं :

झकझोरो, झकझोरो महान सुप्तों को,

टेरो, टेरो चाणक्य-चन्द्रगुप्तों को;

विक्रमी तेज, असि की उद्दाम प्रभा को,

राणा प्रताप, गोविन्द, शिवा सरजा को;

वैराग्यवीर, बन्दा फकीर भाई को,

जन-सामान्य के हृदय की धड़कन

जिनारानी दत्ता भुयाँ

आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय विचारधारा के पोषक और सामाजिक चेतना के गायक दिनकर उन कवियों में से हैं जो बिना किसी 'वाद' में बँधे, जन-जागरण का शंख फूँकने में अग्रसर रहे हैं।

दिनकर जी ने बाल्यावस्था से ही साहित्य रचना आरम्भ कर दी थी। इन्होंने अनेक ग्राम्य गीत भी लिखे थे। दिनकर जी आजीवन साहित्य-साधनरत रहे। इन्हें 'उर्वशी' महाकाव्य पर हिन्दी साहित्य का सर्वोच्च पुरस्कार ज्ञानपीठ प्राप्त हुआ। इस बीच इन्होंने पद्य और गद्य में अनेक रचनाएँ हिन्दी-संसार को प्रदान कीं।

दिनकर की काव्य-कृतियाँ इस प्रकार हैं: रेणुका, हुंकार, द्वंद्वगीत, रसवंती, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, बापू, धूप और धुआँ, रश्मिस्थी, नील कुसुम, नये सुभाषित, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, हारे को हरिनाम, संचयिता एवं रश्मिलोक आदि।

दिनकर की गद्य कृतियाँ हैं: मिट्टी की ओर, अर्द्धनारीश्वर, संस्कृति के चार अध्याय, शुद्ध कविता की खोज, रेती के फूल, उजली आग, काव्य की भूमिका; प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण, लोकदेव नेहरू एवं हे राम आदि।

हिन्दी-संसार में दिनकर की ख्याति प्रधानतः कवि के रूप में है। हालाँकि इन्होंने अपनी किशोरावस्था अर्थात् सन् 1922 से काव्य रचना आरम्भ कर दी थी; किन्तु प्रकाशन की दृष्टि से ये सन् 1929 ई. में पहली बार 'प्रणभंग' के साथ काव्य-मंच पर अवतरित हुए। 'रेणुका' इनकी उल्लेखनीय काव्य-कृति है। 'हुंकार' में इनकी वाणी ओजपूर्ण हो गई है। 'रसवंती' को छायावादी काव्य-धारा में ही घुलमिल जाने वाली एक सरस तरंग कहा जा सकता है। इसकी रचना के समय दिनकर की मान्यता यह थी कि, 'कवि के नाते इसका यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी कोमल भावनाओं की कैद में हत्या नहीं

करे'। 'सामधेनी' में विविध विषय-परक स्फुट कविताओं का संग्रह है। 'कुरुक्षेत्र' द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखित और महाभारत की युद्ध-घटना पर आधारित एक प्रबंध है जिसमें कवि ने प्रश्न उठाया है कि आखिर नरसंहारक युद्धों का उत्तरदायी कौन है? 'बापू' काव्य के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें महात्मा गांधी की प्रशस्ति है। 'धूप और धुआँ' में संग्रहीत कविताएँ विभिन्न सामयिक विषयों से संबंधित हैं। 'धूप' यदि स्वराज्य-प्राप्ति के हर्ष का प्रतीक है तो 'धुआँ' विभिन्न शंकाओं और जन-साधारण के जीवन में व्याप्त असन्तोष का परिचायक। 'रश्मिस्थी' दानवीर कर्ण के चरित्र पर आधारित काव्य है। दिनकर के अपने शब्दों में कर्ण चरित्र का उद्धार, एक तरह से नई मानवता की स्थापना का ही प्रयास है।

'उर्वशी' दिनकर जी का एक समस्या-प्रधान महाकाव्य है। यहाँ इनके समक्ष सबसे बड़ी समस्या है- काम अथवा प्रेम की समस्या और दर्शन तथा मनोविज्ञान के द्वारा इस समस्या का उद्घाटन। और शायद 'उर्वशी' के कवि का यही उद्देश्य भी रहा है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' एक वीर-भावनापरक काव्य है, जिसकी रचना भारत पर चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण की पृष्ठभूमि में हुई थी। इसमें कवि की राष्ट्र-रक्षा की चेतना और शौर्य दर्प को जागृत करने वाली ओजपूर्ण वाणी सुनाई देती है। 'हारे को हरिनाम' शीर्षक रचना दिनकर के जीवन के अन्तिम पड़ाव की सूचक है।

दिनकर के काव्य की भाव-धारा विविधोन्मुखी है। उसमें जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्ति मिली है। इन्होंने आत्मविश्वास, आशावाद, कर्मठता एवं समाजव्यापी सामयिक प्रश्नों के प्रति अपना दृष्टिकोण अनेक कविताओं में व्यक्त किया है। इनकी मुख्य विशेषता यथार्थ-कथन, दृढ़तापूर्वक अपनी आस्था की स्थापना और अस्वीकार्य को चुनौती देना है।

दिनकर छायावादोत्तर-काल के उन कवियों में से हैं जो छायावाद के कल्पनाजन्म निर्विकार मानव के खोखलेपन से परिचित हो चुके थे। अतः हिन्दी काव्य-जगत् पर छाये छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में दिनकर जी की प्रवाहमयी ओजस्विनी कविता का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

इनके अपने शब्दों में 'सोशलिस्ट ही हूँ लेकिन कुछ जरा अधिक देशी हूँ।' इसी प्रकार ये गांधीवादी अवश्य हैं परन्तु शक्ति विहीन विनम्रता की शान्ति

इन्हें स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार दिनकर के काव्य व्यक्तित्व का विकास प्रमुखतः राष्ट्रवादी के रूप में हुआ है। इनका समस्त देशवासियों के नाम यही सन्देश है कि-

स्वातंत्र्य जाति की लगन व्यक्ति की धुन है,
बाहरी वस्तु यह नहीं, भीतरी गुण है।
नत हुए बिना जो अशनि-घात सहती है,
स्वाधीन जगत् में वही जाति रहती है।
वीरत्व छोड़ पर का मत चरण गहो रे!
जो पड़े आन खुद ही सब आग सहो रे!

कवि की गांधीजी के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त हुई है :

सारे सम्बल के तीन खण्ड,
दो बसन एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं की प्रतीक,
पीछे चलने वाली बकरी।

दिनकर कोरी सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा व्यावहारिक कर्मठता पर अधिक बल देते हैं। इन्हें शिकायत है कि -

भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान,
बुद्ध हों कि अशोक, गांधी हों कि ईशु महान,
सिर झुका सबको, सभी को श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुःख दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।

मानव की मानव के प्रति उपेक्षा और भेद-भाव की विभीषिका का चित्रण करते हुए इन्होंने लिखा है :

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।

नवयुग के नवविकास की आकांक्षा रखते हुए दिनकर को अतीत के प्रति आस्था है। इन्हें इतिहास से गहरा मोह है। इनके अधिकांश प्रबन्धकाव्यों के कथानक ऐतिहासिक हैं, इनका कथन है :

प्रिय दर्शन इतिहास कंठ में,

आज ध्वनित हो काव्य बने।
वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने।

दिनकर जी ने जहाँ सामाजिकता और मानवता के गीत गाए हैं, वहीं मानव मन की मूलभूत प्रवृत्ति प्रेम या काम की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। यौवन के उन्माद और शृंगार के आह्लाद की इनके अनेक गीतों में सरस अभिव्यक्ति हुई है-

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द
तृषा प्राणों की पर हे देवि!
एक पल को न सकी हो बन्द।

इसी प्रकार-

दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से,
नहीं जगाता है केवल उद्वेलन, अनल, रुधिर में,
मन में कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

किन्तु यह प्रवृत्ति दिनकर के काव्य की सर्वथा गौण प्रवृत्ति है; प्रमुखता राष्ट्रीय और मानवीय चेतना की ही है।

दिनकर के काव्य का कलापक्ष भी इनके भावपक्ष की भाँति विविध प्रयोगों से समन्वित है। इन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों शैलियों में काव्य रचना की है। इनकी अनेक मुक्तक कविताएँ भी वर्णनात्मक हैं। प्रचलित छन्दों के प्रयोग के अतिरिक्त दिनकर ने अतुकान्त मुक्तक छन्द का भी सफल प्रयोग किया है। उर्दू की रूबाई और नज्म-शैली को भी इन्होंने अपनाया है। एक रूबाई देखिए-

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परस जलाशय के तल की,
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जान बूझ गँदला करते अपने जल को।

दिनकर की भाषा सरल, स्वाभाविक और व्यावहारिक है। उसमें भावाभिव्यक्ति की प्रबल क्षमता है।

आधुनिक युग के सभी कवियों की तुलना में दिनकर की काव्य भाषा में

ही यह विशिष्टता है कि उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण के साथ-साथ ओज गुण का भी यथास्थान प्रभावी समावेश हुआ है। माधुर्य और प्रसाद के विभिन्न उदाहरण लेख में पीछे विभिन्न प्रसंगों में देखे जा सकते हैं। ओजगुण की छटा देखिए-

कह दो शंकर से आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे,
हर-हर बम-बम का महोच्चार !

दिनकर की कविता का भाव एवं विचार-पक्ष जन-सामान्य के हृदय की धड़कन को वाणी देने वाला है, उसी प्रकार इनकी भाषा-शैली भी सहज-सुबोध है। अतः ये जनकवि जैसी गौरवमयी उपाधि के भी अधिकारी हैं।

उर्वशी : अतीन्द्रिय जगत का संस्पर्श मृदुल जोशी

‘उर्वशी’ रामधारी सिंह ‘दिनकर’ कृत एक सफल और उत्कृष्ट रचना है। यह इतनी महत्वपूर्ण है कि विद्वान आलोचकों और कवियों के मध्य सदा चर्चा का विषय रही है। भगवतशरण उपाध्याय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, अज्ञेय, देवीशंकर अवस्थी, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल और नामवर सिंह सदृश मूर्धन्य आलोचकों और कवियों ने समय-समय पर इस कृति के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण रखे हैं। रामविलास शर्मा ‘उर्वशी’ को एक उदात्त काव्य-कृति मानते हैं, जहाँ कवि ने जीवन-सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठाये हैं। मुक्तिबोध इसे एक ‘कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य’ मानते हैं। उनके अनुसार उर्वशी में कवि दिनकर ‘कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि में सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर उस श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित करना चाहते हैं।’ स्पष्टतः दोनों की आलोचना की कसौटियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

कवि की कोई भी कृति एक सुचिन्तित विचारधारा की अनुगामिनी होती है। किसी भी ‘प्लॉट’ पर सोचते हुए उसकी दृष्टि बिल्कुल साफ होती है कि वह चयनित विषय पर क्यों लिख रहा है, क्या लिख रहा है और क्या देना चाहता है? उर्वशी स्पष्टतः एक बहुश्रुत, बहुपठित प्रणय कथा का ही रूपान्तरण है लेकिन इस श्रृंगार-कथा के पीछे एक ‘दर्शन’ भी छिपा हुआ है। दिनकर के ही शब्दों में- ‘इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है। देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु, उसकी दूसरी राह नर-नारी-प्रेम के भीतर से भी

निकलती है, मनुष्य का यह अनुमान अत्यन्त प्राचीन है। तंत्र-साधना के मूल में ऐसा कोई न कोई विश्वास रहा होगा; सहजमार्गियों के मन में कोई न कोई भावना काम करती होगी।... प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है, जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।'

मध्य युग में वैष्णव धर्म में सहजिया संप्रदाय नाम की एक शाखा पैदा हो गई। इस संप्रदाय की स्पष्ट मान्यता थी कि विधि और निषेध दोनों ही अप्राकृतिक हैं। जीवन की वास्तविकता विधि-निषेध से परे सहज मार्ग में है, जिससे परम सुख या महासुख प्राप्त होता है। दिनकर ने इस दृष्टिकोण को न केवल चिंतन की शृंखला के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि स्पष्ट रूप में राग और विराग के अतिरेक को सहजता का द्रोही कहकर इसकी निन्दा की है।

उर्वशी देह से देहातीत होने की कथा है, फिजिकल से मेटाफिजिकल तक पहुँचने तथा भोग से योग तक की यात्रा है। यह काम द्वारा अध्यात्म के धरातल के संस्पर्श की गाथा है। वाममार्गी, कौलमार्गियों ने भोग में रहकर भी योगानुभूति का उद्घोष किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' में रुद्रमाल के-

यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो,
यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः।

श्री सुन्दरी साधक पुंगवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

श्लोक को उद्धृत करते हुए कौलमार्गीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इनका रास्ता सहज है, योगियों का दुरूह। श्रीसुन्दरी साधना के त्रती पुरुषों को योग और भोग दोनों प्राप्त होते हैं। पुरुरवा इसी मत का अनुयायी जान पड़ता है। ओशो के 'सम्भोग से समाधि तक' में भी देह से देहातीत हो जाने की कल्पना को समर्थन मिला है। 'उर्वशी' के माध्यम से भी कवि कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति देना चाहता है जहाँ भोग से योग, द्वन्द्व से द्वन्द्वतीत अवस्था तक पहुँचने की पुष्टि है। दिनकर ने 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' में लिखा है कि प्रेम का प्रारम्भ और भौतिकता में और परिपाक अध्यात्म है। प्रेम पहले

फिजिकल और तब मेटाफिजिकल होता है।

काम को भारतीय चिन्तन में पुरुषार्थ चतुष्टय में स्थान दिया गया है। हमारे पूर्वजों ने जहाँ धर्म, अर्थ और मोक्ष की साधना को आवश्यक घोषित किया, वहाँ काम की साधना या सिद्धि भी आवश्यक मानी। वृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष (ईश्वर) को 'काममय एवायं पुरुषः' कहकर काममय स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना के मूल में भी काम को स्वीकारा गया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मन में बीज रूप में पूर्व से ही काम विद्यमान था-

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

स तो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

इसी प्रकार शिवपुराण, मनुस्मृति, कामसूत्र, पद्मपुराण, नारदभक्तिसूत्र, रामचरितमानस इत्यादि में काम की महत्ता असंदिग्ध बतायी गयी है। स्वयं दिनकर ने भी स्वीकारा है- 'हीन केवल वही नहीं है, जिसने धर्म और काम को छोड़कर केवल अर्थ को पकड़ा है; न्यायतः उकठा काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए, जो धर्म-सिद्धि के प्रयास में अर्थ और काम दोनों से युद्ध कर रहा है।' एक सन्तुलित जीवन में धर्म, अर्थ, काम, तीनों की ही उपयोगिता है। गीता में एक स्थल पर काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताकर उसे त्याज्य बताया गया वहीं दूसरे स्थल पर कृष्ण कहते हैं- 'प्राणी मात्र में जो काम धर्म के अनुकूल है, वही मैं हूँ।' इससे सिद्ध होता है कि जो काम धर्म-विरुद्ध है वही नरक का द्वार है जबकि धर्मानुकूल काम अध्यात्म में बाधक नहीं है। यदि हम प्रकृति व अध्यात्म में विरोध न मानकर विचारें तो काम अध्यात्म का विरोधी दृष्टिगोचर न होगा। 'उर्वशी' की भूमिका में दिनकर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है-

तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्

तत्रासीत् वाणभिन्ना रमणरतिपतेः योगनिद्रां गतेव।

पाश्चात्य जगत् के विद्वान फ्रायड, फ्राउस्ट व हेनरी बेंजामिन ने भी काम को जीवन की प्रमुखतम प्रेरक शक्ति माना है।

इस सृष्टि का रचयिता सर्वशक्तिमान ईश्वर है। इस संसार में न कोई पुरुष है और न कोई नारी, बल्कि दोनों एक ही सत्ता के प्रतिमान हैं। संसार उसी का प्रतिरूप है। ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ न होकर एक-दूसरे की

सहायक हैं। मनुष्य के जीवन में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से अर्थ और काम उसके जैव धरातल पर स्थित रहते हैं जबकि धर्म आत्मिक धरातल पर आसीन होता है। बुद्धि दोनों धरातलों का स्पर्श करती है। अर्थात् बुद्धि एक ओर धार्मिक-क्रियाओं में भी प्रेरणा देती है और दूसरी ओर अर्थ और काम के व्यापारों में भी सहयोग देती है। इन तीनों पुरुषार्थों में से आर्थिक व्यापारों में उसका जितना सहयोग रहता है, उतना शेष दो में नहीं।

धर्म की प्रसूति आत्मिक धरातल से ही होती है तथापि उसकी सार्थकता इसी में है कि वह जैव धरातल पर आकर हमारे जीवन की समस्त सहज आवश्यकताओं के उपार्जन एवं ग्रहण में हमारे आचरणों, क्रियाओं तथा व्यापारों को प्रभावित कर उनमें औदात्य का उज्ज्वल रंग भर दे। इसी प्रकार कला, सुरुचि, सौन्दर्य, ज्ञान तथा प्रेम की उद्भूति जैव धरातल पर होती है, परन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करें। दिनकर समूचे काव्य में इसी मान्यता को लेकर चले हैं।

‘उर्वशी’ का प्रारम्भ तो स्पष्टतः लौकिक प्रेम के रूप में हुआ है, जहाँ किसी भी प्रकार की उदात्त भावना नहीं, केवल वासना की गन्ध है। यही वह अवस्था है जब पुरुष समस्त पुरुषार्थ के रहते भी नारी के आगे घुटने टेक देता है। यही नहीं, स्त्री का आकर्षण तो इतना दुर्निवार है कि संन्यासी हो या गृहस्थ, कोई भी उससे बच नहीं पाया है। यह उस प्रेम का चित्रण है, जो एकांत शारीरिक होता है, जिसमें केवल शारीरिक क्षुधा का स्पन्दन होता है। यह प्रेम की प्रथम अवस्था है। दिनकर प्रेम की इस अवस्था को तो स्वीकारते हैं लेकिन यहीं प्रेम की इति नहीं मानते।

‘उर्वशी’ के आधार पर प्रेम को तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं—दानवी, दैवी और मानवी। दानवी प्रेम या उत्कट वासना का रूप हमें उस दैत्य में दृष्टिगोचर होता है जो कुबेर-भवन से लौटती हुई उर्वशी का बलात् अपहरण कर ले जाता है। प्रेम का यह रूप पाप है, जिसमें मन की ही पतित अवस्था कामासक्त हो बलात्कार के लिये प्रेरित करती है। प्रस्तुत गीति-नाट्य की नायिका उर्वशी अनुपम सुन्दरी है। पुरुरवा उसके अप्रतिम रूप-लावण्य को देखकर ही उस पर आसक्त हुए हैं। सुरपुर की अप्सरा उर्वशी दैहिक प्रेम की इच्छुक है। पुरुरवा एक अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त मनुष्य है। शारीरिक क्षुधा उसे पीड़ित तो करती है लेकिन वह इससे कहीं दूर अतीन्द्रिय लक्ष्य का भी इच्छुक है।

इसीलिए तो राजा पुरुरवा की अन्यमनस्कता उर्वशी को भयभीत कर देती है। उर्वशी तो अविरल आलिंगन, चुम्बन, दर्शन-स्पर्शन की अभिलाषिणी है। उसका विश्वास है कि पुरुष-प्रकृति में कोई भेद नहीं है तथा मनुष्य प्रकृति का अंग है, अतः भगवान है। उससे प्रेम करना इस प्रकार ईश्वर से प्रेम करना सिद्ध होता है। यही उदात्त प्रेम मनुष्य के जीवन का उन्नायक है।

पुरुरवा का भौतिक प्रेम उसे आध्यात्मिक जगत में पहुँचा देता है। सम्भवतः उसमें काम का वह रूप था जो ईश्वर की ओर उन्मुख करता है। वह नर और नारी को एक ही मूल सत्ता का प्रतिमान समझने लगता है। पर वह यह भी मानता है कि प्रेम उसकी ऊर्ध्व प्रगति में बाधक भी है व साधक भी। इसीलिए वह देह का अतिक्रमण करना चाहता है।

वस्तुतः पुरुरवा आत्मसाक्षात्कार की ही इच्छा रख रहा है। वह नाम व रूप से परे अपने वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता है। नायिका उर्वशी दार्शनिक के रूप में यह बताने की चेष्टा करती है कि मनुष्य को विधि-निषेध से परे निष्काम कर्म करना चाहिए। अधिक मनन-चिन्तन तो खिन्नता का कारण है। काम तो धर्म है। यह तो पाप रूप तब होता है जब आसक्त मन विकारपूर्ण हो जाता है। सहजाकर्षण से मिलने वाले प्रेमियों का काम पाप नहीं। मनुष्य प्रकृति का अंग है व प्रकृति परमेश्वर से भिन्न नहीं है। पुरुरवा संशयग्रस्त है लेकिन उर्वशी की दृष्टि बिल्कुल साफ है। वह प्रकृति को ईश्वर-प्राप्ति में बाधा नहीं मानती। वह तो प्रकृति को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानती है। द्वंद्व झेलते-झेलते पुरुरवा भी अब स्पष्ट समझने लगा है कि ईश्वर रचित सृष्टि में प्रकृति के आकर्षण से निकलना आसान नहीं है क्योंकि यह तो उसी की इच्छा का प्रसार है। यहाँ पुरुरवा ‘गीता’ के इस श्लोक के बहुत नजदीक है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

स्पष्टतः पुरुरवा इस तथ्य को भी समझ रहा है कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर की इच्छा ‘एकोऽहम् बहुस्याम्’ के आधार पर हुआ है। उसी एक रूप का प्रसार स्त्री-पुरुष के अनेक रूपों में है। उसी की इच्छा मात्र से सृष्टि का चक्र चल रहा है। उसी की इच्छा के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष का परस्पर दुर्निवार आकर्षण सृष्टि की निरन्तरता का कारण बना है। यहाँ दिनकर कामायनीकार के विचारों के बहुत नजदीक जा बैठते हैं। कामायनीकार ने भी

काम को सृष्टि का मूल कारण स्वीकारते हुए इसे महाचिति की इच्छा का परिणाम माना है।

उर्वशी का स्पष्ट मानना है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए संसार से भागने की आवश्यकता नहीं। नैसर्गिक वृत्तियों का दमन कर अध्यात्म कदापि प्राप्त नहीं होगा। उर्वशी संभवतः राजा जनक के अधिक निकट है जहाँ वे 'जोग भोग महँ राखेउ गोऊ' को सार्थक सिद्ध करते हुए भोग में भी निर्लिप्त बने हैं।

'शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्' के समान ही दिनकर भी शरीर को अध्यात्म में जाने का माध्यम मात्र मानते हैं। लेकिन जिस तरह से साधन साध्य नहीं हो जाता ठीक उसी प्रकार यह यात्रा केवल शरीर पर ही समाप्त नहीं हो जाती। उनका लक्ष्य तो शरीर के द्वारा एकाग्र मन की उस स्थिति तक पहुँचना है जहाँ अव्यक्त का साक्षात्कार होता है। दैहिक प्रेम से गुजरकर वायवीय प्रेम अथवा अलौकिक प्रेम तक पहुँचना ही उनका लक्ष्य है। यह स्थूल से होकर सूक्ष्म तक पहुँचने की यात्रा है। ईश्वर तक पहुँचने की यह राह शरीर से गुजरती है। वैसे तो किसी भी स्थिति में शरीर को नकारा नहीं जा सकता। डॉ. कुमार विमल ने इसी अवस्था को 'वासना से दर्शन' तक की यात्रा माना है। दिनकर ने पुरुरवा को शनैः शनैः दिव्य लोक का विहारकर्ता बनाया है। उदात्त प्रेम की स्थिति में प्रेमी का मन अनासक्त होने लगता है। उसका हृदय पुकार उठता है कि नारी का दैहिक सौन्दर्य केवल भोग की वस्तु नहीं है। उद्दीपन की प्रक्रिया प्रेमी को प्रिया की गोद में तो पहुँचाती है लेकिन आत्मिक पिपासा, विकलता उसे ऊर्ध्वगमन हेतु प्रेरित करती है। प्रेमी मन की दशा विचित्र है। कभी वह प्रेयसी की रूप-विभा में विराट् विभा (ब्रह्म) का दर्शन करता है, तो कभी प्रकृति में साकार उस विराट् विभा की अनुपम छटा के अंश को रमणी के लावण्य में निहारता है। इस प्रक्रिया में कभी वह सांसारिक प्रेम से ओत-प्रोत होता है तो कभी इसके सहारे ईश्वरीय प्रेम तक पहुँच जाता है। उर्वशी अद्वैत को स्वीकारती है, परन्तु प्रकृति को माया-मृषा न मानकर सत् मानती है। प्रकृति माया नहीं, माया तो भ्रान्त बुद्धि है जो मानव को द्विधाग्रस्त रखती है। निःसन्देह द्वैतभाव मन की कृति है, प्रकृति में कहीं भी द्वैत नहीं है। यहाँ उर्वशी 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धन मोक्षयोः' का उद्घोष करती प्रतीत होती है। मन में बसे राग-विराग शान्ति-समता में बाधक हैं, अतः आत्मा को दोनों से विमुक्त रहना ही उचित है। हम सब अकालुष प्रमोद के इच्छुक हैं, परन्तु आनन्द

निरामय है, वह स्वतः उद्भूत होता है। उर्वशी यही तो पुरुरवा को समझाना चाहती है कि ईश्वरीय आनन्द स्वयं से ही उद्भूत होगा, उसके लिए बेचैन होकर भटकना कदापि उचित नहीं है।

वास्तव में अकाम आनन्द उन्हीं को प्राप्त होता है जो सुखों को निमन्त्रित नहीं करते और न दुःखागमन पर दृष्टि डालते हैं। यहाँ दिनकर की दृष्टि 'गीता' के 'सुखे-दुःखे समे कृत्वा' के समकक्ष जा बैठी है। जब व्यक्ति राग-विराग, सुख-दुख, मान-अपमान, हानि-लाभ से परे कामना शून्य हो जाता है, ईश्वरीय आनन्द उसकी झोली में आ गिरता है। कर्मठ बनकर प्रकृति में रमना ईश्वर में रमना है। आसक्तिमय काम पाप व निरासक्तिमय काम पुण्य है; अध्यात्म है।

यदि हमें परमात्मा तक पहुँचना है तो प्रेम (काम) का आनन्द लेना चाहिये क्योंकि पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी। 'उर्वशी' की चित्रलेखा भी यही कहती है।

यह प्रेम मांसल धरातल का परित्याग कर कुछ उच्च भावनाओं की परिधि में आ जाता है तो वायवीय हो जाता है। केवल शरीर ही आकर्षण का कारण न रहकर, भावना प्रबल हो उठती है। इससे अलौकिक प्रेम का दर्शन हो सकता है। 'गीता' में एक स्थान पर लिखा है कि जो समस्त प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है- या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतां मुनेः। यही भाव पुरुरवा इस प्रकार प्रकट करते हैं :

*निशा योग-जागृति का क्षण है और उदग्र प्रणय की
एकायनिक समाधि; काल के इसी गरुत के नीचे
भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं,
योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिंगन में।*

योगी ही नहीं, प्रेम की उदात्तावस्था में भोगी भी देश-काल का अतिक्रमण कर परमानन्द का आभास कर लेता है। सहजमार्गियों, तंत्रसाधकों व वाममार्गियों ने मोक्ष के द्वारा ईश-प्राप्ति की जो कल्पना की थी, वह त्रुटिपूर्ण नहीं है। केवल आसक्ति रहित हो, मनोमय कोश में पहुँचकर किया गया प्रेम ईश्वर-प्राप्ति कारक होता है। मांसल और वायवीय प्रेम का कारण देह नहीं है, मन है। देह तो यंत्र-मात्र है-

*तन का क्या अपराध? यंत्र वह तो सुकुमार प्रकृति का;
सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।*

यह तो मन ही है, निवास, जिसमें, समस्त विपदों का;
वही व्यग्र, व्याकुल, असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से
हाँक-हाँक तन को उस जल को मलिन बना देता है,
बिम्बित होती किरण अगोचर की जिस स्वच्छ सलिल में,
जिस पवित्र जल में समाधि के सहस्रार खिलते हैं।

तात्पर्य यह कि दूषित मन का अनुगन्ता शरीर पापाचार करता है परन्तु यदि मन दूषित नहीं तो जितेन्द्रिय मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप नहीं करता। निष्कलुष पुरुरवा तभी तो उर्वशी में अनन्त सौन्दर्य का दर्शन कर लेता है। उर्वशी भी इसका समर्थन करती है।

नारी प्रकृति रूप है। प्रकृति से डरकर, दूर भागकर परम पुरुष के दर्शन नहीं हो सकते। निष्कामतः प्रकृति भोग कर भी उसमें चिर परमसत्ता की झलक दिखायी पड़ सकती है। दिनकर के अनुसार दैहिक-मांसल प्रेम, प्रेम का प्रथम सोपान है। शारीरिक नयनों में झाँककर, देह-त्वचा का स्पर्श-सुख प्राप्त करके ही वह आत्मिक सौन्दर्य की ओर बढ़ता है। धीरे-धीरे मानसिक वृत्तियाँ उदात्त हो जाती हैं। जैव आकर्षण का विमोह हो जाता है और ऐसा आभास होता है कि इसके परे भी कुछ है जिसे प्राप्त करना हमारा ध्येय है। प्रेमी-साधक ही ऊर्ध्व लोक के इन द्वारों को खोलने में समर्थ हो सकता है। इस तथ्य को दिनकर ने अपने शब्दों में प्रकट किया है-

‘नारी नर को छूकर-तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिलते हैं तब भी, उनके भीतर एक ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है। नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पन्द हो जाता है। और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है। परिम्भ-पाश में बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है। इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक

महिमा है।’

दिनकर ने प्रेम की उदात्तीकृत स्थिति को समाधि के समकक्ष ठहराया है। यह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रसरण है, अन्नमय कोश में पहुँचकर आनन्दमय कोश की यात्रा है, मांसलता के सहारे वायवीयता का संस्पर्श है, फिजिकल से मेटाफिजिकल की उड़ान है। नर और नारी का प्रारम्भिक प्रेम सौन्दर्य और भोग के रूप में स्थापित होता है। परन्तु यही भोगवाद चिंतन का संस्पर्श पाकर अध्यात्म की भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब प्रेम ब्रह्म-सहोदर के रूप में व्यक्ति को प्रेमी से संन्यासी बना देता है। पुरुरवा इसी सन्धान में है। पुरुरवा बारम्बार अन्तिम सत्य तक पहुँचने के चिन्तन में निमग्न रहता है। उर्वशी द्वन्द्वग्रस्त पुरुरवा से स्पष्ट करती है कि ईश्वर प्राप्ति के लिए द्वन्द्वात्मक परिधि से ऊपर उठना पड़ेगा। वस्तुतः ‘उर्वशी’ के अनेक वाक्यों में योग के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ स्थितप्रज्ञ की-सी स्थिति दिखाई पड़ती है। हमारे शरीरावयव स्थूल और मृत हैं, किन्तु हमारी प्रेम-विभा सूक्ष्म और शाश्वत है।

यद्यपि गजानन माधव मुक्तिबोध ने ‘उर्वशी’ के सन्दर्भ में ‘कामाध्यात्म’ शब्द के प्रयोग पर आपत्ति व्यक्त करते हुए कामाध्यात्म को गोल-मटोल शब्द कह दिया है। उनका मानना है कि यदि इसका अर्थ काम और अध्यात्म के मध्य द्वन्द्व है तो स्वीकार्य है। अन्यथा इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारी दृष्टि में पुरुरवा हो चाहे उर्वशी, स्थान-स्थान पर देह के माध्यम से अध्यात्म के शिखर पर पहुँचने की कोशिश की गई है। अतः इन्द्रियों के द्वारा अतीन्द्रिय अलौकिक सत्ता की प्राप्ति ही इसका अर्थ है।

‘उर्वशी’ में जिस भोग सुख के माहात्म्य की स्वीकृति है, उसे वैदिक काल से ही आर्यों ने स्वीकारा था। ऋग्वेद में काम की उपासना कामेश्वर के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था।

इस प्रकार ‘उर्वशी’ में जिस काम के माहात्म्य अथवा आनन्द का निरूपण है वह हमारी अत्यन्त प्राचीन धारणा व पाश्चात्य धारणा, दोनों के अनुकूल है। दिनकर ने चित्त की समता, विधि-निषेध की निरर्थकता और निष्काम भाव के निरूपण में ‘गीता’ का आधार ग्रहण किया है।

रति उर्वशी की, राग पुरुरवा का रामशंकर त्रिपाठी

दिनकर राग के अतुल्य उद्गाता हैं। उनके राग में कुण्ठित वर्जना नहीं है। वह प्रसन्न और निर्बन्ध है। रति-विभाव के उभय पक्षों यानी आश्रय और उसके समस्त अनुभावों तथा आलम्बन और उसके यावत् उद्दीपनों से वह परस्परानुबिद्ध एवं सम-समान बद्ध है। उसमें छद्म राग की अगतिशीला नैतिक वर्जना का लव-लेश नहीं है। तभी वह सनातन भी है, आधुनिक भी।

यह मानी हुई बात है कि किसी भी चीज का मान-मूल्य अथवा अर्थ उसके समान या फिर उसके प्रतीप रूपों अथवा तत्त्वों के परिपाश्वर्य अथवा सम्मुखीनता में अधिक उजागर होता है, साफ दीखता है। इसलिए दिनकर की राग-वार्ता के साथ यदि उनके पूर्वापर सहवर्ती भारतीय तथा विदेशी कवियों, लेखकों को भी देखते चलें तो दिनकर साफ दिखेंगे, कम से कम उसकी सम्भावना बढ़ जाएगी।

दिनकर एक ओर छायावाद की कनक-आभा से आभासित हैं, तो दूसरी ओर प्रयोगवाद अथवा नई कविता की नवता से आकल्पित। इसलिए छायावादी बृहत्-त्रयी एवं प्रयोगवादी शलाका-पुरुष के रति-रभस के साथ दिनकर के रति-राग को (उनके 'उर्वशी' काव्य के पुरुरवा-उर्वशी के ब्याज से) अनुभावित किया जाय तो ठीक ही होगा। किन्तु यह पहले ही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इनमें से किसी से भी वे प्रकटतः प्रभावित नहीं हैं। प्रभाव-प्रस्तार यदि किसी का दीखता है, तो वे हैं अंग्रेजी कवि-कथाकार डी.एच. लारेंस या फिर अंग्रेजी चिंतक बर्ट्रेण्ड रसेल। लारेंस जैसा काम-कथायन और रसेल जैसा काम-चिंतन विरलतर है। अस्तु, इन दोनों का दिनकर पर अमोघ प्रभाव है।

सबसे पहले प्रसाद। प्रसाद का राग वर्जनामय है और इसीलिए वह अध

खुला और गोपनशील है। (इसीलिए उसका आकर्षण तीव्रतर और दुर्निवार है।) सामाजिक दृष्टि से रति-राग अथवा प्रेम दो प्रकार का होता है- स्वकीयापरक और परकीयापरक। स्वकीयात्मक प्रेम को सामाजिक, नैतिक मान्यता प्राप्त होती है। इसलिए वह वैध कहलाता है। सुस्थिर वैधता के कारण वह सामान्य, अनावेगमय, सम्प्रतिष्ठ एवं अगतिक होता है। परकीया राग वैयक्तिक होता है- समाज द्वारा अक्सर अमान्य, इसलिए प्रायः आत्यन्तिक आवेग-उदग्र, निर्बन्ध और निर्झर-गतिमान होता है। स्वकीयानुबिद्ध सम्बन्ध अनुष्ण, उपयोगाश्रित, समाज-साकांक्ष और नीति-चक्षु होता है। वह प्रायः छद्म प्रेमाभाषी ही नहीं, राग-रहित भी हो सकता है। वह मनःशून्य होकर भी मात्र देह-रूप से बाध्यतः सह-अस्तित्व बनाये रख सकता है। स्वकीयानुबिद्ध सम्बन्ध की यही बाध्यता अक्सर नर-नारी को इन जड़ीभूत शृंखलाओं को तोड़ निर्बन्ध हो जाने के लिए अग्रोन्मुख करती रही है।

प्रसाद जी का रागारुण मानस परकीय-प्रसन्न प्रेम की ओर प्रायः उन्मुख रहा है। किन्तु, उनकी अन्तर्मुखी प्रकृति और उनका शिष्ट-शालीन, और इसीलिए अपरिहार्यतः समाजभीरु स्वभाव उन्हें खुलकर निर्बन्ध-भाव से सर्वांग सम्मेल परकीया-भाव से दुराता रहा है। चाहे उनका चन्द्रगुप्त हो जो मालविका, कल्याणी और कार्नेलिया की ओर लगभग एक ही समय में तरलित-तरंगाणित होता रहता है; चाहे स्कन्दगुप्त हो जो अशीघ्र-समाप्य, दुर्निवार रूपाकर्षण विजया के विभाव से ही अनुभव करता है; चाहे मनु हो जो इड़ा की ओर अप्रतिरोध्य भाव से उमड़ता गिरता है या फिर प्रसाद का 'मैं' हो जो 'आँसू' की पुंश्चली प्रमदा के परिरंभ-कुंभ की मदिरा से मदहोश और निःश्वास-मलय के झोंकों से कंटकित हो उसके मुखचन्द्र-चाँदनी-जल से मुँह धोकर सवेरे उठता है- सब के सब परकीया-राग में आचूड़ निमग्न हैं। उनके समस्त नायकों में स्कन्दगुप्त से अधिक शालीन, अधिक प्रज्ञ, अधिक आत्मस्थ, अधिक विवेकशील, अधिक दूरदर्शी, अधिक कोमल मनःप्राणवान, अधिक सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न शायद ही कोई दूसरा हो; किन्तु प्रसाद की परकीयापरकता के कारण उस स्कन्दगुप्त की दृष्टि भी पहले विद्युत-तरला विजया पर ही टिकती है जिसमें सामान्य-सजग दृष्टि भी तत्क्षण अनेकनिष्ठता का अन्तःप्रज्ञात्मक आभास पा लेती है। देवसेना के प्रति स्कन्दगुप्त का प्रेम परिस्थिति की अनिवार्यता से उपजा है और उसमें भी सक्रिय भाव देवसेना की ओर से ही

जाग्रत होता है। स्कन्द का देवसेना के प्रति प्रेम 'पैसिव' है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो स्कन्दगुप्त इस प्रेम का आलम्बन ही रह जाता है। वह आश्रय की स्थिति में नहीं पहुँच पाता; पहुँचता भी है तो निःस्व, वीतराग एवं सर्व-अनाश्रय होकर। यहाँ प्रेरक तत्व मानवीय नैतिक बोध है, निर्बन्ध मनोराग नहीं।

मनु तो खैर 'रफ़', 'रा', अकृतकारक, वासना-विकल मानव ही है। रति-राग को वपु-भोग से परे वह और कुछ जानता-समझता ही नहीं। श्रद्धा की कुसुम-कोमल, मधुमादन देह से अपनी रुधिर-वह्नि बुझाकर और फिर सहज-लब्धा, एक-रस, स्वकीय राग से ऊबकर वह नये आलम्बन के अन्वेषण-क्रम में इड़ा पर नजर गड़ाता है। जब वहाँ वह अफल-मनोरथ होता है, तब चालाकी-भरे दयनीय भाव से श्रद्धा के आँचल की ओट में अपने मन की तपन बुझाने की कोशिश करता है। लगता है कि परकीया-राग की अनैतिकता पर स्वकीया-प्रेम की विजय हो गयी; किन्तु ध्यान से देखें तो स्पष्ट भासेगा कि प्रसादजी के विभ्राट् दार्शनिक तेवर के बृहत-चन्द्रातप के बावजूद मनु का मन श्रद्धा के अनुष्ण, आवेग-शिथिल, पर्युषित राग से लेश मात्र भी जुड़ नहीं पा रहा है। परिणामतः वह छद्म स्वकीया-प्रेम को धारे हुए अन्तर से वीतराग हो, दर्शन की कुहरिल स्वरगंगा में अवगाहन करने लगता है। और, 'आँसू' के प्रसाद की परकीयानुबिद्धता तो बिना कहे ही उजागर है।

अब निराला। निराला का राग स्वकीयात्मक है। उनका प्रेम अनल्प राग-रंजित भी है, अक्षीण भावोष्म और अमित आनन्द-शीतल भी। उसका कारण है कि उनमें अन्तरीण अस्वस्थ वर्जना अथवा बाह्य नैतिक निषेध नहीं है। उनका राग छद्मावृत नहीं है। इसीलिए आवेग के ज्वार में यदि वे परकीया की ओर उन्मुख भी होते हैं तो उसे केवल भोग्य-भाव से ग्रहण करके अनन्तर विस्मर्त्तव्य मानते हैं; मानते ही नहीं, विस्मृत भी कर देते हैं। स्वकीया-प्रेम के जैसे आनन्द-प्रमन बिम्ब निराला ने दिये हैं, वैसे तुलसीदास को छोड़कर हिन्दी साहित्य ही नहीं, संस्कृत साहित्य में भी कोई दूसरा कवि नहीं दे सका है। (गुप्त जी इस मामले में निराला से टक्कर नहीं ले सकते। कथाकारों में अमृतलाल नागर ने अवश्य ही स्वकीया-प्रणय के रम्योज्ज्वल बिम्ब रचे हैं।) कालिदास की मूल मानसी वृत्ति परकीया-परक ही है- अप्राप्ति-विकल, आवेग-आकुल। स्वच्छ स्वकीयात्मकता के कारण ही निराला की वीतरागता सच्चे संन्यासी की है। संन्यासी तो प्रसाद का मनु और वीतराग 'आँसू' का 'मैं'

भी हो जाता है, किन्तु उनके अन्तरतम में अतीत राग की शिंजिनी अहर्निश बजती रहती है। एक का संन्यास निषेधमूलक है, दूसरे की वीतरागता अप्राप्ति-हेतुक। मनु की तुलना में पुरुरवा का संन्यास अधिक 'रियल' है। वह वैदिक प्रवृत्तिवाद का अनिवार्य 'चतुर्थ आश्रम' लगता है। पुरुरवा का संन्यास स्वयं-प्रेरित है, मनु का परेरित। पुरुरवा में आन्तरिक प्रशमन एवं कारण-कार्य-परिणमित तात्त्विक ध्यन्तरण है, जबकि मनु की वीतरागता बाह्यतः आरोपित एवं परमुखापेक्षी है। इसीलिए भिन्न कारणों से निराला और दिनकर एक ही सम-स्थिति में आते दीखते हैं।

और जहाँ तक पन्त की बात है, वे स्वकीया से ही नहीं, परकीया से भी कभी परिपूर्ण लगनता की निबिड़ अनुभूति नहीं कर पाते। वे दूर से लखते हैं, ललकते भी हैं; किन्तु न पाते हैं, न पाने का उद्यम करते हैं। उनका रति-राग काल्पनिक अधिक है: देह-मन-प्राण के सहोत्थित भाव से विरहित, कल्पना-कुहरिल, वायवीय।

इस प्रकार, प्रसाद का प्रेम वर्जनामय, मदालस, निबिड़, लोल, छद्म दर्शनावरणी; निराला का प्रेम प्रशमित, प्रकाम, प्राणोष्म, विमल, वीतरागी और पन्त का प्रेम काल्पनिक, चटुल-लुब्धा, झीना, अनुष्ण और राग-विरल है। रियल, निर्बन्ध, निबिड़, निर्भर और आत्यन्तिक राग दिनकर का है जहाँ कुण्ठित वर्जना नहीं, निःसाहस निषेध नहीं, अगतिक नीति-इंगित नहीं। मध्ययुगीन निवृत्तिमार्गी धर्मो-सम्प्रदायों ने निषेध का एक ऐसा अटाटोप खड़ा कर दिया था कि देह-मन-प्राण के सुकुमार, कौशेय तत्त्व कुत्सित, कदर्य घोषित कर दिए गये और रागोन्मुखता पापोन्मुखता का पर्याय बना दी गई। किन्तु राग पर निषेध ी नियंत्रण अस्वाभाविक ही नहीं, अमानवीय भी सिद्ध होता रहा है। राग अथवा काम को अपदस्थ करने की चाहे जितनी चेष्टा की जाय, दिनकर के शब्दों में, वह बार-बार सिंहासन के ऊपर आ बैठता है और शास्त्र एवं नैतिकता के प्रहरी उसे बाँधने की जो भी तैयारी करते हैं, उस पर सेक्स का देवता व्यंग्य से मुस्कराता है, मानो वह यह कह रहा हो कि उतने बन्धन तो मैं तोड़ चुका, देखूँ- इस बार तुम कैसी कड़ियाँ तैयार करते हो!

निवृत्तिमार्गी धर्माध्यात्म से निषेध-प्रेरित मनुष्य अक्सर छद्म-प्राकृतिक हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसका आन्तर-बाह्य सामरस्य क्षयिष्णु और स्वास्थ्य रोगग्रस्त हो उठता है। लारेंस इसी छद्म-काम-सभ्यता का प्रबल

विरोधी रहा है और स्वस्थ निर्वन्ध काम का भारी समर्थक। उसका कहना है कि हम कितना भी कठोर और संयमी बनने का अभिनय क्यों न करें, हम में से अधिकांश लोग सेक्स के सामान्य जागरण को पसन्द करते हैं। सेक्स हमें उष्णता प्रदान करता है, किसी बदली के दिन में प्रकट होने वाली धूप की तरह उत्तेजित करता है, हम में जिन्दगी की लहर दौड़ा देता है। मानव-जीवन में सेक्स बड़ा ही शक्तिशाली, लाभदायक और आवश्यक तत्व है और हमें इसका कृतज्ञ होना चाहिए। दिनकर की उर्वशी लगभग लारेंस की ही भाषा बोलती है-

वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक जल उठते हैं
वह आलिंगन अन्धकार है, जिसमें बँधा जाने पर
हम प्रकाश के महासिंधु में उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं?

लारेंस की मान्यता है कि सेक्स एक सर्जनात्मक शक्ति है। इसका सदुपयोग हो तो आदमी बहुत ऊँचा उठ सकता है, दुरुपयोग होने पर पशु से भी हीन बन सकता है। यह बात दिनकर भी कहते हैं, किन्तु डॉ. विजेन्द्र इसमें ठीक ही लारेंस का प्रभाव नहीं देखते -

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु-जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।

लारेंस का कहना है कि संसार की आधी महान कविताएँ, चित्र, संगीत और कहानियाँ यौन-आकर्षण के कारण महान हैं। दिनकर की उर्वशी आत्म-परिचय में एक कदम और आगे बढ़कर कहती है-

भू-नभ का संगीत-नाद निर्मल निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जय-गान एक मेरी त्रयलोक-विजय का है।

प्रेम में, यौन-समागम में, नर और नारी दोनों ओर से आदान-प्रदान होता है। लारेंस का कहना है कि ऐसे क्षण में कुछ नया हमारे व्यक्तित्व में प्रवेश करता है, और कुछ पुराना चल देता है। नर से नारी को स्फूर्ति प्राप्त होती है

और नारी से नर कुछ लेकर अपने को सींचता है। दिनकर भी इस 'कुछ' के आदान-प्रदान को रेखांकित करते हैं-

यह प्रसाद उस आत्म-रूप का जिसे विमुग्धा नयन से
प्रक्षेपित करता है प्रेमी पुरुष प्रिया के मन में।
मौन ग्रहण यह उन अपार शोभाशाली बिम्बों का
जो नारी से निकल पुरुष के मन में समा रहे हैं।

जिसे दिनकर ने 'शोभाशाली बिम्ब' कहा है, उसे लारेंस ने 'न्यू स्टिमुलस' माना है। यह आदान-प्रदान ही सेक्स की शक्ति है। पुरुरवा-उर्वशी के युग्म में इसी की संसिद्धि हुई है। उर्वशी वह नारी है जिसकी खोज पुरुरवा को है। इस नारी के बिना उसका व्यक्तित्व अपूर्ण है। इस अभाव-हेतु का उसे ठीक-ठीक पता नहीं। उर्वशी को देखकर उसे अहसास हुआ कि उसका जीवन अब तक छुँछा बना रहा। इसलिए उर्वशी को पाकर वह निहाल हो उठता है-

सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं?
गहा चाहता सिन्धु-प्राण को कौन अदृश्य किनारा?
छुआ चाहती किसे हृदय की फोड़ रक्त की धारा?
कौन सुरभि की दिव्य वेलि प्राणों में गमक उठी है?
नयी तारिका कौन आज मूर्धा पर चमक उठी है?

किस पाटल के गन्ध-विकल दल उड़कर अनिल-लहर में
मन्द-मन्द तिर रहे आज प्राणों के मादक सर में?

दिनकर ने इसी पृष्ठभूमि पर छद्म प्रेम की प्रतिक्रिया में उत्पन्न घृणा अथवा विराग की मार्मिक व्याख्या की है। जब से पुरुरवा का उर्वशी से मिलन हुआ, तब से दिनकर ने कभी भी पुरुरवा-औशीनरी का मिलन नहीं दिखलाया। अन्त तक भी वे नहीं मिलते। डॉ. विजेन्द्र के अनुसार, यह दिनकर की अभूतपूर्व कलात्मक उपलब्धि है। हिन्दी कविता में पहली बार प्रेम के बिना सेक्स बेमानी बनता है। सेक्स की सारी सार्थकता प्रेम से है। शरीर और शरीर का मिलन प्रेम नहीं होता। प्रेम में शरीर, मन और आत्मा-तीनों के धरातल पर नर-नारी एकाकार होते हैं। औशीनरी से पुरुरवा को वह नहीं मिला था जो प्रेम प्रणयी को प्रदान करता है। इसलिए उर्वशी को देखकर, उसे पाकर वह सब-कुछ भूल जाता है।

रसेल की अवधारणा है कि वे सभ्य मनुष्य, जिन्हें किसी प्रकार का निषेध

नहीं रहता, सामान्यतः एक नारी से सन्तुष्ट नहीं होते। वे किसी एक व्यक्ति से प्रेम में उलझ सकते हैं और कुछ वर्षों तक गहरे प्रेम में डूबे भी रह सकते हैं, किन्तु कुछ दिनों बाद वे महसूस करने लगते हैं कि यौन-सन्निधि ने उनकी वासना को शिथिल बना दिया है और तब वे पुरानी ताजगी की प्राप्ति के लिए दूसरी हरीतिमा की ओर आँख उठाते हैं। रसेल का कहना है कि नैतिकता का अधिक ख्याल रखने वाले लोग इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण पा लेते हैं, परन्तु इस प्रवृत्ति के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। हर पुरुष में यह प्रवृत्ति सदैव बड़ी उत्कटता से विद्यमान रहती है। यह वृत्ति यदि आत्यन्तिक भाव से एकोन्मुख हो जाय, तो वहाँ नैतिक-अनैतिक, स्वकीय-परकीय का प्रश्न समाप्त हो जाता है। पुरुरवा-उर्वशी की यह आत्यन्तिक परस्परानुखता उनके प्रेम को स्पृहणीय बना देती है। यही नहीं, पुरुरवा का उर्वशी के प्रति प्रेम इतना उत्कट है कि वह अपनी तीव्रता किसी भी क्षण रंच मात्र क्षीण नहीं पाता। उर्वशी के वियोग में पुरुरवा घोर विकल हो संन्यास ले लेता है- उसके अभाव में सारे संसार से निपट विराग महसूस करते हुए।

तत्त्वतः, सतीत्व या नर-नारी-सम्बन्ध की एकनिष्ठता प्रेम से उपजती है। लारेंस की लेडी चैटरली भी जब वाञ्छित पुरुष पा जाती है, तब कहती है : 'अब मैं नारीत्व की पवित्रता से प्रेम करती हूँ। मैं इसे वैसे ही चाह रही हूँ जैसे हिम-बिन्दु हिम के प्रति चाहना रखते हैं। मैं इस पावनता से प्रेम करती हूँ जो हमारे प्रणय की प्रशान्ति का विश्रामस्थल है। कितना अच्छा है पावन होना शीतल जल वाली उस नदी के समान जो मुझे अपने अंतर में प्रवाहित होती महसूस होती है!'

वस्तुतः, नर-नारी भटकते तब हैं, जब वे दम तो भरते हैं प्रेम का, किन्तु उनका प्रेम छलना होता है। जो एक बार वास्तविक प्रेम का स्वाद पा लेता है, वह कभी भटकता नहीं। पुरुरवा फिर कभी औशीनरी के पास नहीं जाता, उर्वशी के वापस स्वर्ग चले जाने के बाद भी नहीं। हमारे युग की प्रणय-भावना का इतना प्राणोष्म आख्यान, दिनकर के सुधी अध्येता डॉ. विजेन्द्र के अनुसार, हमारी भाषा के किसी और कवि ने नहीं लिया।

'उर्वशी' में दिनकर रेखांकित करते हैं कि काम-समागम के क्षणों में नर-नारी में डूब जाता है और नारी-नर में लीन हो जाती है। इस काम-समागम की तन्मयता से नर और नारी, दोनों का ही एक प्रकार से पुनर्जन्म होता है।

काम अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह तो मात्र 'कूड' जैविक बुभुक्षा है। उसकी सार्थकता प्रेम से सिद्ध होती है। कालिदास की पार्वती भी काम-गन्धी रूप की व्यर्थता का अहसास करके उसे प्रणय के ताप में तपाकर अव्यर्थ हेम-शुद्धता प्रदान करती है। 'कुमारसंभव' का पूरा-का-पूरा पंचम सर्ग इसी कामाध्यात्म को मिथकीय कथ्य-साकारता देने का उत्कट काव्य-कर्म सम्पादित करता है।

सच्चा राग-सान्द्र काम स्थूल नैतिकता-अनैतिकता के घेरे से ऊपर होता है। मानस-आप्यायी और प्रेमल काम नैतिकता के विधि-निषेधमय स्थूल निकष पर कसे जाने का मोहताज नहीं। वह आत्म-काम और प्रिय-निष्ठ होता है; इसलिए वह प्रेय और श्रेय, दोनों एक साथ है। तभी दिनकर की 'उर्वशी' परकीया राग का संगायन करने के बावजूद नैतिकता-अनैतिकता की जड़ीभूत सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाती है। तत्त्वतः, प्रेम में परकीयत्व तभी तक होता है जब तक वह देह मात्र की सीमा में बँधा होता है, केवल वपु-भोग को अपना अन्त मानता है। किन्तु जब वह अबाध राग से आप्लुत होकर देह-सोपान से चलते हुए आश्रय और विषय आलम्बन को एकत्व की अद्वय स्थिति में पहुँचा देता है, तब वह तथाकथित स्वकीय-भाव से कहीं अधिक उच्चतर भाव-भूमि पर पहुँच जाता है; क्योंकि तब उसमें नैतिकता की बाह्य-आरोपित जड़ कर्तव्यग्राहिता नहीं, अन्तर का स्वयं-धारित भाव-बन्ध अध्यवसित हो जाता है।

ऐसी ही स्थिति पर पहुँचकर लारेंस की लेडी चैटरली और अज्ञेय की रेखा 'रियल फुलफिलमेंट' की अनुभूति करती हैं। तर्क करके लेडी चैटरली के भाव-बन्ध को प्रकृत काम-बन्ध सिद्ध किया जा सकता है। रेखा का अपने विषयालम्बन (भुवन) के प्रति मनःप्रकाशी राग-बन्ध भी है, इसलिए उसका 'केस' ज्यादा मजबूत भी है। किन्तु एक बात एकदम साफ समझ लेनी चाहिए कि लेडी चैटरली और रेखा, दोनों ही रीति-कविता की देह-बद्ध काम-कृण्ड प्रमदा मात्र नहीं हैं। उनका आत्मतेजस् रूप हमें भीतर तक भावित-प्रभावित करता है। जैनेन्द्र की मृणाल और रंजना तो दो कदम और आगे बढ़ी हुई हैं। वे बाहर से देह-भुग्न होकर भी भीतर से आत्म-अच्युत हैं। उनका अन्तरात्म एक क्षण के लिए भी आलोक-हीन नहीं होता।

जहाँ तक दिनकर की बात है : नैतिकता-अनैतिकता की कराल करवाल

वहाँ ज्यादा प्रहारी सिद्ध ही नहीं हुई। विभाव के उभय पक्षों की सम-समान राग-ऋद्धि के कारण दिनकर, लारेंस और अज्ञेय से एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। लारेंस की लेडी चैटरली एकतरफा 'फूलफिलमेन्ट' की अनुभूति करती है। उसका विषयालम्बन ओछा या कि ऊन है। वह अकेले ही उस अखण्ड रति का आश्रय बनती है। 'नदी के द्वीप' की रेखा भी अकेले ही उस चरम सुख की अनुभूति करती है। उसके प्रिय (भुवन) की प्रणय-चेतना वर्जना-कुण्ठित है, इसीलिए वह अपने प्रणयालम्बन (रेखा) से तदग्र-तदात्म नहीं हो पाता।

लेडी चैटरली और रेखा, दोनों के अनुराग-आलम्बन वस्तुतः पूरी तरह तो क्या, अधूरी तरह भी उस महाराग के रियल प्रति-आश्रय कभी नहीं बनते; वे 'कारण' मात्र बनकर ही रह जाते हैं। इसीलिए तात्त्विक भाव-स्थिति यह है कि लेडी चैटरली और रेखा, दोनों ही प्रणय का एकांगी भाव-भोग करती हैं, पूर्णांग राग-भोग नहीं जिसमें प्रिय और प्रिया, दोनों का सम-समान अधिष्ठान होता है। लेडी चैटरली का पुरुष तो देह-भोग तक ही सीमित रह जाने के कारण नायक की बजाय खलनायक लगता है; वह भी धीरोदात्त नहीं : अधीर, अपात्र और टुकाची! अज्ञेय की रेखा के पुरुष की स्थिति कुछ भिन्न है। उसे 'खल' तो कदापि नहीं कह सकते, किन्तु वह इतना आत्मलीन, अन्तर्मुख और समाजभीरु है कि उसकी समस्त मौखिक (और बाह्यतः कार्मिक भी) सन्नद्धता के बावजूद रेखा का सूक्ष्म अन्तरात्म, बिना रंचक मात्र भूल के, तत्क्षण जान जाता है कि भुवन में बहिरन्तर-अडिग एकनिष्ठता नहीं है। इसीलिए वह अपना बलिदान दे डालती है। अज्ञेय और दिनकर की आधुनिकता में यही अन्तर है। अज्ञेय की आधुनिकता 'रियल' तो है, 'स्वस्थ' नहीं। वह वर्जना के अकृतकारी कर्दम से मुक्त नहीं हो पाती।

प्रसाद, निराला और पन्त के यहाँ भी भोक्ता केवल पुरुष हैं। प्रसाद का पुरुष मध्य-युगीन मानसिकता वाला भोगविलासवादी है, रति-रभस में डूबा हुआ, वे अलग से 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो...' आदि सजल पावन पंक्तियाँ कितनी ही क्यों न प्रस्तुत करें! निराला का पुरुष स्वच्छ, सबल, स्वकीय अवश्य है और भुक्ति-निर्मल भी; किन्तु नारी उनकी भी एक ही समय, एक ही साथ आश्रय और आलम्बन, दोनों नहीं बन पाती। भोक्ता उनके यहाँ भी पुरुष ही बनता है, नारी भोग्या ही रह जाती है; भले ही वासना-पंकिल नहीं। और पन्त की बात बिना कहे ही स्पष्ट है। वह 'देवि, माँ, सहचरि प्राण' जरूर

है, किन्तु दृष्टि वहाँ भी पुरुष-प्रधान है।

हिन्दी-काव्य जगत में अकेले दिनकर ही ऐसे कवि हैं जिनके पुरुष और नारी, दोनों ही सम-सदृश भाव से रति-राग रंजित होते हैं- देह से, मन से, प्राण से, आत्मा से। इसीलिए मैं यह कहने की अनुमति चाहता हूँ कि दिनकर नर-नारी-राग के अतुल्य उद्गाता है।

राष्ट्रीय, दलित एवं ग्रामीण चेतना के अनूठे कवि

जयपाल सिंह

किसी भी रचनाकार की जयंती को स्मृति में लाने का मतलब यह है कि हमें अपनी संस्कृति एवं समाज के साथ-साथ इतिहास, परम्परा इत्यादि से जुड़ने का एक अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त जयंती समारोह आगामी पीढ़ी या नयी पीढ़ी को अपनी जातीय स्मृतियों से जुड़ने को प्रेरित करते हैं। यह बात भूलने के खिलाफ है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी सर्जनात्मकता एवं वैचारिक चिंतन से परतंत्र भारत में एक नया आलोक पैदा किया। उनकी कविताओं एवं गद्य कृतियों को जन-मन में धूम रही। दरअसल, दिनकर की रचनाओं को पढ़कर गांधी-नेहरू युग का पुनर्पाठ भी किया जा सकता है। आज भी उनकी कविताएँ युवकों के लिए कंठहार बनी हुई हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर, यशपाल, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, भगवती शरण शर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त इन सभी रचनाकारों की रचनाशीलता गहरे अर्थ में देश-प्रेम से जुड़ी है। दिनकर देशभक्त कवि हैं। उनका देशप्रेम अंधराष्ट्रवाद नहीं है। दिनकर के देश-प्रेम का संबंध संस्कृति और परम्परा से है। वही संस्कृति जिसे रवीन्द्रनाथ टैगोर 'महामानव का समुद्र' और जिसे आचार्य नेन्द्र देव 'चित्त की खेती' कहते थे। इसी इतिहास बोध और परम्परा बोध को गांधी-नेहरू युग में दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में भारतीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति कहकर दिखाया।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' औपनिवेशिक भारत की मुक्तिकामी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। वे देश की अस्मिता और सांस्कृतिक गरिमा के प्रतीक थे। आज जिस तरह अस्मितामूलक विमर्शों के भीतर साहित्य के केन्द्र में स्त्रियों, दलितों और किसानों को रखा जा रहा है, वैसा दिनकर

अपनी कविताओं में पहले ही कर चुके हैं। दिनकर किसानों के बारे में लिखते हैं: *जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं। पुनः वे आन्दोलन की घोषणा करते हैं: हटो व्योम के मेघ, पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।*

यह सार्थक बहस का विषय हो सकता है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के संदर्भ में दिनकर जैसे राष्ट्रीय रचनाकारों का सही मूल्यांकन नहीं हो सका, जबकि वे उसके अधिकारी थे। दिनकर जीवन की ऊष्मा के कवि हैं। प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि की तरह अपने भूगोल और अपनी संस्कृति से अपरिहार्य रूप से संबद्ध रचनाकार हैं।

स्वाधीनता और नये जनतंत्र की खोज को उन्होंने अपनी कविताओं का आधार बनाया। इस बात पर आज तक ठीक ढंग से विचार नहीं हुआ कि उनकी कविता का उनकी जन्मभूमि सिमरिया (बेगूसराय, बिहार) के समय और समाज से कितना गाढ़ा, तीखा और रागात्मक रिश्ता है। दिनकर की अनेक कविताओं में सिमरिया के शोषित-पीड़ित एवं संघर्षरत किसानों की विविधवर्णी झाँकियाँ उतरी हैं।

दिनकर उन कवियों में अग्रगण्य अमर शिल्पी हैं, जिनकी कविताओं ने अपने पाठकों को नवीन संवेदना एवं नयी काव्य-भाषा के प्रति लगातार आश्वस्त किया है। उनकी रचनात्मकता ने नवीन काव्य रुचि के सामाजिकों को तैयार किया है। 1929 के आसपास से उन्होंने अपना रचना-कर्म शुरू किया था और यह काल छायावाद के पूर्ण उत्कर्ष का काल भी था। हिन्दी जगत में नवजागरण की चेतना भी तीव्र से तीव्रकर होती जा रही थी। राष्ट्रीय सांस्कृतिक आंदोलन का जिस ढंग से देश में विस्तार हो रहा था, उसी ढंग से सृजनात्मकता भी बदल रही थी। अपने समय की इसी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के भीतर दिनकर की कविता फूटती है।

दिनकर के काव्य की जड़ें भारतीय चिंतन परम्परा में बहुत दूर तक फैली हुई है। उनके काव्य को सही संदर्भ में समझने के लिए एक बुनियादी शर्त रही है कि भारतीयता की पुनर्व्याख्या एवं परख की शक्ति होनी चाहिए। यह शर्त तब तो और ज्यादा बुनियादी रूप ले लेती है जब सांस्कृतिक विघटन, अनास्था, यंत्रणा और धुरीहीनता की चर्या से परिवेश के काम बेचैन हो उठे हों। ऐसे कठिन समय में भारतीय संस्कृति के पक्षधर कवि को समझना और उसे उचित न्याय देना, बड़े साहस की बात होगी।

दिनकर अपने समय के सबसे बड़े रचनाकार हैं। नवजागरण की कोख से दिनकर की सृजनात्मकता का जन्म होता है। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि नवजागरण की चेतना की प्रधान समस्या ब्रिटिश एवं भारतीय समाज से सीधे जुड़ी हुई थी। नवजागरण का प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके स्वर की अभिव्यक्ति द्विवेदी-युग के साहित्य, छायावादी साहित्य और छायावादोत्तर साहित्य में मुखर होती गयी। महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला और दिनकर के साहित्य को देखने-समझने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-प्रदेश में नवजागरण का बड़ा जोर था। नवजागरण के क्रांतिकारी स्वर की पूरी प्रेरणा रामायण-गीता से छन-छनकर आ रही थी। यह मानना गलत है कि हमारा नवजागरण पश्चिम की देन है। सच्चाई यह है कि यह हमारी ही परम्परा के भीतर से फूटा है। मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने लिखा है— हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई० के स्वाधीनता संग्राम डॉ० राम विलास शर्मा के शब्दों में 'हमारा जातीय संग्राम' था। और इसे इसी दृष्टि से देखने पर सही नतीजे निकल सकते हैं कि दिनकर का गांधी-विचारधारा के माध्यम से गहरा ताल्लुक भी रहा है। निराला जी ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा था— पश्चिम की उक्ति नहीं। गीता है गीता है। गीता से विरोध और विद्रोह की चेतना गांधी-तिलक, जयप्रकाश आदि सभी पा रहे थे।

अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय जनता की आमदनी और जीवन का मूल स्रोत जमीन थी जिसे अंग्रेजों ने छीन लिया था। किसानों के घरों में निर्धनता का स्थायी निवास हो गया। कर्ज से तबाह किसान-मजदूर का दुरावस्था देखकर गांधी ने घोषित किया कि स्वराज्य का सच्चा अर्थ यही होगा कि किसान-मजदूर की खुशहाली को बहाल किया जाए। गांधी विचार और आन्दोलन की हर साँस का इतिहास कहने की काव्य प्रेरणा ने दिनकर को जनता और जनतंत्र का कवि बना दिया था। जनता की हर व्यथा को वाणी देने में ही उनके कवि ने उनकी सार्थकता पायी है:

फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है
दो राह समय के रथ का घर्घरनाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

इसलिए शब्द को कर्म से जोड़ने में दिनकर के योगदान ने सार्थकता पायी है। दिनकर की रचनाओं में भारतीय संस्कृति एवं अतीत के गौरव की झलक दिखायी पड़ती है। दिनकर गांधी, जयप्रकाश नारायण, अरविंद, विवेकानंद आदि तमाम महान विभूतियों से प्रभावित होते हैं लेकिन एक खूँटे में बँधते नहीं हैं। प्रभावित होना मनुष्य का स्वभाव है लेकिन एक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता को वे मानसिक गुलामी मानते हैं। अपने को वे किसी एक पार्टी, मठ आदि की हथकड़ी में बाँधना नहीं स्वीकारते। इस तरह वे एक वादमुक्त रचनाकार के रूप में अपने को स्थापित करते हैं। दिनकर की चेतना की खिड़कियाँ कई तरह से खुलती हैं और वही उनके मानस का निर्माण करती हैं। एक बात यह भी सच है कि दिनकर के जीवन-संस्कार गांधी के विचारों से निर्मित हुए और वे मार्क्सवाद का सम्मान करते थे लेकिन मार्क्सवाद को रक्तवाद के कारण अपनाते नहीं अमसर्थ रहे। नेहरू जी उनके अच्छे मित्र थे किन्तु 1962 के चीन युद्ध के परिणाम को देखकर वे नेहरू पर भी प्रहार करने से नहीं चूकते:

देवता सुदश जो दिखता है
कमरे में बैठकर गलत हुक्म लिखता है
जिसको अपना गोत्र प्यारा है
उसने ही हमें मारा है।

इस तरह मार्क्सवाद के प्रति भी वे संशय व्यक्त करते हैं:

गीत मत दो रोटी दो
उनको भूख लगी है
भूखों में दर्शन दिखाना
दगा है, ठगी है, छली है।

इस तरह हमें लगता है कि एक रचनात्मक व्यक्ति आमतौर पर किसी विचारधारा का पिछलग्गू बनना स्वीकार नहीं करता।

दिनकर की शक्ति का उत्स ही जन-उद्बोधक चिंतन और किसानों के विकास और प्रचार-प्रसार के साथ मजबूती प्रदान करने में धर्म की एक ऐतिहासिक भूमिका रही है। आध्यात्मिकता इस संस्कृति का प्राणतत्व है। दिनकर यह मानते हैं कि एक बुद्धिजीवी के लिए धर्म नये अर्थों में सम्पादन और संशोधन की एक प्रक्रिया है और मूर्ख लोगों के लिए धर्म अपने हित साधने

महत्त्व : रामधारी सिंह 'दिनकर'
समर शेष है...

का तेज जहर है। भारतीय संस्कृति का इतिहास साक्षी है कि जिस धर्म का आधुनिकीकरण विवेकानन्द ने किया, उसी धर्म का आध्यात्मीकरण तिलक और गांधी करते रहे। ध्यान देने की बात है कि विवेकानंद और गांधी का चिंतन अलग-अलग दिखाई देने पर भी तत्त्वतः भिन्न नहीं है। यह मूलतः मानव केन्द्रित चिंतन है जिसे दिनकर जी 'भूमि के स्वर्गीकरण' का चिंतन कहते रहे हैं। उनके ही शब्दों में आज का भारत गांधी का भारत है और गांधी नाम आज के भारत नाम का पूरा पर्याय है। गांधी जी के इस महाव्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए यह सरल कार्य नहीं है कि हिन्दू नवोत्थान की पृष्ठभूमि पर उनका समग्र रूप आँका जा सके। जन्म और विकास तो उनका भी सांस्कृतिक नवोत्थान के कारण ही हुआ किन्तु काल को खींचकर वे उसे अपनी दिशा की ओर ले गये। महापुरुषों के संकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता है।

साहित्य युग के अवचेतन मन को प्रतिबिंबित करता है और रचना के भीतर रचनाकार का आत्मबोध और युगबोध दोनों संबद्ध होते हैं। अगर गहरे ढंग से विचार करें तो रचना के भीतर हमारे पुरखे बोल रहे होते हैं। सम्पूर्ण सृजन में वैयक्तिक अवचेतन के साथ सामूहिक अवचेतन सक्रिय रहता है। साहित्य अपने युग की सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकता के अनुसार निर्मित होता है। दिनकर ने अपने युगबोध को आत्मबोध के धरातल पर स्वीकार किया। तत्कालीन समाज की विषमता, किसान समस्या, दलित समस्या आदि को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। दिनकर की तमात रचनाओं को सही नजरिए से न समझने का संकट हिन्दी समीक्षा का संकट रहा है।

दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवानी से लेकर धूमिल तक इस समीक्षा संकट के शिकार रहे हैं। दिनकर 1929 से अपने लेखकीय जीवन की शुरूआत करते हैं। वे द्विवेदी युग, छायावाद और प्रगतिवाद को बहुत साफ आँखों से देख रहे थे। गुलाम देश में हिन्दी की महत्वपूर्ण भूमिका आज भी स्मरणीय है। इसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण की बेली में कवि दिनकर का व्यक्तित्व निर्मित होता है। युग के वैचारिक संक्रमण की सूचना इस काल के सभी पुराने-नये कवियों में सुनी जा सकती है। दिनकर की मानसिक बनावट में ग्रामीण चेतना खासकर बिहार की गरीबी, भूख और दरिद्रता है। अतः वे मूलतः भारतीय ग्रामीण संवेदना के रचनाकार हैं।

दिनकर के भीतर जनता का वही रूपक यहाँ बनता है जो सिमरिया (जन्मभूमि) के परिवेश से उभरता है। दिनकर किसानों को उबरने का आह्वान करते हैं। साथ ही मदमस्त सत्ता को जनतंत्र की सही परिभाषा बतलाते हैं: *देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे/देवता मिलेंगे, खेतों में, खलिहानों में।* स्वाधीनता भारत की विडम्बनाओं, अंतर्विरोधों और जनविरोधी चिंताओं पर दिनकर ने लगातार प्रहार किया। दिनकर ने दिल्ली की हसीन सत्ता को अपनी खुली आँखों से देखा और सिमरिया के किसानों के प्रति उनकी क्रूरता को 'भारत का रेशमी नगर' नामक कविता में रेखांकित किया :

*चल रहे ग्राम कुंजों में पछुआ के झकोर
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।*

आज भी भारतीय किसान भूख, गरीबी और दरिद्रता से अभिशप्त है और आत्महत्या तक करने को विवश हैं। किसानों एवं बेरोजगारों की निरंतर बदहाली की स्थिति बनती जा रही है। दिनकर मानते थे कि भारतीय राष्ट्र की मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक इस देश के किसानों की मुक्ति नहीं होगी। उन्होंने 'दिल्ली' कविता में गुलाम भारत की मध्यवर्गीय सत्ता-संरचना और गाँव-किसानों के बीच के विभेद को तीखे ढंग से रेखांकित किया: *वैभव की दीवानी दिल्ली, अनाचार अपमान व्यंग्य की, चुभती हुई कहानी दिल्ली।*

दिनकर सच को स्वीकार करने वाले रचनाकार हैं: *कविता मेरे बस में नहीं है, मैं ही उसके अधीन हूँ, पहले उस तरह की कविता आती थी, तब वैसी लिखता था, अब इस तरह की आ रही है, इसलिए ऐसी लिखता हूँ... पहले नवयुवकों में प्रेरणा भरने के लिए कविता लिखता था क्योंकि अंग्रेज हमारे देश में रावण की तरह थे किन्तु अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे देश में नेता ही जल्लाद बन गये हैं। अब प्रतिरोधी कविताएँ किसके खिलाफ लिखूँ!*

दिनकर का मानना था कि सच्चा समाजवाद भारत में तभी आ सकता है जब मिट्टी पर पैदा होने वाले, दीन-दुर्बल पेड़ों में शक्ति आ जाए। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्होंने यह स्वयं स्वीकार किया कि जब तक समाज में विषमता नहीं मिटेगी, तब तक सच्ची समाजवादी व्यवस्था की परिकल्पना संभव नहीं: *जब तक है वैषम्य, समाज सड़ेगा, किस तरह एक होकर यह देश लड़ेगा।*

सच कहिए तो दिनकर की रचनाओं में कृषकों के प्रति सच्चा दर्द है। 'जेठ की दुपहरी' और 'पूस की सर्दी' में काम करने वाला सर्वहारा नमक-रोटी के

लिए मुहताज है। संक्षेप में दिनकर केवल राष्ट्रीय भावना या क्रांति के कवि ही नहीं थे बल्कि सामाजिक चेतना और दलित चेतना के उद्बोधक भी थे। सर्वहारा समाज की विवशताओं एवं वेदना को उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। कवि दिनकर उद्घोषणा करते हैं: शांति नहीं तब तक, जब तक संभाग न नर का सम हो; नहीं किसी को बहुत अधिक हो, न ही किसी को कम हो।

इस तरह साहित्य के भीतर सामूहिक अवचेतन मन की उपस्थिति होती है। उनमें हमारे पुरखे बोलते हैं। दिनकर का साहित्य छायावादोत्तर काव्य एवं स्वाधीनता संग्राम के दौर का इस्पाती दस्तावेज है।

रश्मि रथी : एक पुनर्पाठ शिरीष कुमार मौर्य

‘रश्मि रथी’ महाभारतकालीन एक प्रसिद्ध कथा का दिनकर जी द्वारा रचित वर्तमान काव्याख्यान है। महाभारत की ऐतिहासिकता पर विचार करते और उसे इतिहास की किताबों में खोजते हुए मैंने पाया कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की भारतीय इतिहासकार रोमिला थापर ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक ‘भारत का इतिहास’ में उसका उल्लेख तक नहीं किया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण इतिहासकार राधाकुमुद मुखर्जी उसे भारत के उत्तरवैदिककाल के सांस्कृतिक इतिहास के एक हिस्से के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। खैर हमारा मकसद यहाँ इतिहास की गुत्थी सुलझाना नहीं है और मैं तो इस पुस्तक के खंडकाव्य होने या उससे अधिक कुछ होने की दिशा में भी नहीं जाऊँगा। लोकभारती प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में भी प्रबन्धकाव्य की किसी संज्ञा प्रयोग न करके इसे सिर्फ एक पुस्तक कहा गया है। इस पुस्तक में भी मेरा लक्ष्य वह व्यक्ति मात्र है, जो कालान्तर में एक मिथक बन गया और जिसे यह पुस्तक रश्मि रथी कहती है। सूर्य की किरणों के रथ पर सवार होने का सुपात्र सूर्य के अलावा सूर्यपुत्र ही हो सकता है, लेकिन सूर्यपुत्र होने की पौराणिक महिमा का वाहक यह व्यक्ति दरअसल एक सामाजिक हिंसा का शिकार है। वह उच्च कुल में उत्पन्न, किन्तु त्याज्य कुंतीपुत्र है। समाज उसे उग्रभर उसके इस रूप में न जानकर सूतपुत्र के रूप में जानता है, यानी निम्न कुल-निम्न जाति में उत्पन्न पुत्र। यह अभिशाप उसके साथ नियति रूप में जुड़ा हुआ है। वह वीर है, दानी है, त्यागी है, सर्वगुण सम्पन्न है, लेकिन सूतपुत्र है। जबकि दिनकर जी पुस्तक के आरम्भ में ही स्पष्ट शब्दों में किसी भी गुणवान व्यक्ति को उसके मूल अथवा कुल इत्यादि के पहचाने जाने का प्रत्याख्यान करते हैं—

किसी वृत्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।

पर हमारा यह 'महान' भारतीय समाज अपने इतिहास और वर्तमान में इतना 'सुधी कभी नहीं रहा। उसमें अवस्थिति एक बड़ी आबादी ने हर युग में उपेक्षा और हिंसा सही है। सहन करना उसका एक गुण बताया जाने लगा है। विद्रोह की स्थिति में उसे जातीय हिंसा का सामना करना पड़ता है। कर्ण की उत्पत्ति और लालन-पालन की कथा सबको पता है इसलिए हम उस विस्तार में नहीं जायेंगे। द्रोणाचार्य द्वारा शिक्षित किए जाने के बाद हस्तिनापुर में जनता के अवलोकनार्थ और प्रकारान्तर से उस पर राजकुमारों का रौब गालिब करने की खातिर कुमारों की शस्त्रकला का एक सार्वजनिक प्रदर्शन आयोजित किया जाता है। कौरव-पांडव सभी अपनी युद्ध कलाओं के गौरवपूर्ण प्रदर्शन से जनता को प्रभावित करते हैं पर तभी कर्ण का आकस्मिक आगमन होता है और वो भी इस तर्क के साथ—

नहीं फूलते कुसुम मात्र राजाओं के उपवन में
अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुंज-कानन में।

ध्यान देने की बात है कि दिनकर जी महज अपने काव्यनायक कर्ण की महिमा न बखानते हुए 'अमित बार खिलते' कहकर उसका सार्वजनीकरण करते हैं। वे कहते हैं कि महलों और किलों से दूर कुंज-काननों में एक पुष्प असंख्य बार खिलते हैं अर्थात् वे असंख्य होते हैं। जिन गुणों को राजकुमारों का निजत्व माना गया, उन्हें दिनकर जी अनेक साधारण युवकों में भी सम्भव होने का साक्ष्य देते हैं और इस तरह कर्ण सतायी गई उपेक्षित जनता का रूपक या नायक बनकर सामने आता है। जनसाधारण से आया यह व्यक्ति सामने आने पर विवश हुआ है, क्योंकि—

जलद-पटल में छिपा, किन्तु रवि कब तक सह सकता है।
युग की अवहेलना शूरमा कब तक सह सकता है।

तो इस तरह यह जनसाधारण में छिपी अतुल शक्ति की अवहेलना का मामला बनता है—ऐसी अवहेलना जो कर्ण के काल से लेकर दिनकर के समय तक लगातार जारी है। फलस्वरूप उस वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र कर्ण सभी कुमारों में श्रेष्ठ और गुरुप्रिय-अर्जुन को साथे और सधे स्वर में ललकारता है—
तूने जो-जो किया, उसे मैं भी दिखला सकता हूँ

चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ

कर्ण की इस ललकार को दिनकर जी स्पष्ट शब्दों में "राजवंश के नेताओं पर पड़ी विपद अतिभारी" कहकर चिन्हित करते हैं। यहाँ पर 'नेताओं' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है और काव्य की 'समकालीनता' की ओर संकेत करता है। सर्वज्ञात है कि दिनकर जी कांग्रेसी थे और कांग्रेस को उनके वक्त में भारतीय राजनीति का राजवंश होने का गौरव प्राप्त था। गौरतलब है कि कांग्रेस के भीतर रहते हुए भी किसी ईमानदार सच्ची कचोट में कहीं दिनकर जी कूटभाषा का प्रयोग तो नहीं कर रहे? आजादी के बाद भी राजनीति में इस राजवंश के सामने राममनोहर लोहिया नामक विपदा का आना भी किसी से छुपा नहीं है। कहीं दिनकर जो अपनी राजनीतिक शक्तियों और उनके कारण प्राप्त अधिकारों के अंधकार में कोई गूढ़ आत्मवालोकन या आत्मविश्लेषण तो नहीं कर रहे? मैं यहाँ खामखाह कोई प्रतीकार्थ नहीं खींचना चाहता, बस एक सम्भावना आप सबके सामने रख रहा हूँ।

बहरहाल, कर्ण के ललकारने पर 'नादान' अर्जुन तो युद्ध करने को उद्धत होता है पर इस 'ज्ञानप्रवीण नेतावृंद' में से एक कृपाचार्य कुछ समझबूझ कर हस्तक्षेप करते हैं। इस प्रसंग को मैं यहाँ पूरा उद्धृत कर रहा हूँ—

अर्जुन को चुप ही रहने का गुरु ने किया इशारा
कृपाचार्य ने कहा— सुनो हे वीरयुवक अनजान
भरत-वंश-अवतंस पांडु की अर्जुन है सन्तान
क्षत्रिय है वह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेंगा
जिस-तिस से हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा
अर्जुन से लड़ना है तो मत गहो सभा में मौन
नाम-धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति को कौन?

प्रसिद्ध इतिहासकार डी०डी० कोसाम्बी ने महाभारत को एक अनुमानित और छोटे पैमाने पर घटी घटना माना है। अगर हम विभिन्न मत-मतान्तरों और पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर महाभारत को ऐतिहासिक रूप से तीन हजार साल पहले घटा हुआ ही मानें तो ऊपर दिए गए उद्धरण की अन्तिम पंक्ति का सच हजारों साल से भारतीय जनसाधारण के हृदय का गूँजता हुआ सच है, जहाँ कर्म से योग्य होने से कुछ नहीं होता, कुछ कर दिखाने के लिए जाति भी तथाकथित रूप से ऊँची होनी चाहिए! यहाँ से हमें वर्णाश्रमी सभ्यता और

संस्कृति के साक्ष्य मिलते हैं, जो आने वाले समय में भारतीय सभ्यता और समाज के लिए कलंक साबित होने वाली थी। कर्ण पर इस प्रकार की यह प्रतिक्रिया सामने आती है—

जाति! हाय री जाति! कर्ण का हृदय क्षोभ से डोला
कुपित सूर्य की ओर देखकर वह वीर क्रोध से बोला
जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदंड

कर्ण की कथा की विडम्बना यह है कि वह उस कुल का नहीं, जिसका उसे होना पड़ा है और जिस कुल का वह है, उसमें उसके स्वीकार की कोई राह नहीं। यह उच्च वर्णों के लिए उनकी निश्चित की हुई व्यवस्था में आत्मवलोकन का अवसर भी है, जहाँ अपने गढ़े अपमान से उनका सामना होता है। दुर्योधन कर्ण को राजा भी बनाता है, यानी उसकी आर्थिक स्थिति को ऊँचा उठा देता है, लेकिन आचार्यगण तब भी उसे मान्यता नहीं देते। यहाँ हम अपने वर्तमान को देख सकते हैं। जाति का मामला प्रथमतः और अन्ततः जाति का मामला था और रहेगा। कर्ण की दुविधा दुहरी है। एक तरफ जाति है और यदि संयोगवश कभी कहीं उससे पार पा जाए तो माँ की यौनशुचिता पर प्रश्नचिन्ह लगता है। यहाँ से हम भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति के कुछ शुरुआती सूत्र पकड़ सकते हैं जो वर्तमान तक खिंचे चले आते हैं। महाभारत स्वयं बताता है कि कुंतीपुत्रों में से कोई भी पांडुपुत्र नहीं है पर कर्ण के अलावा बाकी सब शादी के बाद और पांडु की सहमति से जन्मे हैं। भारतीय समाज में विवाहपूर्व कौमार्य को खो देना तब भी अपराध था और अब भी अपराध है। कुंती अपने पुत्र को प्रदर्शन स्थल पर ही पहचान जाती है पर उसे अपना लेने का कोई सामाजिक तरीका न तब अस्तित्व में था न अब तीन हजार साल बाद अस्तित्व में है। कर्ण अपने कुंतीपुत्र होने से अनभिज्ञ स्वयं इस प्रश्न को उठाता है—

ऊपर सिर पर कनक-क्षत्र, भीतर काले-के-काले
शरमाते हैं नहीं जगत में, जाति पूछने वाले
सूतपुत्र हूँ मैं लेकिन थे पिता पार्थ के कौन?
साहस हो तो कहो, ग्लानि से रह जाओ मत मौन?"

कर्ण ने राजवंश की अस्मिता पर प्रश्न उठाने का साहस किया है। वह जता

देता है कि वह सिर्फ शरीर से बलवान नहीं, वरन् हृदय से साहसी भी है। कर्ण को दिनकर इस प्रश्न पर ही रोक नहीं देते, बल्कि वह आगे बढ़कर कुछ और भी कहता है, जिससे हजारों साल के शोषण की पीड़ा और वास्तविकता सामने आ जाती है—

इसके बाद सुयोधन-दुर्योधन द्वारा कर्ण को अंग देश का राजा बनाए जाने का कथा है, जो अपनी चिर-परिचित पौराणिक राह पर आगे बढ़ती है। लेकिन काव्य के इन आरम्भिक पृष्ठों में दिनकर जी ने अपने हृदय की बात कही है, जो पुराणों से निकलकर उनके अपने वक्त में और उससे भी आगे बढ़कर हमारे वक्त में प्रासंगिक हो जाती है। यहाँ शोषण और जातिगत विद्वेष का इतिहास दर्ज है, जिसे दिनकर जी कर्ण के बहाने हमारे सामने रखते हैं। महाभारत दरअसल राजवंशों की महिमा की कथा न होकर उनके खोखलेपन की कथा है, जिसे दिनकर जी ने उसके सबसे संवेदनशील पाख के साथ बड़ी कुशलता से पकड़ा है।

घटनाक्रम आगे बढ़ता है और महायुद्ध का समय आ पहुँचता है। जिस कर्ण को उसे सहोदर पांडव अब तक सूतपुत्र कह दुत्कारते-अपमानित करते रहे, अब कुन्ती रणभूमि में उसी के भुजबल का सहारा लेना चाहती है। वह उसे संघर्ष के इन आरम्भिक क्षणों में अपना पुत्र होने का रहस्य बताते हुए पांडवों के पक्ष में खड़े होने का आग्रह करती है। इस स्त्री का मनोविज्ञान बहुत जटिल है और जीवन की भूमिकाओं और स्तर पर वह और भी जटिल होता जाता है। हालाँकि वह पूरे साहस के साथ कहती है—

राधा का सुत तू नहीं, तनय मेरा है
जो धर्मराज का, वही वंश तेरा है
तू नहीं सूत का पुत्र, राजवंशी है
अर्जुन समान कुरुकुल का ही अंशी है
पर मैं कुमारिका थी, जब तू आया था
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था
अतएव हाय! अपने दुधमुँहें तनय से
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।

यह उस रानी के साथ-साथ एक आम भारतीय स्त्री के जीवन का भी सच हो सकता कि 'भागना पड़ा मुझको समाज के भय से'। यह रश्मिर्थी

के कुछेक बेहद संवेदनशील हिस्सों में से एक है, जहाँ किसी भी साहित्यिक कृति का तनाव टूटने की शानदार हद तक खिंचता है, पर टूटता नहीं। पाठक यहाँ कुछ देर थम जाते हैं और मेरे जैसे पाठक के लिए तो यह समय समकालीन स्त्री विमर्श तक पहुँचने का भी है। कुन्ती को हर हाल में विवाह से पूर्ण अपना कौमार्य बचाना था, पर वह बचा नहीं पाती और फलस्वरूप उसे छुपाती है और कर्ण के रूप में उसके अपने ही अंश का जीवन त्रास और प्रतिशोध की कथा बन जाता है। आज के समाज में भी यह होता है और कचराघर और रास्तों पर छोड़ दिए गए अज्ञात नवजात शिशुओं के बारे में समाचार अक्सर ही अखबार में होते हैं। सभ्यता के विकास के साथ समाज कुछ और विकृत-कुछ और क्रूर होता गया है। थोड़ा आगे बढ़ें तो व्यास की महाभारत के बरअक्स दिनकर के रश्मि रथी में कुन्ती एक बहुत बड़ा और साहसी कदम उठाने की बात कहती है—

भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से
उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी
डर चुकी बहुत अब और न अधिक डरूँगी।

यहाँ दिनकर का अपना स्वर बोल रहा है, महज एक पौराणिक गाथा नहीं। इसमें हजारों साल से सामाजिक बंधनों में जकड़ी शोषित नारी की मुक्ति की अदम्य कामना है। मुझे नहीं लगता कि यह कविता में आया महज एक आप्तवाक्य है—समाज की उस जड़ता की शिनाख्त यहाँ है, जो स्त्री के मामले में तीन हजार साल से जहाँ की तहाँ खड़ा है और वह स्त्री जिसके सिर पर कदम रखने का संकल्प कर रही है, जो बहुत आगे की बात है। इसके बाद घटना क्रम फिर मूल गाथा में उतर जाता है और कर्ण अपमान के दिनों में मान देने वाले कोरवों के साथ ही बना रहता है। वह उस महायुद्ध का भागी बनता है और एक बार फिर महाभारत की बजाए दिनकर का अपना कर्ण सामने आता है जो 'युधिष्ठिर की मुनि-कल्प मृदुल काया' को प्राणदान दे देता है। उसकी इस उदात्तता का कारण दिनकर जी के शब्दों में कुछ यों है—

समझो न हाय कौन्तेय! कर्ण ने छोड़ दिए किसलिए प्राण
गरदन पर आकर लौट गई सहसा क्यों विजयी की कृपाण
लेकिन अदृश्य ने लिखा, कर्ण ने वचन धर्म का पाल दिया

खड्ग का छीनकर ग्रास उसे माँ के अंचल में डाल दिया।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा कि यह दिनकर का अपना कर्ण है, क्योंकि स्थान-स्थान पर वह आधुनिक समाज के शोषित जनों के एक विराट प्रतीक में बदलता रहता है। यह प्रतीकार्थ ही दिनकर को उनके काव्यनायक का निजत्व देता है। अंत की कथा महज इतनी है कि एक अभिशाप के तहत रथ का पहिया मिट्टी में धँस जाने पर निहत्थे कर्ण का अर्जुन वध करता है। कृष्ण उसे इसके लिए संकेत करते हैं और कर्ण भी अपनी इस नियति को भाँ जाता है—

हँसा राधेय कर कुछ याद मन में
कहा, 'हाँ सत्य ही सारे भुवन में
विलक्षण बात मेरे ही लिए है
नियति का घात मेरे ही लिए है।

इस संक्षिप्त पुनर्पाठ के अंत में इतना जरूर कहना चाहूँगा कि पूरी पुस्तक में एक खास बात दिखती है कि दिनकर जी अपने वर्तमान को समझते हुए कर्ण को हमेशा 'राधेय' ही कहते हैं। 'कौन्तेय' और 'राधेय' का यह सनातन अन्तर और संघर्ष तथा आज के समय में उसकी प्रासंगिकता ही इस पूरी पुस्तक की उपलब्धि है। समकालीन हिन्दी कविता में मेरी हिस्सेदारी और एक नितान्त आधुनिक काव्यदृष्टि के कारण मैं इस प्रकार की पुस्तक से अधिक प्रभावित नहीं हो सकता लेकिन कोई बात मुझे इसकी ओर खींचती और कुछ लिखने पर विवश करती है तो वह इस पुस्तक की परम्परागत काव्यप्रविधि में गुम्फित दिनकर जी का यही गूढ़ किन्तु आधुनिक भावबोध ही है।

भारतीय संस्कृति-सरिता का प्रवाह

अमिय बिन्दु गुप्ता

संस्कृति एक अन्तःसलिला है जो किसी भी मानव समुदाय के जीवन के अन्तः स्थल से होकर बहती रहती है। यह सदानीरा सरिता की तरह है जो कभी सूखती नहीं। नदियों की तरह इसके बहाव में बहुत से पड़ाव, मोड़ और बदलाव आते हैं परन्तु यह सतत प्रवाहशील बनी रहे इसी में इसकी सार्थकता होती है। राष्ट्रकवि दिनकर भी संस्कृति के इसी तत्व को ध्यान में रखते थे। उनके चिन्तन का आयाम इसी ओर उन्मुख था। उन्होंने भारतीय सामासिक संस्कृति की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए जिस वृहदाकार पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना की है उसके पीछे भी उनके चिन्तन की दिशा कुछ ऐसी ही थी। उन्होंने इसकी भूमिका में स्पष्ट भी किया है कि उन्होंने इस पुस्तक का नाम संस्कृति के चार सोपान भी सोचा था परन्तु वे ऐसा नामकरण नहीं कर सके। भारतीय संस्कृति जहां भी परिवर्तित हुई है या जहाँ भी उसने अपने में अन्य संस्कृति या संस्कृतियों को समाहित किया है, उसे उसका पड़ाव नहीं माना जा सकता। वह बहती नदी है जिसमें आप चाहे एक ही जगह पाँव रखे फिर भी आप एक ही जल का दुबारा स्पर्श नहीं कर पायेंगे। इतनी सतत प्रवाहशीलता के बावजूद आप यह महसूस भी करते रहेंगे कि आपका पाँव भारतीय संस्कृति के आंगन में ही है। दिनकर जी ने भारतीय संस्कृति-सरिता के प्रवाह को चार अध्यायों में बांटकर जिस प्रकार से विवेचन किया है वह उसे वर्तमान समय तक ले आता है तथा भविष्य में आगे का रास्ता दिखलाने का उपक्रम भी करता है।

ऐसा नहीं था कि दिनकर जी ने पहले मन बना लिया कि भारतीय संस्कृति ऐसी है और फिर उसे उन्होंने लेखनी बद्ध कर दिया। दिनकर जी

सहज लेखन करते रहे हैं चाहे वह गद्य हो या काव्य। उन्होंने भारतीय संस्कृति की ओर अपने चिन्तन का दरवाजा भी उसी उन्मुक्त भाव से खोला था। चूँकि विषय इतना वृहद, इतने अधिक मोड़ों वाला था कि वह कविता में ढल नहीं सका। फिर भी उनकी पुस्तक को पढ़ते हुए किसी कविता के नर्तन-सा दृश्य उत्पन्न होता है। उनका हृदय भारतीय संस्कृति को लेकर किसी मूर्त प्रतिष्ठान से आप्यापित नहीं था। वे उसकी सामासिकता, उसकी विविधता और उसकी सनातनता को लेकर सशक्त हृदय से उसमें उतरे थे। दिनकर जी ने अन्यत्र संस्कृति के प्रति अपने चिन्तन को व्यक्त करते हुए भारतीय सामासिकता के प्रति अपनी आशंका को प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि 'भारत की संस्कृति और परम्परा बहुत पुरानी है। हम एक ऐसे घर में जी रहे हैं, जो बड़ा तो है, मगर बहुत पुराना है। यह घर शताब्दियों, सहस्राब्दियों के असवाबों से खचाखच भरा हुआ है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि नए असवाबों को हम उपेक्षित कोनों में डालते जा रहे हैं? संस्कृति, परम्परा और इतिहास जब लम्बे और समृद्ध होते हैं, वे दमघोंटू बन जाते हैं और वर्तमान को ठीक से साँस भी नहीं लेने देते।'

अपनी इस आशंका को मन में लेकर ही उन्होंने भारतीय संस्कृति-सरिता की यात्रा की शुरुआत की खोज उन बीहड़ स्थलों से शुरू करते हैं जहाँ उस विषय के विशेषज्ञ भी सहजता से जाना नहीं चाहते। इतिहासकार भी अपनी पुस्तक को लोकप्रिय और सहज प्रवाहशील बनाये रखने के लिए इतिहास के कुछ प्रश्नों को छोड़ दिया करते हैं या फिर उन तथ्यों का अति साधारणीकरण कर देते हैं, जिसके विश्लेषण, विवेचन में उसे दुर्गम रास्तों से गुजरना पड़ता है। लेकिन दिनकर जी के हाथों यह मुमकिन नहीं था। वह तो लेखन भी एक मंझे हुए मूर्तिकार की भाँति करते थे। ऐसी मूर्ति जिसमें अधिक कटाव और कोने हों वहाँ उन्हें छेनी-हथौड़ी चलाने में और अधिक आनन्द आता था। उन्होंने भारतीय सामासिक संस्कृति की मूर्ति के उन भागों को और भी विस्तार से उकेरा जहाँ अच्छे-अच्छे इतिहासकारों को भी परेशानी हो जाती है। उन्होंने आर्य-द्रविड़ मसले पर वृहद चर्चा की है। ऐसी चर्चा इतिहास के किसी भी पुस्तक में एक स्थान पर नहीं मिल पाती। उन्होंने इस प्रश्न पर नृजातीय दृष्टिकोण से, भाषाशास्त्र के दृष्टिकोण से, सहज मानवीय विकास के दृष्टिकोण से, इतिहास की धाराओं के दृष्टिकोण से,

धार्मिक दृष्टिकोण से, पुरातात्विक दृष्टिकोण से, साहित्यिक दृष्टिकोण से अर्थात् हर उस संभव दृष्टिकोण से विचार किया है जिससे उस प्रश्न को हल करने में मदद मिलती रही है। और हर विषय में अपना एक स्पष्ट मंतव्य दिया है कि ऐसा हो सकता है, या ऐसा ही हुआ होगा। निश्चित ही दिनकर जी के निष्कर्षों से असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन निष्कर्ष देने की जहमत उन्होंने उठाई है। पुस्तक की भूमिका में उन्होंने पहले ही यह आशंका व्यक्त कर दी है कि उन्हें विद्वत समाज का कोपभाजन बनना पड़ेगा परन्तु वे तो आमजन के रचनाकार थे इसलिए उन्होंने मात्र विवेचन कर विषय को प्रस्तुत करने की बजाए उसमें अपना निष्कर्ष भी दिया।

गूढ़ विषयों के विश्लेषण में दिनकर जी ने खालिशा ज्ञान या तथ्यों का प्रयोग नहीं किया है बल्कि उसे नितान्त सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ गुम्फित किया है जिससे कि आमजन भी उन भावों को समझ सके। उन्होंने भारतीय संस्कृति-सरिता के प्रारम्भ को बनाने वाले सभी पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है। आर्य, द्रविड़, आग्नेय, पारसी तथा अन्य जातियों के साथ-साथ वर्णव्यवस्था, जातिभेद, अन्तर्जातीय विवाह, शूद्र और नारी की स्थिति, शैव-वैष्णव धर्म, कृष्ण-राधा की संकल्पना, रामकथा की प्राचीनता आदि बातों को विस्तार से विवेचित किया है। इतना ही नहीं उन्होंने उदाहरणों से बरबस उन्हें सिद्ध भी किया है। रामकथा में समन्वय को दिखलाते हुए उन्होंने एक तरफ भौगोलिक समन्वय अयोध्या, किष्किन्धा और श्रीलंका की स्थिति के अनुसार; नृजातीय समन्वय राम, हनुमान और रावण की कथा के रूप में तथा धार्मिक समन्वय शैव, वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों के रूप में दिखलाया है। उन्होंने यह भी लिखा कि प्राचीन कवियों का साध्य यही रहा कि भारतीय एकता को गूँथा जाए। पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि उस काल के कवि भी भारत की कल्पना एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में करते थे। विभिन्न विषयों को अधिकार पूर्वक समेटने के पीछे उनका यह चिन्तन कार्य कर रहा था कि “जैसे नाक, कान के विशेषज्ञ डॉक्टर, वैसे ही भावना के विशेषज्ञ कवि। फर्क यह है कि नाक-कान का डॉक्टर पेट या टांगों का विशेषज्ञ नहीं होता, किन्तु कवि के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भावना के साथ-साथ सबकी भावना को समझे। केवल भावना ही नहीं, युग के समस्त ज्ञान के साथ सम्पर्क रखे।”

ऋग्वेद के आर्य जो बहुत ही उन्मत्त जीवनगीत के गायक थे जिनका गायन स्वोन्मुख था कि- हम सौ वर्षों तक जियें/ हम सौ वर्षों तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें/ हम सौ वर्षों तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें/ हम सौ वर्षों तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें, उन्हें भी जीवन में दुख और निराशा का सामना करना पड़ा। उनकी परम्परा में आगे आने वाले उपनिषद्कारों ने निवृत्ति मार्ग की आधारशिला रखी। परन्तु यह सब विचारों में ही घटित हो रहा था। जीवन में इन विचारों को उतारा नहीं जा सका था। इसके लिए जो बड़ा परिवर्तन होना था वह यह था कि इन विचारों को जीवन में उतार कर देखा जाए। आर्य अपने प्रवृत्तिमार्ग के प्रति इतने संजीदा थे कि वे किसी प्रयोग के लिए तैयार नहीं थे। अतः ऐसे समय में महात्मा बुद्ध का अवतरण हुआ। उन्होंने इन बातों को अपने जीवन में स्थान दिया और भारतीय संस्कृति-सरिता को बीहड़ पर्वतीय स्थलों से मैदान में उतारा।

इस काल में यह संस्कृति-सरिता इतनी वेगवान थी कि वह हर किसी को अपने में समेट ले जाना चाहती थी। इस काल के इतिहास में हम साठ से अधिक अलग-अलग सम्प्रदायों के नाम पाते हैं जो वैदिक चिन्तन के विरुद्ध खड़े हो रहे थे। इन सब धाराओं ने सहायक नदियों का काम किया और वे सब तरफ से आकर भारतीयता में समाने लगी। उपनिषदों में जैसा कि दिनकर जी ने लिखा है कि सौ टके का ज्ञान था परन्तु उसे आचरण में उतारने वाले नहीं रह गये थे। सपाट हो चले मैदान में संस्कृति की नदी को वेग और जीवन देने का मुख्य कार्य बुद्ध और महावीर ने किया। दिनकर जी लिखते हैं ‘बौद्ध धर्म मुख्यतः आचार-धर्म है। बुद्ध जानते थे कि मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, सुख या दुख पाना, उसके कर्म और चरित्र पर निर्भर करता है। आदमी का ध्यान इस बात पर रहना चाहिए कि वह करता क्या है, इस बात पर नहीं कि वह जानता क्या है। करने और जानने में अर्थात् कर्म और ज्ञान में, बुद्धदेव ने कर्म को ही मुख्य माना।’

बौद्ध धर्म के अतिरिक्त इसमें और न जाने कितनी धाराएँ समय के साथ आकर मिलती रहीं। जैन धर्म की अहिंसा, नास्तिकता, अनेकान्तवाद के साथ बौद्ध धर्म की जीवन-दृष्टि, अनात्मकता, कर्म-महत्ता ने अपनी चाल मिलाई। तो उसके साथ ही लय मिलाते हुए प्राचीन सनातन संस्कृति ने विभिन्न पुराणों और आख्यानों के माध्यम से देवताओं का आत्मसातीकरण मुख्यधारा में कर

लिया। बौद्ध धर्म के बदलते कलेवर ने उसे महायान के रूप में अभिव्यक्ति दी तो जैन धर्म सनातन संस्कृति का एकांगिक आचरण पक्ष मात्र रह गया। आगे दिनकर जी ने संस्कृति सरिता के प्रवाह में उभर आये शैवालों की भी वृहद विवेचना की है। बौद्ध धर्म में आए गिरावट को उन्होंने इन्हीं शब्दों से व्यक्त किया है। शैवालों के उत्पन्न होने को उन्होंने शाक्त प्रभाव से जोड़कर देखा है। शाक्त प्रभाव के साथ बाद में आए मंत्रयान व तंत्रयान ने बहुत से धड़ों को आपस में जोड़ा तथा आगे का प्रवाह फिर सहज दिखलाई पड़ने लगा और एक बार ऐसा लगा कि सनातन संस्कृति का प्रवाह सहज होता जा रहा है। परन्तु मैदानी भागों में उतरकर लोगों के बीच बहाव करती हुई सरिता का मार्ग इतना आसान नहीं होता। एक ओर जहाँ उसे अपना अस्तित्व बनाये रखना होता है वहीं दूसरी ओर लोगों के जीवन को भी बचाना होता है जिससे कि तेज धारा में मनुजता के पाँव उखड़ न जाए।

समतल मैदान में उतर आयी इस सरिता के विषय में दिनकर जी का मत था कि वैदिक ऋचाओं पर आधारित प्रवृत्तिमार्ग और बौद्ध-जैन धर्मों द्वारा उपदेशित निवृत्ति मार्ग का मिलन यद्यपि हो सका परन्तु वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म को इतना तोड़ नहीं सका कि वह शास्त्रों को मान्यता प्रदान कर दे और जातिप्रथा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर ले। ऐसा मन्तव्य प्रकट करते हुए दिनकर जी भारतीय संस्कृति की अन्तरराष्ट्रीयता की ओर संकेत करते हैं 'बौद्ध धर्म के उपदेश के बाद से इस देश में ऐसी विचारधारा काम करती रही है, जो शास्त्रों के सामने मस्तक झुकाने को तैयार नहीं हैं और जो सभी जातियों को तोड़कर विशाल मानवता की रचना करना चाहती है।' यह भारतीय संस्कृति का वह काल है जिसमें वह मैदानी इलाकों में सरपट भागती रही और अपने आसपास आने वाले सभी पंथों को अपने में समोती रही। लेकिन इसकी जीवंतता में एक अन्तर दिनकर जी लक्षित करते हैं और कहते हैं कि इस समन्वय में न तो वैदिक धर्म पूर्णतः ऊपर आ सका और न ही बौद्ध धर्म उसे पीछे कर सका। दोनों साथ-साथ चलते रहे। उन्होंने सबको अपने में मिला तो लिया लेकिन उसमें जीवन के चिन्ह कम होने लगे थे। दिनकर जी ने लक्षित किया है कि इस काल में वैदिक धर्मावलम्बियों ने स्मृतियों (पुरानी बातों के आधार पर) की रचना पर जोर दिया तथा मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन का मार्ग अवरूद्ध होने लगा।

किसी भी नदी की दूसरी अवस्था में जबकि वह अपने उद्गम स्थल-पर्वतों को छोड़कर मैदान में उतरती है तो उसमें जीवन के साथ-साथ अवसान के चिन्ह भी दिखलायी पड़ते हैं। ऐसा भारतीय संस्कृति के साथ भी रहा। बौद्धों और ब्राह्मणों की दो धाराओं के बीच संघर्ष चलता रहा और कभी विनाश कभी जीवन के चिन्ह इस अवस्था में दिखलाई पड़ते हैं। बौद्ध मठों में होने वाले आचरण तथा बाद के बौद्ध मतावलम्बियों को बुद्ध के रास्ते से हटने को दिनकर जी ने बड़ी साफगोई से व्यक्त किया है और निष्कर्ष के रूप में संस्कृति-सरिता के दो फांक को स्वीकार किया है जिसमें अन्तिम रूप से कोई समन्वय नहीं हो सका। शाक्त सम्प्रदाय एवं तंत्र मार्ग ने इसके प्रवाह में थोड़ा अवरोध भी पैदा किया परन्तु इनका एक योगदान यह भी रहा कि हाशिये पर रहे समूहों को इन्होंने इस संस्कृति सरिता में स्थान दिलवा दिया। तटबन्ध तो टूटे परन्तु उससे किसी प्रकार का जानमाल का नुकसान नहीं हुआ बल्कि छूटी हुई भूमि की उर्वरा शक्ति ही बढ़ी।

इस कमजोर पड़ी धारा में जब इस्लाम की धारा जुड़ी तो वह किसी के लिए भी जीवनदायिनी न बन सकी। इस्लामिक संस्कृति भी एक अलग धारा के रूप में साथ-साथ सतत विद्यमान रही। दिनकर जी ने अपने विवेचन में ऐसा चिन्तन प्रस्तुत किया है कि "हिन्दुत्व और इस्लाम, दो धाराओं के समान, अलग-अलग बहते हैं।" अपने निष्कर्ष में दिनकर जी इस चिन्तन को और स्पष्ट करते हैं कि इस्लाम मतावलम्बी अपने धार्मिक विचार में बहुत कट्टर थे तथा किसी भी प्रकार की लोचशीलता उनमें न थी जबकि वे सामाजिक रूप से काफी लचकशील थे। दूसरी ओर हिन्दू मतावलम्बी अपने धार्मिक दृष्टिकोण में बहुत लोचशील थे जो किसी भी प्रकार के अतिवाद को स्वीकार कर सकते थे परन्तु वे सामाजिक आचार व्यवहार में इतने आबद्ध थे कि किसी भी प्रकार की समाज-बाह्यता को स्वीकार नहीं किया जाता था। इसीलिए इस्लाम के साथ मिलन या समन्वय बहुत सतही तथा विचारधारा के स्तर तक ही रहा। हिन्दू मतावलम्बी यह अपेक्षा करते रहे कि इस्लाम मत वाले अपने धार्मिक दृष्टिकोण में थोड़ी उदारता लायें जिससे वे भी उनके धर्म में भागीदारी कर सकें। दूसरी ओर इस्लाम मतावलम्बी इस अपेक्षा में रहे कि हिन्दू अपने सामाजिक बन्धनों को ढीला करेगा जिससे कि उसे भी उसके

समाज में सही स्थान मिल सके। परन्तु यह अपेक्षाएँ आचार व्यवहार के स्तर पर साधारणीकृत नहीं हो सकीं।

इस्लामिक संस्कृति के साथ सम्मिलन का विवेचन करते हुए दिनकर जी ने फिर बहुत गहराई से बातों को खोज निकाला है। इस नई धारा का स्रोत खोजने के लिए उन्होंने मानव इतिहास का अध्ययनपूर्ण विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस्लामिक रहस्यवाद, यूनानियों के प्रभाव, सूफियों के आचरण का अध्ययन किया है। फिर इस्लामिक संस्कृति का अध्ययन राजनीतिक दृष्टिकोण से भी किया है कि किस प्रकार कोई विजित जाति अपने धर्म का प्रयोग राजनीतिक सत्ता के लिए करती है और उसका सहज परिणाम क्या होता है? राजनीतिक अधिकार को सांस्कृतिक अधिरोपण तथा सांस्कृतिक प्रतिशोध के साथ जोड़कर भी प्रस्तुत किया है। तथा दोनों पक्षों द्वारा किये जाने वाले प्रयासों का विश्लेषण भी कई बिन्दुओं के अन्तर्गत किया है। इसमें इस्लामिक सूफियों, धर्मनिरपेक्ष संतों, भक्तिमार्गी संतों आदि के योगदान को दिखलाया है। कवियों की भूमिका पर विचार करते हुए दिनकर जी ने तत्कालीन कवियों के योगदान को इस मामले में बहुत ही अपर्याप्त तथा अदृशिक माना है। उनका मानना है कि ऐसे समय में लोगों को भक्ति के दलदल में उतारना उन्हें किसी पार नहीं लगा सका।

यह संस्कृति-सरिता आगे बढ़ती रही प्राचीन सनातन संस्कृति तथा इस्लामिक संस्कृति दो छोर बने रहे, दो तटबन्ध बने रहे। जब अंग्रेजों के सानिध्य से स्वतंत्र तर्क और चिन्तन को प्रश्रय मिला तो बुद्ध, अकबर-दाराशिकोह की कोशिशें रंग लाने लगीं कि किसी वृहद मानवता का विकास भारत कर सकेगा और विश्व के लिए एक संदेश देगा। परन्तु यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान वास्तव में आधुनिक नहीं था बल्कि इसकी प्रेरणा भूतकाल से ही ली गई थी। हिन्दुओं ने अपनी प्रेरणा वेदों, उपनिषदों और पुराणों से ली तो मुस्लिमों ने भी बाह्य देशों के साथ ही भारत में औरंगजेब और सरहिन्दी को अपना आदर्श माना। दिनकर जी ने विवेचना में संगति का प्रयोग किया है और दिखलाया है कि जैसी चिन्ता औरंगजेब ने अपने वसीयत में साम्राज्य को बांटने को लेकर की थी वैसा ही चिन्ता इकबाल के विभाजन विचार में मिलती है। संयोग की बात यह भी है कि जिस पीर को इकबाल साहब मानते थे वे सरहिन्दी की परम्परा में आते थे।

संस्कृति सरिता के इस काल का विवेचन करते हुए दिनकर जी ने दिखलाया कि बहुत-सी आधुनिक विचारों और बातों को स्वीकार किया गया, बुद्ध की यह कोशिश बरकरार रही कि स्वतंत्र चिन्तन को मान्यता प्राप्त हो। परन्तु अकबर और दाराशिकोह की कोशिश को स्थान नहीं मिल सका। दिनकर जी ने इसे व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'अमृत और हलाहल की दूसरी लड़ाई फिर बीसवीं सदी में आकर हुई, जब भारत के नेता महात्मा गाँधी हुए। अकबर ने जैसी उदारता हिन्दुओं के साथ बरती थी, बहुत कुछ वैसी ही उदारता का व्यवहार गाँधीजी ने मुसलमानों के साथ किया। लेकिन, इस देश में जो मुसलमान हिन्दुओं का पक्षपाती होता है, उसे मुसलमान मार डालते हैं, जैसे औरंगजेब ने दाराशिकोह को मार डाला। और जो हिन्दू मुसलमानों का पक्षपाती होता है, उसे हिन्दू मार डालते हैं, जैसे गोडसे ने गाँधीजी की हत्या कर दी।'

इस धीमे-धीमे बहती सरिता में एक और धारा यूरोप से आकर मिली थी। परन्तु इस धारा का उद्गम बहुत दूर था और वह अपने साथ इतना वेग नहीं लाई थी कि पहले से आ रही नदी को आगे बढ़ा पाती। परन्तु इसने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन दो पतली धाराओं को विलोड दिया। दोनों धाराओं को अपनी गंदगी अपने सतह पर दिखलाई पड़ने लगी। दोनों ने अपने-अपने अवसादों व गादों को बाहर निकालने की अलग-अलग कोशिशें की। बहुत से प्रयास समन्वय के हुए परन्तु कोई प्रयास अपने अन्तिम परिणति तक नहीं पहुँच सका। मुस्लिम नेता अपने सामाजिक आचार-विचार के सुधार तक लगे रहे तथा हिन्दू नेता अपने बल पर देश की संवेदना जगाने की कोशिश करते रहे। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी तक यही माना जाता रहा कि कुछ लोगों के अवतारी प्रभाव से ऐसा किया जा सकेगा और इस देश को उठाया जा सकेगा। दिनकर जी ने इस विचारधारा की परिणति श्री अरविन्द में देखी जो मनुष्य को अतिचेतना तक उठाकर नये मानव जाति का निर्माण करना चाहते थे। दिनकर जी ने उनके प्रयास पर लिखा है कि "अरविन्द की भी मान्यता है कि एक या अनेक व्यक्ति यदि चाहें तो वे अपनी साधना के द्वारा चित्-शक्ति को नीचे उतरने को प्रेरित या बाध्य कर सकते हैं। क्योंकि विश्व के सभी मनुष्यों को साधना और तपस्या में लगाना असम्भव है, इसलिए

अरविन्द ने अपने तथा अपने आश्रमवासी शिष्यों के ऊपर यह भार रखा कि वे साधनापूर्वक दिव्य जीवन को पृथ्वी पर अवतरित होने को बाध्य करें।”

इसके पश्चात दिनकर जी ने स्वर्ग को नीचे उतारने के प्रयास के समानान्तर गाँधी जी के प्रयोगों को स्थान दिया जो भूमि को ही स्वर्ग बनाने की क्षमता रखते थे। आधुनिक भारत में उनके प्रभाव को सबसे महत्वपूर्ण मानते हुए दिनकर जी ने गाँधी-धर्म शब्द का भी प्रयोग कर डाला है। उसमें भी वही विश्वजनीनता दिखती है जैसे कि बुद्ध में दिखी थी। अर्थात् प्रयोग, आशय और आकांक्षाएँ अभी इस संस्कृति-सरिता में वही थीं जो कई हजार साल पहले किये गये थे। दिनकर जी ने लिखा है- ‘वस्तुतः गाँधी-धर्म न तो कोई धर्म है, न वह विश्व में प्रचलित धर्मों से भिन्न है। सभी धर्म जहाँ उत्पन्न होते हैं, गाँधीजी उस उत्स के आमने-सामने खड़े थे। और सभी धर्म मनुष्य को जहाँ ले जाना चाहते हैं, गाँधीजी उस मंजिल के भी पास थे। वस्तुतः गाँधी धर्म वह धर्म है, जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता में वृद्धि होती है।’

यह संस्कृति सरिता अभी न तो अपनी यात्रा पूरी कर समुद्र तक जा सकी है और न ही उन गादों, अवसादों को दूर कर सकी है जिसकी चिन्ता प्रत्येक युग के नेतृत्वकर्ता ने की थी। लेकिन इस सरिता का उत्स सूख नहीं गया है, यह सदानीरा है, इसकी यात्रा बहुत लम्बी तथा थकान भरी भी है परन्तु यात्रा है तो पड़ाव आयेगा ही, उसमें मंजिल भी आयेगी। विचारणीय यह है कि क्या महासमुद्र में मिल जाना ही इस संस्कृति-सरिता की अन्तिम परिणति है? इसे इंगित करते हुए दिनकर जी अन्यत्र लिखते हैं कि ‘भारत में भगवान एक नया प्रयोग कर रहे हैं। संसार एक इसलिए नहीं हो पा रहा है कि संसार में धर्म अनेक हैं, भाषाएँ अनेक हैं और जातियाँ भी अनेक हैं। ये सारी बातें भारत में भी हैं। तब भी भारत एक देश होकर जी रहा है। भारत की एकता अगर काफी मजबूत हो गई, तो उसी का अनुकरण करके सारी दुनिया भी एक हो जायेगी।’ इसीलिए ऐसा लगता है कि दिनकर जी की भी इच्छा इस सरिता को समुद्र तक जाने देना नहीं था क्योंकि ‘समुन्द्र से मिलकर दर्या, दर्या नहीं रहता।’ इस संस्कृति-सरिता में सभी भागी हों तथा यह सदाप्रवाहिनी और जीवंत बनी रहे दिनकर जी की यह कामना पूर्ण हो!

संघर्ष के कवि दिनकर

रेखा श्रीवास्तव

दिनकर का नाम सुनते ही हमारे मानस पर ऐसे रचनाकार का चित्र खिंच जाता है जो अपने अतीत से प्रेम करता है, वर्तमान पर असंतोष और भविष्य से आशा करता है। दिनकर हमारे समय में एक युगद्रष्टा की भाँति उपस्थित होते हैं तथा अपनी रचनाओं से जोश पैदा करते हैं, जीवन के प्रति संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं।

दिनकर बहुआयामी रचनाकार थे। उन्हें कविताएं विशेष प्रिय थीं। उनका कविमन उनके गद्यकारमन पर सदा हावी रहा। साहित्य जगत भी उन्हें इसी दृष्टि से देखता है। उन्होंने ‘संस्कृति के चार अध्याय’, ‘रश्मिरथी’, ‘उर्वशी’, ‘हुंकार’, ‘रेणुका’, ‘द्वंद्वगीत’, ‘बापू’, ‘सामधेनी’, परशुराम की ‘प्रतीक्षा’ आदि जैसी विशिष्ट कृतियों की रचना की। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा ‘उर्वशी’ के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले दिनकर ने अपनी लेखनी की बहुविविधता तो दिखाई ही साथ ही साथ इन रचनाओं ने हिन्दी साहित्य को निश्चित रूप से श्रीवृद्धि की है, और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है।

उनकी राजनीतिक जीवन पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि वे गाँधी, नेहरू, टैगोर, जयप्रकाश नारायण जैसी महान विभूतियों के विचारों को आत्मसात् तो करते हैं लेकिन दिनकर किसी विचारधारा का झंडा लेकर नहीं चलते। उनकी रचनाओं में कल्पना की अपेक्षा समय के सत्य का स्वर मुखर है। उनकी पक्षधरता सदैव गरीबों, मजदूरों, शोषितों और वंचितों के साथ रही। अपनी इन विशेषताओं के आधार पर वे लोककवि भी कहे जा सकते हैं। दिनकर की कविताओं में लोक की चिन्ता स्पष्ट रूप से है। लेकिन दिनकर साहित्य में

किसी वाद-विशेष को लेकर कभी चले नहीं। वे आजीवन अपनी अनुभूतियों को कविता में पिरोते रहे और समय की सत्यता और भविष्य की आशा को व्यक्त करते रहे।

दिनकर की कविताओं में एक ओर भावपूर्ण अनुभूतियों का गहरा स्वर है तो दूसरी ओर दासता से मुक्ति का विद्रोही स्वर भी। दोनों ही दिनकर के काव्य की उपलब्धियाँ मानी गयी हैं क्योंकि राष्ट्रीय-सामाजिक धारा ने उन्हें राष्ट्रकवि का दर्जा दिलाया तो गंभीर चिंतन और अभिव्यक्ति की धाराप्रवाहता ने उन्हें युग का सबसे सशक्त और अग्रणी रचनाकार बनाया।

दिनकर की रचनाओं में संघर्ष के साथ साथ उनकी रचनाओं में द्वन्द्व भी प्रमुखता से स्थान पाता है। उनकी रचनाओं में व्याप्त विविध स्तरों पर द्वन्द्व आज भी प्रासंगिक है। द्वन्द्व दिनकर के काव्य जीवन के हर स्थान पर उपस्थित है। दिनकर की भावना और चिंतन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। यह द्वन्द्व ही रचना में भावों को प्रमुखता से व्यक्त करता है। उनके विषय-वस्तु के प्रत्येक क्षेत्र में बेचैनी पैदा करता है। दिनकर का कवि मन इस गंभीर संकट से जूझता है, उबरता है जिसमें उनकी काव्य साधना द्वन्द्व की चुनौतियों को स्वीकारती हुई समाधान का पथ भी प्रस्तुत करती है।

‘कुरुक्षेत्र’ (1976) एक सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति है द्वन्द्व की, जो युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा, प्रवृत्ति और निवृत्ति की जीवन-शैली तथा विज्ञान और आत्मज्ञान की परिणति में निहित है। उसके पूर्व ‘द्वंद्वगीत’ (1940) तो नाम से ही स्पष्ट है। ‘उर्वशी’ (1961) तो अप्सरा और लक्ष्मी, संशय-युक्त मानव और संशय रहित देवता एवं काम और अध्यात्म के द्वंद्वों की गाथा है।

दिनकर की कविता समय से संघर्ष करती हैं उनकी रचनाओं में संघर्ष भी एक अनिवार्य तत्व के रूप में आया है। दिनकर को लेकर जो एक और बात है वह यह कि उनकी रचनाओं में जितना विस्तार है वह शायद ही किसी अन्य लेखक की लेखनी में हो। राष्ट्रकवि तक का दर्जा प्राप्त करनेवाले दिनकर न सिर्फ एक नाम है बल्कि स्वाधीन भारत के वे ऐसे स्वर हैं जिनके माध्यम से हमें उस युग को जानने में सहायता मिलेगी। वे भूत, वर्तमान और भविष्य के कड़ी हैं।

आत्मीय दिनकर

अरविन्द कुमार सिंह

स्मृति के वातायन से झाँकती हैं यादें। बीती स्मृतियाँ कभी विह्वल करती हैं कभी आलोकित कभी सुखद कभी कुछ अन्दर टूटता बिखराता हुआ।

एक वृद्धा लगभग 85 से 87 वर्ष। पूरा शरीर काँपता हुआ। गाँव की सँकरी गलियों से चार-पांच लोगों के साथ गुजर रही थी। इसमें मेरे ग्रामीण और विद्यालय के शिक्षक चंद्र किशोर शर्मा बादल भी थे। उन्होंने ही मुझे यह दृष्टांत सुनाया। सामने गली में तीन-चार पत्थर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पड़े थे। सभी ने देखा पर किसी का ध्यान उस ओर न गया। उन श्रद्धेया वृद्धा ने उन पत्थरों को एक-एक करके उठाया और अपने आँचल में रख लिया। फिर थोड़ी दूर आगे जाकर गड्ढे में फेंक दिया। बादल जी भाव विह्वल हो जाते हैं, कहते हैं भला ऐसी माता का पुत्र महान नहीं होगा तो कौन होगा? राष्ट्रकवि रामधारी सिंह ‘दिनकर’ इन्हीं महान माता मनुरूप देवी के द्वितीय पुत्र थे।

जब जन्म हुआ तो दो तीन वर्ष बाद ही पिता का स्वर्गवास हो गया। माँ ने ही अपने तीनो चहेते बेटों को बहुत प्यार से पाला पोसा। जब दिनकर जी गर्भस्थ थे तभी उनके माता-पिता ने जगन्नाथपुरी की यात्रा की और समुद्र में स्नान किया। लोगों ने कहा कि गर्भावस्था के दौरान समुद्र में नहीं नहाना चाहिए। किन्तु ईश्वर की महिमा को कौन समझ सकता है? ऐसा प्रतिभावान पुत्र पैदा हुआ।

मेरी माँ बताती है कि जब विद्यालय में थे, तब गाँव में बिजली नहीं थी-लालटेन घर में जलती थी। मेरे पूज्य बाबा (पितामह) दिनकर जी कमरे में एकाग्र ही पढ़ते रहते थे। अपनी शिखा को रस्सी से बांधकर दरवाजे पर लगी काँटी से बांध देते थे। ध्यानस्थ हो पढ़ते रहते और जब झपकी आती तो जैसे झटका-सा लगता और फिर पढ़ने में लग जाते, ऐसी तपस्या! विगत कुछ दिनों

पूर्व डोगरी की प्रसिद्ध कवयित्री पद्मा सचदेव जो बाबा के भी बहुत निकट थी ने अपने पिता के संदर्भ में भी कुछ इसी तरह का विवरण दिया, तो मुझे पढ़कर थोड़ा विस्मय हुआ। यह किस्सा मुझे बचपन से माँ पढ़ाई की ओर प्रवृत्त करने के लिए सुनाती थी। संभव है उस समय कुछ लोगों में यह विलक्षण साम्य रहा हो।

जब बाबा ने मैट्रिक पास की तो घर में सभी की राय हुई कि अब पढ़कर क्या होगा। या तो खेती-बाड़ी करें या कोई छोटी-मोटी नौकरी। बाबा हमारे एक कुटुम्बी के यहाँ घूमकर बैठ गए और रोने लगे। बाबू रामधनी सिंह ने देखा तो पूछा— क्या बात है। बाबा ने अपनी लाचारी बतायी तो कहने लगे जितना पढ़ना है पढ़ो मैं पैसे दूँगा। बाबा आश्वस्त हुए रूदन का वेग कुछ कम हुआ। रामधनी बाबू ने ही परिवार के अन्य लोगों को आगे पढ़ाई जारी रखने की सलाह दी और राजी कराया।

इन विपरीत परिस्थिति में भी पढ़ाई जारी रखी और सदैव कक्षा में अक्ल आते रहे। ताज्जुब की बात तो यह है कि स्वयं स्नातक होते हुए, व्याख्याता और स्नातकोत्तर के छात्रों को पढ़ाया। कठिन परिस्थितियों में स्वयं अपने अध्यवसाय के बल पर आगे बढ़े—शायद तभी इन्हीं परिस्थितियों के आगे आने वाले समय के लिए एक चुनौतीपूर्ण कवि के तौर पर मार्ग प्रशस्त किया—

जो लाक्षागृह में जलते हैं
वे ही सूरमा निकलते हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म 23 सितम्बर, 1908 को बिहार के सिमरिया नामक ग्राम में हुआ। दिनकर जी ने अनगिनत कष्ट सहे। निरंतर संघर्ष ने उनके जीवन को जैसे तपा कर फौलादी बना दिया।

सुखादबहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।

—महाभारत

जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु जीवन के दुःख को वे हमेशा उत्साह में तब्दील करने में लगे रहे। प्रेरणादायी पंक्तियों का एक वृहत कोश दिनकर जी की कविताओं में प्राप्त होता है। उन्होंने 'सुख' नामक कविता में लिखा है—

सुख! तुम्हारा नाम केवल जानता हूँ
मैं हृदय का अन्ध हूँ,

मैंने कभी देखा नहीं—तुमको
इसलिए, प्यारे। तुम्हें अब तक नहीं पहचानता हूँ।
पर हो तुम सत्य ही सुन्दर बहुत हो?
पुष्प से, जल से, सुरभि से
और मेरी वेदना से भी मधुर हो?

अगर मैं अतिशयोक्ति में बात नहीं कर रहा तो तुलसी दास जी के बाद सर्वाधिक प्रचलित पंक्तियाँ दिनकर जी की हैं। जो कभी विद्यार्थियों, गाँव के लोगों, बुद्धिजीवियों और नेताओं सभी को अपने अनुसार अभिव्यक्ति का अवलम्बन देती है। कविकर भवानी प्रसाद मिश्र ने कवि के संबंध में लिखा था—

जिस तरह हम सोचते हैं
उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी
हमसे बड़ा तू दिख

तो दिनकर जी का विराट् साहित्य अलग-अलग सोच, दिशा और दृष्टि वाले लोगों के लिए भी अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के तौर पर प्रकट होता है, जिसके संबंध में मिर्जा गालिब लिखते हैं—

मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में था—अरे, यह हू-ब-हू हमारी से मिलती अवधारणा है। यानि हम जो सोच रहे थे, वही बात है। पर बात मात्र इतनी ही नहीं है। दिनकर काव्य में कई नयी अवधारणाएँ, नई सोच और नये आयाम भी प्रकट होते हैं, जो पूर्व प्राप्य सोच से सर्वथा अलग हैं। रश्मि रथी, कुरुक्षेत्र और उर्वशी सभी की भूमि मिथकीय या पौराणिक होते हुए भी, उससे भिन्न है।

मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है—सन् बयालिस के बहुत पूर्व ही दिनकर जी के भीतर यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि क्रांति अब समीप आ गयी है और देश में विस्फोट होने वाला है और उनका यह विश्वास उनकी उस समय की अनेक कविताओं में प्रकट हुआ था। ये सभी कविताएँ प्रमाण उपस्थित करती हैं कि कविता के कान सीधे जनता के हृदय से लगे हुए थे और वातावरण में जो गर्मी भरती जा रही थी उसे वह क्षण-क्षण समझ रहा था—

दिशा गुंजी, विखरता लोभ में उल्लास आया
नये युग का नूतन कटक, लो, पास आया।

पहन धोती कवच रण में युगों के मौन बोले,
ध्वजा पर चढ़ अनागत धर्म का हुंकार बोला।

अचरज नहीं कि एक लब्धप्रतिष्ठ शायर जोश मलीहावादी जब पहली बार
दिनकर जी से मिले तो उन्होंने बरबस एक रूबाई लिखी—

हिन्द में लाजवाब हैं दोनों
शायरे इन्कलाब हैं दोनों
देखने में अगर्चे जर्रे हैं
वाकई आफताब हैं दोनों

कौतूहल की बात है कि दिनकर जी ऐसे विद्रोही कवि होने पर भी बहुत
जिम्मेवार अभिभावक रहे। निरंतर परिवार के निमित्त अपने दायित्वों का निर्वाहन
वे बखूबी करते रहे। आमतौर पर आज के व्यैक्तिक परिवार में मात्र अपने बच्चे
होते हैं— डॉ॰ शिवमंगल सिंह सुमन ने कभी कहा था—“उनका परिवार क्या था,
उसमें पूरा कुनबा ही शामिल था।”

आजादी की लड़ाई में लगे हुए बलिदानी भारत की जो वीरता, स्वाभिमान,
अधीरता और आक्रोश दिनकर जी में आकर प्रकट हुआ, कला में उसका
विस्फोट इससे पहले इतने जोर से किसी में नहीं हुआ था। दिनकर जी सरकारी
नौकरी में रहते हुए देशभक्तिपूर्ण गीत गाते रहे—सरकार ने उन्हें नौकरी से तो
नहीं निकाला, पर तकलीफ उन्हें काफी दी गई, जिसका एक रूप यह रहा
कि चार साल के अन्दर उनके बाईस बार तबादले किये गये। दिनकर जी ने
लिखा है—‘घबराहट में आकर कई बार मैंने सोचा कि नौकरी छोड़ दूँ—किन्तु
तीन बातें थी, जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका। पहली तो यह कि
नौकरी गई तो परिवार खाएगा क्या? दूसरी यह कि हर तबादले के साथ मुझे
चार-छः दिनों की छुट्टियाँ मिल जाती थी जिन्हें मैं जायसवाल जी के
साहित्य में बिताने को पटना चला जाता था और तीसरी यह कि जयप्रकाश
जी यह शह देते रहते थे कि इस्तीफा देने की अपेक्षा बरतरफ हो जाना ही
श्रेष्ठ है।’

दिनकर जी मात्र क्रांति के ही कवि नहीं थे—वे एक साथ ही स्वाभिमान,
ओज, ऊर्जा, शृंगार, सौन्दर्य तथा अध्यात्म के कवि थे। 24 अप्रैल, 1974 को
वे बाला जी तिरूपति का दर्शन करने गए थे। उन्होंने कामना कि मुझे मौत
दीजिए और मेरी शेष आयु जयप्रकाश नारायण को लग जाए। इसी रात्रि

हृदयाघात से उनका निधन हुआ।

वे देश की कई गणमान्य संस्थाओं के सदस्य थे। सन् 1969-70 में वे हम
लोगों को मुम्बई ले गए थे। वहाँ श्री रामानन्द सागर ने हम लोगों को आँखे
फिल्म की सूटिंग देखने के लिए निमंत्रित कर लिया था। वहाँ मेरी तीनों बड़ी
बहने और बाबा गए थे। सूटिंग चल रही थी। डायलॉग चल रहा था। माला
सिन्हा और धमेन्द्र दोनों अपने संवाद बोल रहे थे। किसी को कुछ भी बोलने
की मनाही थी। मैं तब पांच वर्ष का शिशु था। सभी के हाथों में पेय पदार्थ
था। तभी अचानक मेरे मुँह से निकला ‘बाबा’। मैं कहने जा रहा था बोलत कहाँ
रखूँ। सीन कट हो गया। रामानन्द सागर जी दौड़कर मेरे पास आए—कहने लगे
यस बाबा! और फिर लोगों का ठहाका।

उसी यात्रा में बाबा हम लोगों को श्री पृथ्वीराज कपूर के यहाँ भी ले गए
थे। पृथ्वी राजकपूर ने मेरी बहनों को और मुझे सभी को अपना सितार बजाता
हुआ एक चित्र दिया था। बहनों को लिखकर दिया—दुआओं भरा प्यार। उनकी
कविताएँ स्मरण आती हैं। लगता है वे मौन कहीं घर में विद्यमान हैं और चाहते
हैं—उन्हें अकेला छोड़ दिया जाए। कभी उन्होंने एक कविता भी लिखी
थी—कवि का मित्र—

आहट हुई— हुई फिर “कोई है? वही पुकार
कुशल करें भगवान कि आया फिर वह मित्र उदार
चरणों की आहट तक मैं हूँ—खूब गया पहचान, सुनकर
जिसे काँपने लगते थर-थर मेरे प्राण।
मैं न डरूँगा, पड़े अगर यमदूतों से भी काम
मगर दूर से ही करता हूँ श्रद्धा-सहित प्रणाम
उन्हें नहीं आकर जो लेते जाने का नाम।

और एक अन्य सारगर्भित कविता—

देवता है नहीं
तुम्हें दिखलाऊँ कहाँ
सूना है मेरा आसमान
तुम्हें भरमाऊँ कहाँ,
इसलिए कहता हूँ

पूज्य महान पितामह दिनकर जी को अपना विनीत प्रणाम निवेदित करता हूँ।

दिनकर छोटे नारायण शर्मा

सूरज का एक परिचय है कि वह आग का एक ज्वलन्त पिण्ड है जो विश्व को प्रकाशित किया करता है लेकिन एक दूसरा परिचय भी है कि वह 'प्राणः प्रजानाम्' है। हमारे सामने एक फैला हुआ विश्व है। यह क्यों है, कैसे है, एक रहस्य है। इसको ठीक-ठीक समझने के लिए हमको वहाँ जाना पड़ेगा जो इसके ऊपर है। इसी से लिपटकर हम इसे समझ नहीं सकते।

जड़ मिट्टी को कुरेदकर हम पृथ्वी का रहस्य नहीं समझ सकते। प्राण में जाकर इसको थोड़ा ज्यादा समझते हैं। प्राण के ऊपर 'मन' में जाकर हम प्राण और शरीर, दोनों को थोड़ा अधिक समझते हैं, लेकिन इससे भी ऊपर 'आत्मा' में जाकर हम सबको समझ सकते हैं। आत्मा ही कुंजी है, जो रहस्य का दरवाजा खोल देती है।

दिनकर जब पैदा हुए तब भारत में अंग्रेजों का राज सुदृढ़ रूप से स्थापित था। विश्व इतिहास की यह एक विचित्र घटना थी। भारत की एक अंशमात्र भूमि में रहने वाले थोड़े से लोग अब हमारे शासक थे और हमारी जीवनयात्रा उन लोगों के इशारे पर चलने के लिए बाध्य थी। एक जाति जिसकी सभ्यता की स्वरलिपि वेदों में अंकित थी, वाल्मीकि और व्यास जैसे कवियों ने जिसके जीवन का महागान किया था, वह अभी वहीं निष्पन्न पड़ी हुई थी। भारत के इसी पतनोन्मुख, दुर्योगकाल में दिनकर पैदा हुए थे। भूचाल भारत का ही नहीं, विश्व का भी धरातल हिला रहा था। इस काल के दो निश्चित स्तम्भ पैदा हुए। भारत में महात्मा गांधी और पश्चिम में हिटलर। गांधी के पास अहिंसा की छाया थी, क्योंकि वस्तुतः अहिंसा की शक्ति जानने के लिए मनुष्य को जिस चतुर्थ आयाम पर चढ़ना होता है, उससे दुनिया आज भी बहुत दूर थी।

सारा मानव समाज एक ऊहापोह की स्थिति में था। दिनकर अपनी स्थिति का परिचय देते हुए कहते हैं :

शारदे! विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं,
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर मैं;
संतप्त विश्व के लिए खोजते छाया,
आशा में था इतिहास-लोक तक आया।
पर हाय, यहाँ भी धधक रहा है अम्बर है,
उड़ रही पवन में, दाहक लोल लहर है।

कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली ने सभ्यता को पूरी तरह फूँक डाला है, भारत को इस प्रकार जलाकर छोड़ दिया है कि विजयी, पराजित में आज कोई भेद नहीं रह गया है। दुर्योधन मर गया है, युधिष्ठिर विजयी होकर निष्प्राण तथा सपनों की मरुभूमि में भटक रहे हैं। कुरुक्षेत्र की व्यालिनी जिस विजयमाल को पहनाने के लिए विजेता को ढूँढ़ रही है, कवि की आत्मा द्वापर में अटकी हुई लगती है। बुद्धि के धारातल से बोलती हुई कवि की आत्मा को हम और स्पष्ट वाणी बोलते हुए नहीं सुन सकते। क्योंकि मानव की आत्मा है जो काव्य की उच्चतम वाणी को मूर्तरूप देती है। जब इसकी व्याप्ति केवल बाहर के जीवन से होती है तो बड़े कवि वे होते हैं जो मानव के सामान्य जीवन और कर्म को, उसके परिवेश को उसके लिए महान, शुद्ध और सद्भावनायुक्त बनाते हैं। यदि यह महान आत्मा बुद्धि के माध्यम से काम कर रही होती है तो महान कवि वे होते हैं, जिनके विचार गम्भीर और चामत्कारिक होते हैं, जो मानव के कर्म और सत्ता की, उसके विचार और सपनों की, विश्व और विश्व-प्रकृति की सृजनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। लेकिन आत्मा जब अपनी अन्तर्दृष्टि, संकल्प और संबोधि के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो इससे भी गंभीर, इससे भी व्यापक वस्तुओं का गान कवि-कण्ठ में झंकृत होने लगता है। वस्तुओं के तब अन्यतम भाव, प्रकृति की अन्तस् चेतना, मानव के गुहाशय में छिपी अन्तरात्मा की गंभीरतम गतियाँ, जीवन के रहस्य को प्रकट करने वाला सत्य, विश्वव्यापी जीवन का आनन्द, सौंदर्य और शक्ति; और आत्मानुभूति और आत्म-सृष्टि का अशेष प्रसार ही तब काव्य बन जाता है। कविता का यह धरातल जिस ऊँचाई से गोचर होगा, वह आज भी मानव की चेतना को एक दूर का आयाम ही दे सकता है। हम बाल्मीकि और व्यास जैसे देवतुल्य कवियों

में इसकी क्वचित् किरणों को तो देख ही सकते हैं, लेकिन इसका प्रसारित रूप तो हमें भविष्य ही दिखला सकेगा, जिसका एक व्यापक रूप हमें श्री अरविन्द रचित 'सावित्री महाकाव्य' में मिलता है।

कवि दिनकर की गहरी काव्य चिन्ता का ही प्रभाव यह लगता है कि वे विशेष रूप से श्री अरविन्द की ओर आकृष्ट हुए। सबसे पहले तो मैंने उन्हें उन दिनों देखा जब वे दूसरे विश्व युद्ध के काल में, विशेषतः भारत की राजनीतिक उथल-पुथल के काल में पटना में कई स्थानों पर अपनी ओजस्विनी कविता खुले कंठ से सुनाया करते थे। मैं तब पटना कॉलेज में स्नातक व स्नातकोत्तर का छात्र था। पीछे उनसे व्यक्तिगत परिचय तब हुआ, जब मैं श्री अरविन्द के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हुआ। दिनकर जी कहा करते थे कि श्री अरविन्द के प्रति अनुरक्ति का मतलब है कि मनुष्य की चिन्ता का धरातल थोड़ा ऊँचा है। श्री अरविन्द के देहत्याग के बाद 'श्री अरविन्द की प्रेरणा' नाम से एक पुस्तक के लेखन में हमारा और दिनकर जी का साथ हुआ। दिनकर जी ने साहित्य के ऊपर लिखा और अन्यान्य अंश डॉ. इन्द्रसेन, पं. भुवनेश्वर मिश्र माधव और मैंने लिखा था। दिनकर जी तब तक आश्रम नहीं आये थे। वे गंगाबाबू (बाबू गंगा शरण सिंह जी) के मित्र थे जो भारतीय सोशलिस्ट पार्टी के एक प्रमुख लीडर थे। गंगा बाबू और दिनकर जी आश्रम आने पर हमारे घर पर ठहरा भी करते थे। दिनकर महर्षि रमण को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और आने पर वहाँ वे उनके आश्रम, जो पांडिचेरी से करीब सौ किलोमीटर की दूरी पर है, जरूर जाया करते थे।

तेजोमय कविता के पुंज दिनकर हृदय से बालक के समान सरल और निरीह थे। 1973 में श्रीमाता जी के देहत्याग के बाद जब मैं उनसे मिला था तो पटना में उन्होंने मुझसे बिलखते हुए कहा - शर्मा जी मैं माताजी के चले जाने से टूट गया हूँ। भाव-भावनाओं की ऊँचाई पर रहने वाला बालसुलभ सरलता से युक्त वैसा कवि दिनकर ही हो सकता है।

हमारे दिनकर चाचा महेन्द्र कुमार बेनीपुरी

महान साहित्यकार, स्वतंत्रता सेनानी, समाजवादी चिंतक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के परिवार में उनके सबसे छोटे पुत्र के रूप में जन्म लेने के कारण मेरा बचपन, हमारी किशोरावस्था तथा कुछ हद तक जवानी भी क्रांतिकारियों, लेखकों, कवियों और राजनीतिज्ञों के सानिध्य में ही बीती। दिनकर चाचा हमारे परिवार के एक अभिन्न अंग थे। बाबूजी से उनकी अपार अंतरंगता थी।

अभी भी उनका गोरा चेहरा, लम्बी काया और हँसमुख व्यवहार याद है। जब हम बच्चे थे, हमें प्रतीक्षा रहती थी कि उनके आने की। जब भी आते, कवितायें सुनाया करते— मिर्च का मजा, आजादी का जश्न आदि कवितायें हमने उनके मुँह से सुनीं और उनके साथ उनका मजा लिया था। चीनी आक्रमण के बाद जब वे 'परशुराम की प्रतीक्षा' की पांडुलिपि लेकर बाबूजी के पास आये और उन्हें सुनाया तो बाबूजी ने बड़ाई करते हुए कहा था कि लगता है मेरा दिनकर फिर पुराना क्रांतिकारी दिनकर हो गया है।

बचपन की एक शैतानी जिसके कारण मुझे बाबूजी का थप्पड़ खाना पड़ा था, अभी भी याद है। दिनकर चाचा जब भी हमारे घर आते, मुझे देखते ही कहते कहिए बेटा परमबाज राय! इस वाक्य का अर्थ न तो उस समय जान पाया था और न तो आज तक जान सका हूँ। एक बार मैंने भर कुल्ला पीक उनके कुर्ते पर फेंक दी। पहली बार बाबूजी ने मुझे मारा था। बाद में भाभी ने कैसे-कैसे कर उनके कुर्ते का दाग छुड़ाया था।

आई.एस.सी. पढ़ने में राँची, फिर आगे की पढ़ाई करने मुजफ्फरनगर गया। इसलिए पटना से ही नहीं, दिनकर चाचा से भी मेरी दूरी बढ़ती गयी। बाबूजी का साहित्यिक अवदान दिनकर चाचा कभी नहीं भूले थे। उन्होंने लिखा है: नाम

का दिनकर मैं था, असली सूर्य बेनीपुरी थे। अगर बेनीपुरी नहीं होते तो दिनकर भी नहीं होता।

जब दिनकर चाचा नवगठित भगलपुर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए, तब पटना डेरे पर आये थे। बाबूजी ने उनसे कहा, एस.एस.सी. की परीक्षा मैंने प्रथम 432म श्रेणी में उत्तीर्ण की है। वे गद्गद् हो गए। उन्होंने बाबूजी से कहा था कि मक्कू (मेरा घर का नाम) को मैं भागलपुर ले जा रहा हूँ, व्याख्याता में नियुक्ति करने। मैं भौचक! फिर मैंने उन्हें बताया कि मैंने मेडिकल की पढ़ाई बाबूजी की इच्छा और बेनीपुर की सेवा के लिए छोड़ी थी। मैं मुजफ्फरपुर में ही प्रोफेसरी करूँगा। वे बहुत खुश हुए थे कि तू पूरा पितृभक्त है।

एक बार मेरे ममेरे भाई जमुना भैया ने दिनकर चाचा की ही कविता कलम आज उनकी जय बोल की पैरोडी सुना दी, जो उन्हें बहुत नागवार लगी। पहली बार मैंने उनका गुस्सा देखा था।

दिनकर चाचा को मैंने दो बार रोते हुए भी देखा था। पहली बार पारिवारिक कलह से ऊबकर बाबूजी के सामने रोये थे, दूसरी बार बाबूजी के दिवंगत होने पर अपनी पोती की शादी पर पाँच लाख रुपयों की माँग पर दुखी होकर। दिनकर चाचा से मैंने बाबूजी पर छोटी-सी कविता बनाकर देने का आग्रह किया था, जो उन्होंने झट स्वीकार कद लिया। कागज माँगा और तुरंत अपनी कलम से लिखा था—

जीवन से हम उतना प्यार नहीं करते
जितना मौत से डरते हैं।
जीने वालों का मोल थोड़ा होता है,
कीमती वो हैं जो मर जाते हैं।
जीवन ऊपर-ऊपर आनंद भोगता,
गहरी व्यथा केवल मृत्यु जगाती है।
बच्चन के साथ मैं हँसता-खेतला हूँ
याद मुझे बेनीपुरी की आती है।

बाद में यही लघु कविता या श्रद्धांजलि, आप जो कह लें, कादम्बिनी में छपी। ऐसे थे, हमारे प्यारे दिनकर चाचा!